आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

स्व० आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज की जन्म-शताब्दी
वर्ष के उपलक्ष्य में

जैन योग : सिद्धान्त और साधना

['जैनागमों में अष्टांग योग' का परिष्कृत व परिवर्द्धित संस्करण]

लेखक
जैनधर्म दिवाकर, जैन आगम रत्नाकर
पूज्य आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज

सम्प्रेरक-मार्गदर्शक
शास्त्र-विशारद, पंडितरत्न
श्री हेमचन्द्रजी महाराज के सुशिष्य
नवयुगसुधारक, जैन विभूषण
मुनि श्री पदमचन्द्जी महाराज 'भंडारी'

प्रधान सम्पादक
प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि
सहयोगी सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
डॉ० ब्रिजमोहन जैन

प्रकाशक
आत्म ज्ञानपीठ, मानसा मन्डी (पंजाब)

☐ जैन योग : सिद्धान्त और साधना

[जैनागमो मे अष्टाग योग का परिवर्द्धित सस्करण]

☐ प्रथमावृत्ति :

वीर निर्वाण सवत् २५०९
वि० सं० २०४० श्रावण
ई० सन् १९८३ अगस्त

☐ प्रकाशक :

आत्म ज्ञानपीठ
मानसा मडी (पंजाव)

☐ मुद्रक :

श्रीचन्द सुराना के निर्देशन मे
एन० के० प्रिंटर्स, आगरा

☐ प्राप्तिस्थान :

भारतीय विद्या प्रकाशन
I, U.B. जवाहरनगर, वेंगलो रोड
दिल्ली-110007

☐ मूल्य :

साधारण सस्करण ५०) रुपया मात्र
पुस्तकालय संस्करण ८०) रुपया मात्र

Published at the auspicious occasion of the birth centenary of
Rev. Acharya Sri Atmaramji Maharaj

JAIN YOGA : THEORY & PRACTICE

[Thoroughly revised and enlarged edition of 'Jain Agamo me Astang Yoga']

Writer

Jain Dharm Divakar, Jain Agam Ratnakar

Rev. Acharya Sri Atmaramji Maharaj

Promotor & Guide

Shastra Visharad, Pandit-ratna

Sri Hemchandraji Maharaj's

disciple

Navayug sudharak, Jain-vibhushana

Muni Sri Padam Chandji Maharaj 'Bhandari'

Chief Editor

Pravachan Bhusana Sri Amar Muni

Asstt. Editors

Srichand Surana 'Saras'

Dr. Brij Mohan Jain

Publishers

Atma Gyanpitha, Mansa Mandi (Punjab)

□ **Jain Yoga : Theory & Practice**

[A thoroughly revised and enlarged edition of 'Jain Agamo me Astang Yoga']

□ **Publishers :**

Atma Gyanpitha
Mansa Mandi (Punjab)

□ **First Edition :**

Vir Nirvana Samvata 2509
August, 1983
Vikram Samvat 2040 Sravana

□ **Printing and designing supervision**
Srichand Surana 'Saras'

□ **Printers :**
N. K. Printers, Agra

□ **Contact**
Bhartiya Vidya Prakashan
I. U. B. Jawahar Nagar, Bunglow Road
Delhi-110007

□ **Price :**

Rs. 50/- only
Library Edition Rs. 80/- only

जिन्होने,

श्रद्धेय प्रज्ञापुरुष, जैन धर्मदिवाकर

आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज

के जीवन में,

ज्ञान का दिव्य आलोक जगाया,

उन

परम श्रद्धेय, पंजाब प्रान्तीय पूज्य

आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज की

पावन स्मृति में........

—अमरमुनि

प्रकाशकीय

स्व० आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज का जन्म शताब्दी वर्ष इस साल सम्पूर्ण भारत मे मनाया जा रहा है। आचार्यश्री जैनजगत् के महान चमकते प्रभापुञ्ज/सूर्य थे जिनके दिव्य ज्ञान-दर्शन-चारित्र के आलोक से भारत के कौने-कौने मे आलोक फैला, जागृति आई।

आचार्यश्री जी ने जैन धर्म एव साहित्य की महान सेवाएँ की, जिनका सम्पूर्ण जैन समाज को आज भी गौरव है। आचार्यश्री की कुछ महान कृतियाँ तो आज भी वेजोड है। गतवर्ष हमने 'जैन तत्त्व कलिका' नाम से आचार्यश्री की एक महान कृति प्रकाशित की थी। भारत के सुदूर क्षेत्रो मे सर्वत्र उसका स्वागत हुआ। विद्वानो और जिज्ञासु पाठको के लिए वह अतीव उपयोगी सिद्ध हुई। उस एक ही पुस्तक मे सपूर्ण जैन धर्म, दर्शन का सार समाया हुआ है।

अब हम प्रस्तुत कर रहे हैं—आचार्यश्री की एक अन्य कृति, इस पुस्तक का मूल नाम है—"जैनागमो मे अष्टाग योग"। यद्यपि यह कृति सूत्र रूप मे लिखी गई है, सक्षिप्त मे जैन आगमो के आधार पर योगमार्ग का विवेचन करते हुए पातजल योगसूत्र के साथ इसकी तुलना की गई है। सक्षिप्त होने से पाठको को समझने मे कुछ कठिन तो जरूर है, किन्तु सार रूप मे योगमार्ग का पूरा वर्णन इसमे समाया हुआ है। इस पुस्तक पर आचार्यश्री की स्वय की प्रस्तावना—उपोद्-घात है, जो बडी ही खोजपूर्ण और गम्भीर है। इस प्रस्तावना मे सपूर्ण पुस्तक की आत्मा छिपी है। यह प्रस्तावना इसी पुस्तक मे छप रही है।

आज के युग मे जहाँ अन्य क्षेत्रो मे वैज्ञानिक शोधे हो रही हैं, योग के क्षेत्र मे भी नये-नये अनुसन्धान और प्रयोग हो रहे है और योगविद्या का आज बहुत ही विस्तार हो रहा है। इसलिए यह आवश्यक था कि आचार्यश्री की उक्त कृति को आज की खोजो के साथ सतुलित करते हुए विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया जाय जिससे सर्वसाधारण योग के विषय को समझ सके और उस पर आचरण कर सके।

नवयुग सुधारक भडारी श्री पदमचन्द्र जी महाराज आज आत्म-परिवार के प्रमुख सन्त है। आप आचार्य देव के प्रपौत्र शिष्य हैं। आगमो के गभीर ज्ञाता, आचार्यश्री के शिष्य रत्न प० श्री हेमचन्द्र जी महाराज के आप सुशिष्य हैं। आप ने बडी ही श्रद्धा और विवेक के साथ स्व० आचार्यश्री जी एवं पंडितरत्न श्री हेमचन्द्र जी महाराज की सेवा की। गुरुदेव का आशीर्वाद प्राप्त किया। इस वर्ष प० श्री

हेमचन्द्र जी महाराज का भी स्वर्गवास हो गया। किन्तु उनकी विमल कीर्ति सुशिष्य के रूप मे आज भी जीवित है। श्री भडारी जी महाराज की सद्प्रेरणा से उनके विद्वान शिष्य प्रवचनभूपण, हरियाणा केसरी श्री अमर मुनि जी महाराज ने स्व० आचार्य सम्राट् के साहित्य का पुनरुद्धार करने का बीडा उठाया है।

'जैन तत्त्व कलिका' के रूप मे एक ग्रन्थ पिछले वर्ष प्रकाशित किया गया। अब यह प्रस्तुत है—

जैन योग. सिद्धान्त और साधना।

प्रवचनभूपण श्री अमर मुनि जी महाराज ने स्वय अथक परिश्रम करके तथा विद्वान सपादको का सहयोग प्राप्त करके आचार्यश्री की कृति को एक नया और व्यापक रूप प्रदान किया है। जो हजारो पाठको के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ के सम्पादन मे प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्द्र जी सुराना एव डा० ब्रिज मोहन जी जैन का सहयोग प्राप्त हुआ है। साथ ही प्रकाशन मे दानवीर गुरु-भक्त सेठ दीवानचन्दजी जैन (गीदडवाहा) तथा धर्मप्रेमी गुरुभक्त दानवीर श्री धन-पतराय जी जैन (श्री गगानगर) ने अर्थ सहयोग प्रदान किया है, इसलिए सस्था की तरफ से दोनो उदार सहयोगियो को शतश धन्यवाद।

हमे आशा है, आज का युग इस प्रकार के ग्रन्थो से विशेष लाभ उठाकर उपकृत होगा।

भवदीय
हाकमचन्द जैन
मत्री—आत्म ज्ञानपीठ मानसा

संपादकीय

भौतिक विद्या के क्षेत्र में वैज्ञानिको ने अणु का विखण्डन करके अद्भुत और असीम शक्ति का स्रोत प्राप्त कर लिया । अणु का विखण्डन करके ही परमाणु बम और उद्जन बम जैसे शक्तिशाली बमो का निर्माण हुआ और जेट एव राकेट जैसे तीव्र गति वाले यान सभव हुए ।

आत्म-विद्या के क्षेत्र मे ज्ञानियों ने आत्मा का विखण्डन नही, किन्तु जागरण करके इससे भी अनन्त गुनी अद्भुत और आश्चर्यकारी शक्ति का स्रोत प्राप्त किया है । अणु पुद्गल है, जड है । आत्मा चेतन है । जड से चेतन मे अनन्त गुनी शक्ति है । अणु की असीम शक्ति का पता लगाने वाले वैज्ञानिक मानव के मस्तिष्क की शक्ति का भी अभी तक पूर्ण रहस्य नही जान सके । इसका मतलब यही हुआ कि अणु से भी आत्मा मे अनन्त शक्ति का रहस्य छिपा है । मनुष्य ज्यो-ज्यो साधना व प्रयत्न करके आत्म-शक्तियो की जानकारी प्राप्त कर रहा है त्यो-त्यो उसके सामने आश्चर्यो और अजीबो-गरीब किस्सो का ससार प्रकट होता जा रहा है ।

आत्मा की इस असीम गुप्त शक्ति को जानने/प्राप्त करने का मार्ग क्या है ?

योग !

मन, वचन, कर्म का आत्मा के साथ मिल जाना और आत्मा के अनुकूल चलना योग है । मनुष्य की भौतिक ऊर्जा जब आध्यात्मिक ऊर्जा के साथ मिल जाती है तो अनन्त शक्ति का रहस्य खुलने लगता है । यह मिलन ही योग है ।

विज्ञान प्रयोग मे विश्वास करता है, अध्यात्म 'योग' मे ।

विज्ञान शक्ति की खोज करता है, अध्यात्म शान्ति की ।

असीम शक्ति प्राप्त करके भी आज मनुष्य अशान्त है, दुखी है, और भयाक्रान्त है । इसलिए शक्ति की खोज छोडकर वह शान्ति की खोज करना चाहता है । योग, शान्ति की खोज है ।

मन की दुर्भावनाएँ, भय, आशका, लालसा, तनाव, चिन्ता इन सबसे मनुष्य आज पीडित है, दुखी है, और छटपटा रहा है कि इनसे छुटकारा मिले, शान्ति मिले । इसलिए वह शान्ति की खोज कर रहा है ।

वास्तव मे योगविद्या, जिसे जैन आगम अध्यात्मयोग (अज्झप्पयोग) कहते है और गीता इसे 'अध्यात्मविद्या' कहती है । अपने से अपने को जानने/जगाने की विद्या है । यह ससार की प्राचीनतम विद्या है, और इसकी शोध एव साधना का सम्पूर्ण श्रेय हमारी आर्यभूमि भारत को ही है । भारत मे अगणित वर्षों पूर्व योग-विद्या का विकास ही नही, किन्तु योग की सम्पूर्ण साधना का मार्ग भी प्रशस्त हो

चुका था। आज तो उस विद्या का बूंदभर ज्ञान ही हमारे पास रहा है। और हम उसको बहुत कुछ समझ रहे है····! अस्तु····

'योग' जैन, बौद्ध या वैदिक नही है, न हिन्दू मुस्लिम है, न पाश्चात्य-पौर्वात्य है, योग तो योग है, आत्मविद्या है, किन्तु फिर भी 'योग' के साथ सम्प्रदाय या परम्परा का नाम प्राय जुडा हुआ है। 'जैन योग' बौद्ध योग, वैदिक योग आदि नाम प्रचलित हैं। इसका कारण योग-साधना की प्रचलित मान्यताएँ तथा अनुभूत विधिया है। योग का लक्ष्य प्राय समान होते हुए भी साधनाक्रम एव विधि मे काफी रहता है। पातजल आदि हिन्दू ग्रन्थो मे 'योग' साधना मे हठयोग, प्राणायाम आदि अन्तर पर जहाँ बहुत बल दिया है, वहाँ जैन ग्रन्थो मे—तपोयोग, भावनायोग तथा ध्यान-साधना पर ही योग की नीव खडी हुई है। बौद्धग्रन्थो मे भी 'ध्यान' साधना पर ही योग का विशेष बल है। श्रमण परम्परा बाह्य-शुद्धि की अपेक्षा अन्त शुद्धि पर अधिक बल देती है, इसलिए 'योगमार्ग' भी यहाँ अन्तर्मुखी-साधना का ही एक पर्याय बन गया है। योग सम्बन्धी इन धारणाओ और परम्पराओ के कारण ही 'योग' शब्द के साथ 'जैन योग' विशेषण जोडा गया है, जिसके पीछे एक विशाल सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि है। मैं आशा करता हूँ, पाठक इस पृष्ठभूमि को समझ लेंगे तो उनके मन मे विशेषण के प्रति किसी प्रकार की भ्रान्ति नही होगी।

आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व जैन परम्परा के बहुश्रुत विद्वान, गभीर विचारक श्रद्धेय आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने 'योग' पर एक विशिष्ट चिन्तन-परक ग्रन्थ तैयार किया था। उस समय आम लोगो मे यह एक भ्रान्त धारणा बनी हुई थी कि 'योगविद्या' हिन्दू या वैदिक धर्म की ही मुख्य शाखा है, जैन धर्म को 'योग' नाम से कुछ लेना-देना नही है। इस भ्रान्ति का कारण साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह या अज्ञान ही माना जा सकता है। श्रद्धेय आचार्यश्री ने इस जन भ्रान्ति को तोडने का एक ऐतिहासिक प्रयास किया 'जैनागमो मे अष्टाग योग' नामक कृति रचकर।

आचार्यश्री ने इस छोटी-सी पुस्तक मे जैन आगम, उनके परवर्ती टीका ग्रन्थ तथा हरिभद्र सूरि के योग सम्बन्धी चार महान ग्रन्थ, आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव आचार्य हेमचन्द्र कृत योगशास्त्र तथा उपाध्याय यशोविजय जी कृत योग दर्शन की व्याख्याएँ आदि के सन्दर्भ देकर पातजल योग के साथ जैन परम्परा सम्मत योग का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस गहन श्रमसाध्य और शोधपूर्ण पुस्तक मे आचार्यश्री ने वडी उदार तथा व्यापक दृष्टि से योग के आठो-अगो का समन्वय-प्रधान विवेचन-विश्लेपण करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योग सम्बन्धी जो सिद्धान्त पातजल योगदर्शन मे विहित है वे सभी सिद्धान्त कुछ शब्दान्तर और कुछ अर्थान्तर के साथ जैन आगम और उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थों मे विद्यमान है। इस प्रकार 'योगविद्या' पर किसी एक सम्प्रदाय की मुद्रा अकित करने का दुस्साहस

व्यर्थ तथा असंगत है। उस युग मे इस कृति का व्यापक प्रसार हुआ और योग सम्बन्धी धारणाओ मे समन्वय सेतु तैयार हुआ।

आज ५० वर्ष के अन्तराल मे परिस्थितियाँ काफी बदल गईं। सम्प्रदायगत अभिनिवेश कम हुए है, लोगो मे समन्वय व व्यापक दृष्टि से सोचने की आदत बनी है। फिर नई वैज्ञानिक खोजो ने भी योग की अनेक साधनाओ को विज्ञान-सम्मत सिद्ध कर दिया है, और शरीर तथा मन की, आत्मा की असीम शक्ति के विषय मे अनेक प्रयोग करके उसे प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया है।

प्रस्तुत पुस्तक वास्तव मे आचार्यश्री आत्माराम जी महाराज की 'जैनागमो मे अष्टाग योग' पुस्तक का ही परिष्कृत स्वरूप है। हालाकि उसमे बहुत सक्षेप में योगविद्या सम्बन्धी सूत्र दिये हैं, मैंने उनको विस्तार के साथ, सरल और व्यापक दृष्टि से प्रस्तुत कर दिया है। साथ ही इस अर्द्ध शताब्दी मे हुई ज्ञान-विज्ञान की प्रगति को ध्यान मे रखकर योग सम्बन्धी नये प्रयोग, विवेचन और अनुसन्धान को भी इस पुस्तक मे स्थान दिया है। फिर भी इसका मूल आधार वही कृति है, और मेरा विचार नई कृति तैयार न करके उसे ही नया स्वरूप प्रदान करने का था, ताकि पाठक सरलता के साथ योगविद्या को समझ सके, ग्रहण कर सके और जीवन में आनन्द तथा शान्ति की प्राप्ति कर सके।

शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, परा मनोविज्ञान तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं पर हुए नये-नये प्रयोगो की चर्चा से मैंने इस पुस्तक को आम आदमी के लिए उपयोगी स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की है, मैं कितना सफल हुआ हूँ यह पाठक बतायेंगे।

मेरे इस प्रयास के प्रेरणास्रोत तो उपप्रवर्तक नवयुग सुधारक मेरे श्रद्धेय गुरुदेव श्री पदमचन्द्र जी महाराज ही है। उनकी प्रेरणा से ही मैं इस क्षेत्र मे कुछ कर सका हूँ। जो कुछ हूँ, वह उन्ही का उपकार मानता हूँ। साथ ही सेवाभावी श्री सुव्रत मुनि, श्री सुयश मुनि तथा सुयोग्य मुनि की सेवा और साहचर्य को भी स्मरण करता हूँ जिनके कारण मैं आत्म-समाधि का अनुभव कर रहा हूँ।

मेरे प्रस्तुत कार्य मे प्रसिद्ध विद्वान श्रीचन्द जी सुराना एव डा० ब्रिजमोहनजी जैन सहयोगी रहे है अत. मैं उनके सहयोग को आत्मीय रूप प्रदान करता हुआ औपचारिकता से दूर रहकर कृतज्ञ भाव से लेता हूँ।

मुझे विश्वास है परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट की जन्म शताब्दी वर्ष के प्रसग पर उनकी यह कृति हमारी श्रद्धा-भक्ति का प्रतीक भी होगी और पाठको को आचार्य श्री की स्मृति कराती रहेगी।

जैन स्थानक
अशोक विहार, देहली-५२

—अमर मुनि

प्रज्ञा-पुरुष आचार्यश्री आत्माराम जी महाराज

परम श्रद्धेय आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज एक युगपुरुष थे। सम्पूर्ण जैन समाज मे वे विशाल हृदय के प्रज्ञा/मेधा के प्रज्वलित दीप की भाति प्रकाशकर थे। उनके जीवन मे जैन धर्म, दर्शन; सस्कृति और सभ्यता साकार हुए थे। ऐसा लगता था कि उनका अणु-अणु, रोम-रोम ज्ञानमय था।

बातचीत मे वे बहुत ही पटु, साथ ही विनोदप्रिय थे। अनुशासन में दृढ व दक्ष भी थे, साथ ही स्वय अनुशासन का पालन करने के कठोर पक्षधर थे। आचार व्यवहार मे सात्विक अति सहज होते हुए भी वे अपनी मर्यादा एव नियमो के प्रति बडे जागरूक व अति दृढ थे।

संस्कृत-प्राकृत-पालि जैसी प्राचीन भाषाओ पर आपका असाधारण अधिकार था। जैन आगमो पर सरल हिन्दी मे उच्चस्तरीय टीकाएँ लिखकर आपने प्राचीन आगम ज्ञान को युग की भाषा प्रदान की।

आपका जन्म वि० स० १६३६ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को जालन्धर जिला के राहो ग्राम मे हुआ था।

क्षत्रिय कुल (चोपडावंश) के सेठ मनसाराम जी आपके पिता एव श्री परमेश्वरी देवी माता थी।

बचपन मे माता-पिता का साया उठ गया। सघर्ष एव कठिनाइयो मे बचपन बीता। लुधियाना मे जैनाचार्य श्री मोतीराम जी महाराज के चरणो मे अचानक पहुँच गये। बस, पारस से भेंट हो गई तो सोना बनते क्या देर! वैराग्य एव विवेक के सस्कार जगे और जैन श्रमण बनने का सुदृढ सकल्प जग गया।

वि० स० १६५१ आषाढ शुक्ला ५ छतबनूड (पटियाला) मे श्रद्धेय श्री सालिगराम जी महाराज के सान्निध्य मे श्रमण दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार दीक्षा-गुरु बने श्री सालिगराम जी महाराज तथा विद्यागुरु बने आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज।

प्रखर प्रतिभा, तीव्र स्मरण शक्ति और दृढ अध्यवसाय के बल पर सस्कृत-प्राकृत भाषा पर अधिकार प्राप्त किया।

जैन आगम, टीका, भाष्य तथा वेद, उपनिषद, महाभारत, गीता, स्मृति, आदि धर्मग्रन्थो का गहन तुलनात्मक अध्ययन कर प्रगाढ पाण्डित्य प्राप्त किया।

प्रज्ञा-प्रदीप जैनागमरत्नाकर

स्व० आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज

जन्म : वि० सं० १९३९
भाद्रपद सुदि १२

स्वर्गवास : सन्
३१ जनवरी

वि० सं० १९९९ मे पंजाव प्रान्त के उपाध्याय वने। वि. सं. २००३ मे पजाव संघ के आचार्य और फिर अपनी वहुमुखी योग्यता एव लोकप्रियता के कारण वि सं. २००९ अक्षय तृतीया को श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमणसघ के प्रथम आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

वि. सं. २०१८ (ई. सन १९६१) मे शारीरिक अस्वस्थता ने जोर पकडा और ३१ जनवरी १९६१ को समता एव समाधि पूर्वक नश्वर शरीर का त्याग किया।

आपश्री की साधना वड़ी उच्चकोटि की व चमत्कारी थी। ज्ञान तो उससे भी प्रचण्ड चमत्कारी था। शताब्दियो मे ही ऐसा कोई महान् आचार्य पैदा होता है, जो धर्म एव समाज, राष्ट्र एवं विश्व सभी का आध्यात्मिक उत्कर्ष करने मे समर्थ होता है।

उस युगपुरुष महान आचार्य को शतशत नमन !

—विजयमुनि शास्त्री

□□

मंगल-भावना

जैन धर्म दिवाकर स्व. आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज ज्ञान एवं क्रिया के मूर्तिमन्त स्वरूप थे। जैन आगमो के गम्भीर ज्ञान के साथ ही भारतीय विद्या-क्षेत्र मे उनकी गहरी पेठ थी। साहित्य के विविध क्षेत्रो मे उन्होने जो नव सर्जन कर ज्ञान का आलोक फैलाया, वह युग-युग तक स्मरणीय रहेगा।

स्व. आचार्य श्री जी की एक अमर कृति है "जैनागमो मे अष्टाग योग"। इस लघु पुस्तक मे वडी ही सुन्दर व सारपूर्ण शैली मे भारतीय योग विद्या पर तुलनात्मक रूप से जो चिन्तन प्रस्तुत किया गया है वह पढने मे आज भी नवीन और मननीय लगता है—यही उनकी गभीर विद्वत्ता की प्रत्यक्ष परिचायक है।

वर्तमान मे योग का विषय काफी व्यापक एव जीवनस्पर्शी हो गया है। पाठको मे योगविद्या के प्रति रुचि वढी है। इस दृष्टि को ध्यान मे रखकर भडारी श्री पदमचन्द जी महाराज के सुशिष्य श्री अमर मुनि जी ने उक्त पुस्तक का जो नवीन परिवर्द्धित एव परिष्कृत सस्करण तैयार किया है, वह वास्तव मे ही सर्व-जनोपयोगी सिद्ध होगा और श्रद्धेय आचार्य श्री के प्रति एक सच्ची श्रद्धाञ्जलि माना जायेगा....

पचवटी, नासिक

आचार्य आनन्द ऋषि

□□□

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज अपने युग के महान् पुरुष थे। जैन आगमो के रहस्य वेत्ता और व्याख्याकार थे। वे समन्वय-मूलक विचारो के पक्षधर थे। अतः उनकी ज्ञान रश्मिया सदा ही समता एव समन्वय का आलोक फैलाती रही।

आचार्यश्री ज्ञानयोगी तो थे ही, किन्तु सच्चे कर्मयोगी भी थे। वे उच्च स्तर के साधक थे। योग विषय के पडित ही नही, किंतु वे स्वय योगी थे। इसलिए उनकी वाणी तथा लेखनी मे आकर्षण तथा जीवनस्पर्शिता थी। आचार्यश्री का साहित्य आज भी उतना ही उपयोगी व रोचक लगता है।

आचार्य श्री की एक सुन्दर कृति है—

जैन आगमो मे अष्टागयोग'

पजाव के प्रसिद्ध सन्त तथा आचार्य श्री के प्रपौत्र शिष्य उपप्रवर्तक भडारी श्री पदमचद जी महाराज ने श्री अमर मुनि जी को प्रेरित कर आचार्यश्री की उक्त कृति का नवीन शैली मे जो परिष्कृत-परिवर्द्धित स्वरूप तैयार करवाया है, वह जन-जन के लिए उपयोगी तथा मार्गदर्शक वनेगा, ऐसा विश्वास है।

श्री अमर मुनि ने जी अत्यधिक श्रम करके 'योग' पर जो इतना सुन्दर लेखन किया है, वह स्व. आचार्यश्री की गरिमा के अनुरूप ही है। मेरी हार्दिक मगल कामना के साथ वधाई।

मेडता सिटी

—मुनि मिश्रीमल

(श्रमणसूर्य प्रवर्तक श्री मरुधर केसरी जी महाराज)

☐ शुभाशंसा ☐

भारतीय साधना-क्षेत्र मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—योग के ये प्रसिद्ध आठ अग हैं, जिनमे दैहिक परिष्कार के साथ चित्तवृत्तियो की पवित्रता, एकाग्रता एव निरोध का एक सुव्यवस्थित अभ्यासक्रम है। योग के इन आठ अगो मे अंतिम चार का अन्तर्जीवन—चिन्तन, मनन, ध्यान, निदिध्यासन आदि से सम्बन्ध है। मूलत. यह जीवन-शोधन का मार्ग है, असाम्प्रदायिक एवं सार्वजनीन है। यही कारण है, वैदिक परंपरा के साथ-साथ जैन तथा बौद्ध परंपरा मे भी जैन योग एव बौद्ध योग के रूप मे उन परपराओ के विशिष्ट चिन्तन और अनुभूति-प्रसूत अभ्यासक्रम के साथ यह विकसित हुआ।

योग शब्द जिस अर्थ मे महर्षि पतञ्जलि द्वारा गृहीत है, प्राचीन जैन वाङ्मय मे, आगम-साहित्य मे उसका उस अर्थ मे प्रचलन नही रहा। जैन दर्शन मे योग शब्द कायिक, वाचिक एव मानसिक प्रवृत्तियो के अर्थ मे है। जब साधना जगत् मे चित्त वृत्तियो के परिष्कार, अन्तर्जीवन के सम्मार्जन, सशोधन, मन के नियमन आदि अर्थों मे योग शब्द का प्रयोग बहुव्याप्त हो गया, तब जैन आचार्यों ने भी जैनदर्शन सम्मत अध्यात्मसाधना क्रम को जैन योग के रूप मे एक नया मोड दिया। अनेकानेक विषयो के महान् विद्वान् आचार्य हरिभद्र जैन जगत् के प्रथम आचार्य है, जिन्होने योग शब्द की एक नूतन मौलिक व्याख्या दी। 'योग विंशिका' मे उन्होने "मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्म वावारो" के रूप मे योग की परिभाषा करते हुए जो बताया, उसका सार यह है कि धर्म-साधना के समग्र उपक्रम योग है।

जैन योग पर आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य शुभचन्द्र, उपाध्याय यशोविजयजी आदि मनीषियों ने बडा महत्त्वपूर्ण साहित्य रचा।

अष्टाग योग के रूप मे महर्षि पतञ्जलि ने जो विवेचन किया है, जैन आगमो मे विकीर्ण रूप मे भिन्न-भिन्न स्थानो पर तप, सवर, ध्यान, प्रतिसंलीनता आदि के सन्दर्भ मे कही संक्षिप्त विस्तृत प्रतिपादन हुआ है। हमारे वर्धमान स्थानक वासी जैन श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर, अनेक शास्त्रो के पारगामी मनीषी आचार्य सम्राट, परम पूज्य स्व० श्री आत्माराम जी म. सा. ने 'जैनागमों मे अष्टांग योग' नामक पुस्तक की रचना कर इस सन्दर्भ में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। योग के आठों अंग आगम-साहित्य मे कहाँ-कहाँ किस-किस रूप मे वर्णित, विवेचित तथा व्याख्यात हुए हैं, इसका बहुत ही मार्मिक विश्लेषण उन्होने किया, जो योग के तुलनात्मक, समीक्षात्मक अध्ययन एवं अनुसन्धान मे रुचिशील जनों के लिए बड़ा

नवयुग सुधारक जैन विभूषण श्री भण्डारी पदमचन्द्र जी महाराज

सेवामूर्ति महान सरलात्मा उपप्रवर्तक : नवयुग सुधारक भंडारी श्री पदमचंद जी महाराज

कुछ लोग अपने माता-पिता तथा गुरु के नाम से प्रसिद्ध होते है, तो कुछ लोग अपने ज्ञान व अध्ययन-डिग्री आदि के कारण। किंतु कुछ लोग ऐसे भी है जो अपनी सेवा और उदारता के कारण ही प्रसिद्धि प्राप्त करते है।

हमारे पूज्य गुरुदेव श्री पदमचंद जी महाराज अपनी उदारता, सेवाभावना के कारण समाज मे प्रारभ से ही 'भडारी जी' के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज ने ही आपकी सेवा और सव के लिए, सव कुछ समर्पण की भावना को देखकर भंडारी नाम का प्यारा व सार्थक सम्बोधन दिया था। आचार्यश्री के प्रमुख शिष्य प्रकाण्ड पंडित और शान्तमूर्ति पडित श्री हेमचन्द्र जी महाराज आपके दीक्षागुरू थे। प्रारभ से ही आप गुरुदेव तथा दादागुरु आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की सेवा मे रहे। साधु-सन्तो की सेवा, उनके लिए हर समय एक सिपाही की तरह सेवा मे तैयार रहते थे। आचार्यश्री की अन्तिम अवस्था मे तो आपने उनकी अभूतपूर्व सेवा की जिसके कारण उन्हे परम शान्ति व समाधि अनुभव हुई।

गुरुदेव श्री भंडारी जी महाराज ने राष्ट्रसत आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म० राष्ट्रसत श्री अमरमुनि जी, प० गुरुदेव स्व० श्री हेमचन्द जी महाराज आदि महान सन्तों की वडी श्रद्धा व समर्पण वृत्ति से सेवा की है।

आपश्री स्वभाव से वहुत ही सरल, निष्पृह, नाम की कामना से दूर रहते हुए धर्म का प्रचार करते हैं। आपके सदुपदेश तथा प्रेरणा से आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री अमरमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन से पजाव एव हरियाणा मे स्थान-स्थान पर धर्मस्थानक, जैन हॉल, विद्यालय आदि का निर्माण हुआ है। आप श्री जी की प्रेरणा व प्रयत्न से पटियाला यूनीवर्सिटी मे 'जैन चेयर' की स्थापना हुई जहाँ जैन धर्म, दर्शन व साहित्य पर विशेष शोध-अध्ययन चल रहा है।

जैन शासन एवं श्रमग सघ की उन्नति-अभ्युदय मे आपका योगदान इसी प्रकार दीर्घकाल तक मिलता रहे, और आप स्वस्थ एव दीर्घजीवन प्राप्त करे—यही मंगल भावना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन प्रकाशन मे मूल प्रेरणा स्रोत भी आप ही हैं।

गुरु-परम्परा

पंजाब प्रान्तीय पूज्य आचार्य श्री अमर सिंह जी महाराज

□

महान ज्ञानयोगी पं० श्री मोतीराम जी महाराज

□

गणावच्छेदक श्री गणपत राय जी महाराज

□

गणावच्छेदक बाबा श्री जयराम दास जी महाराज

□

प्रवर्तक श्री शालिगराम जी महाराज

□

जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

□

श्रुत विशारद पं० श्री हेमचन्द जी महाराज

□

नवयुग सुधारक भंडारी श्री पदम चन्द जी महाराज

□

प्रवचन भूषण हरियाण केसरी श्री अमर मुनि जी महाराज

□

(१) श्री सुव्रत मुनि शास्त्री एम० ए० (२) श्री सुयश मुनि
(३) श्री सुयोग्य मुनि

□□

प्रस्तुत ग्रन्थ के विद्वान सम्पादक प्रवचनभूषण

श्री अमरमुनि जी महाराज

जन्म :	दीक्षा :
वि० स० १९९३ भाद्रपद सुदि ५	वि० स० २००८ भाद्रपदसुदि ५
क्वेटा (बिलोचिस्तान)	सोनीपत (पंजाब)

वाणी के जादूगर : प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि

वक्ता वाग्देवता का प्रतिनिधि है। वक्ता की वाणी मुर्दों मे प्राण फूंक देती है तथा पापियो को पुण्यात्मा बना देती है।

प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि जी एक उच्च कोटि के सन्त-वक्ता हैं। वे कवि भी हैं, भक्ति की धारा मे डुबकियाँ लगाने वाले सन्त है, और ऊँचे विचारक विद्वान तथा लेखक भी हैं। हृदय से बडे सरल, सबका भला चाहने वाले, अत्यन्त मृदुभाषी और वह भी अल्पभाषी, देव-गुरु-धर्म-के प्रति अटल श्रद्धा-भक्ति रखने वाले, प्रसन्नमुख और आकर्षक व्यक्तित्व के धनी ऐसे सन्त है जिनके निकट एक बार आने वाला, बार बार उनसे मिलना चाहता है, बोलना चाहता है, सुनना चाहता है और पाना चाहता है उनका आशीर्वाद।

वि. स. १९९३, भादवा सुदि ५ तदनुसार ई० सन् १९३६ सितम्बर मे क्वेटा (बलूचिस्तान) के सम्पन्न मल्होत्रा परिवार मे आपका जन्म हुआ। आपके पिता श्री दीवानचन्द जी और माता श्री बसन्तीदेवी वडे ही उदार और प्रभुभक्त थे।

पूर्व जन्म के सस्कार कहिए या पुण्यो का प्रबल उदय, आप ११ वर्ष की लघु वय मे आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणो मे पहुँच गये और वैराग्य संस्कार जागृत हो उठे। आचार्यश्री ने अपनी दिव्य दृष्टि से आप मे कुछ विलक्षणता देखी और जब आपकी भावना जानी तो अपने प्रिय सेवाभावी प्रशिष्य भडारी श्री पदमचन्द जी महाराज को कहा—"भडारी, इसे तुम सँभालो, यह तुम्हारी सेवा करेगा और नाम रोशन करेगा।"

११ वर्ष की आयु से ही आपने हिन्दी, सस्कृत और जैन धर्म का अध्ययन प्रारंभ कर दिया। १५ वर्ष की आयु मे वि. स २००८ भादवा सुदि ५ को सोनीपत मडी मे जैन श्रमण दीक्षा ग्रहण करली।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के स्नेहाशीर्वाद एव गुरुदेव श्री भडारी जी महाराज की देख-रेख मे आपने जैनधर्म, दर्शन, प्राकृत, सस्कृत, गीता, रामायण, वेद तथा भारतीय दर्शनो व धर्मो का गहरा अध्ययन किया। आप एक योग्य विद्वान, कवि और लेखक के रूप मे प्रसिद्ध हुए। आपकी वाणी, स्वर की मधुरता और ओजस्विता तो अद्भुत है ही, प्रवचन शैली भी बड़ी ही रोचक, ज्ञानप्रद और सब धर्मों की समन्वयात्मक हैं। हजारो जैन-जैनेतर भक्त आपकी प्रवचन सभा मे प्रति-दिन उपस्थित रहते हैं।

आप समाज की शिक्षा एवं चिकित्सा आदि प्रवृत्तियो पर ज्यादा ध्यान देते हैं। जगह-जगह विद्यालय, गर्ल्स हाईस्कूल, वाचनालय, चिकित्सालय और सार्वजनिक सेवा केन्द्र तथा धर्मस्थानको का निर्माण आपकी विशेप रुचि व प्रेरणा का विपय रहा है। पजाव व हरियाणा मे गाँव-गाँव मे आपके भक्त और प्रेमी सज्जन आपके आगमन की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

आपश्री ने जैनधर्मदिवाकर आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज की जन्म शताब्दी वर्ष मे उनकी स्मृति मे जहाँ अनेक धर्मस्थानक, हाईस्कूल आदि की प्रेरणा दी है, वहाँ साहित्य के क्षेत्र मे भी महान् कार्य किया है।

सूत्रकृतांग जैसे दार्शनिक आगम को दो भागो मे सम्पादन-विवेचन किया, भगवती सूत्र जैसे विशाल सूत्र का (६ भाग) सम्पादन विवेचन किया है जो आगम प्रकाशन समिति व्यावर से प्रकाशित हो रहे है। आचार्य श्री की अमरकृति "जैन तत्त्व कलिका" विकास को भी आधुनिक शैली मे सुन्दर रूप मे सपादित किया है। और 'जैनागमों मे अष्टाग योग' का भी वहुत ही सुन्दर व आधुनिक ढंग का यह परिष्कृत-परिवर्धित सस्करण 'जैन योग सिद्धान्त और साधना' के रूप में तैयार किया है।

आप यश एव पद की भावना से दूर रहकर समाज मे धर्म तथा ज्ञान का प्रचार करने मे ही रुचि रखते हैं। समाज ने आपको प्रवचन भूषण, श्रुतवारिधि, हरयाणाकेसरी आदि पदो से सम्मानित किया हैं। गुरुदेव भडारी श्री पदमचन्द जी महाराज के सान्निध्य मे आप धर्म की यशपताका फहराते रहें—यही शुभ कामना है। □□

□ श्री

स्व० ज्ञानमहोदधि आचार्य प्रवर श्री आत्मा राम जी म० की जन्म शताब्दी वर्ष के सदर्भ मे जैन योग सिद्धात और साधना नामक ग्रथ का प्रकाशन किया जा रहा है। यह अत्यत हर्ष का विषय है। उपरोक्त ग्रथ से अध्यात्म विद्या योग के प्रेमी निश्चय ही नवीनतम मार्ग दर्शन प्राप्त करेंगे।

जैन योग सिद्धात और साधना के लेखक तो आदरणीय है ही, साथ ही सम्प्रेरक, सम्पादक, एव सहयोगी सम्पादक का परिश्रम भी सम्माननीय है।

मुझे आशा है इस ग्रथ के माध्यम से ध्यान एव साधना प्रक्रिया मे सजग रहने वाले मुमुक्षु वर्ग अधिकाधिक सख्या मे लाभान्वित होगे।

—प्रवर्त्तक मुनि रमेश

□□

णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स

उपोद्‌घात

योग का महत्त्व

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधान धर्माणा योगः सिद्धेः स्वयं ग्रहः ॥ ३७ ॥
कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा।
योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥ ३९ ॥
अक्षरद्वयमप्येतच्छ्रूयमाणं विधानतः।
गीत पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥ ४० ॥

—योगबिन्दु, हरिभद्रसूरि

भारत के लब्धप्रतिष्ठ जैन, बौद्ध और वैदिक—इन तीनो प्राचीन धर्मों का समान रूप से यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि मानव-जीवन का अन्तिम साध्य उसके आध्यात्मिक विकास की पूर्णता और उससे प्राप्त होने वाला प्रज्ञाप्रकर्षजन्य पूर्णबोध और स्वरूपप्रतिष्ठा—दूसरे शब्दो मे—परमकैवल्य और निर्वाणपद है। उसकी प्राप्ति के जितने भी उपाय उक्त तीनो धर्मों मे बतलाये गये है उनमे अन्यतम विशिष्ट उपाय 'योग' है। योग, यह प्राचीन आर्यजाति की अनुपम आध्यात्मिक विभूति है। इसके द्वारा अतीतकाल मे आर्यजाति ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे जो प्रकर्ष प्राप्त किया उसका अन्यत्र दृष्टान्त मिलना यदि असम्भव नही तो दुर्लभ अवश्य है।

भारत के परम मेधावी ऋषि-मुनियो ने स्वात्मानुभूति के लिये अपेक्षित प्रज्ञाप्रकर्ष अथवा अन्तर्दृष्टि के सर्वतोभावी उन्मेष के विकास के लिये अपेक्षित बल का इसी योग-साधना के द्वारा उपार्जन किया था। योग का ही दूसरा नाम अध्यात्म-मार्ग या अध्यात्म-विद्या है।

भगवद्‌गीता मे इस अध्यात्मविद्या को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है[1]। अत. योग, यह मोक्ष-प्राप्ति का निकटतम उपाय होने से मुमुक्षु आत्माओ के लिए नितान्त उपादेय है। इसी दृष्टि को सन्मुख रखकर भारतीय धार्मिक महापुरुषो ने इसकी

---

१. 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'। —अ० १०, श्लोक ३२

उपयोगिता को स्वीकार करते हुए अपने-अपने दृष्टिकोण से इसका पर्याप्त मात्रा में वर्णन किया है। इसके प्रमाण—सबूत—मे जैन-धर्म के आगमादि, बौद्ध-धर्म के त्रिपिटकादि और वैदिक धर्म के उपनिषदादि ग्रन्थो के शतशः वाक्य उपस्थित किये जा सकते हैं। परन्तु यहाँ पर तो केवल जैन-धर्म के दृष्टिकोण से योग और उसके सुप्रसिद्ध यम-नियमादि अगो का समन्वय-दृष्टि से विवेचन करना ही अभीष्ट है। इसलिये प्रस्तुत विषय मे जैन-धर्म के प्राणभूत प्रामाणिक जैन-आगमो का ही अधिक मात्रा मे उपयोग करना समुचित है। जैन-धर्म त्याग अथवा निवृत्तिप्रधान धर्म है, उसमे आरम्भ से लेकर अन्त तक निवृत्ति या त्याग मार्ग का ही उपदेश दिया गया है। उसकी—धर्म की—(अहिंसा, सयम और तप रूप[1]) व्याख्या मे योग और उसके सम्पूर्ण अगो का समावेश हो जाता है[2] तथा उसमे सावद्य—सपाप—प्रवृत्ति का त्याग और निरवद्य—निष्पाप—प्रवृत्ति का विधान होने से तदनुमोदित—जैन-धर्मानुमोदित—प्रवृत्ति भी निवृत्तिमूलक ही है। अत आत्मा-अनात्मा के विवेक से शून्य और रात्रिदिवा सासारिक विषय-भोगो मे ही आसक्त रहने वाले बहिर्मुख आत्माओ (जीवो) के लिये इस निवृत्तिप्रधान प्रशस्त योगरूप निर्ग्रन्थ-धर्म मे कोई स्थान नही। उसमे अधिकार तो उन्ही आत्माओ को प्राप्त है जो सासारिक विषयभोगो मे अनासक्त, कषायविजयी, तपोनिष्ठ और सयमशील है एव जिन्होने जीवन के परम साध्य मोक्ष-द्वार तक पहुँचने के लिए अपेक्षित आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के साधनो का सग्रह करना प्रारम्भ कर दिया जो कि अन्यत्र योग अथवा योगागो के नाम से विख्यात हैं और जिनका जैनागमो मे बडी ही सुन्दरता से विवेचन किया

---

१ 'धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो'। —दशवैकालिकसूत्र १/१

२. मन, वचन और शरीर से हिंसक प्रवृत्ति का त्याग (अहिंसा), अहिंसादि पाँच यमो का यथाविधि पालन, चक्षु आदि पाँचो इन्द्रियो की वश्यता, क्रोधादि चार कषायो का जय, मन वचन और काया के योग—व्यापार-नियमन—उस पर अकुशता (सयम), ६ प्रकार का बाह्य और ६ प्रकार का आभ्यन्तर तप का अनुष्ठान (तप), इस प्रकार अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म मे योग के समस्त अग सनिविष्ट हैं। इसके अतिरिक्त तप और सयम की आराधना से राग-द्वेष और तज्जन्य कर्म-बन्धनो का छेदन करके यह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनता हुआ कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है। "पलिच्छिदिया ण निक्कम्मदसी"—तप सयमाभ्या रागादीनि बन्धनानि तत्कार्याणि वा कर्माणि छित्वा निष्कर्मदर्शी भवति, निष्कर्माणमात्मान पश्यति तच्छीलश्च, निष्कर्मत्वाद्वा अपगतावरण सर्वदर्शी सर्वज्ञानी च भवति।

(आचाराग अ० ३, उ० २, सू० ४)

इस प्रकार तप और सयम को, साक्षात् व परम्परा से मोक्ष का साधक होने से नामान्तर से योग ही कहना व मानना युक्तियुक्त है। इस विषय का सविस्तार वर्णन आगे किया जावेगा।

गया है [उसका दिग्दर्शन अन्यत्र इसी ग्रन्थ मे कराया जावेगा]। एवं इस त्याग-प्रधान जैन-धर्म के प्रचारक—भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त तीर्थंकर नाम से प्रसिद्ध जितने भी महापुरुष हुए हैं वे सब परम त्यागी, परमतपस्वी, परम निर्मोही, परम ज्ञानी अतएव परम योगी थे। योग की उत्कृष्ट साधना द्वारा ही उन्होने आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठारूप कैवल्य-विभूति और स्वरूप-प्रतिष्ठा का सम्पादन किया। गृह-त्याग के पश्चात् बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक ध्यान—समाधिरूप इस योगानुष्ठान—से ही चरम तीर्थंकर भगवान् महावीरस्वामी अर्हंद्—जगत्पूज्य, जिन—रागद्वेष-विजेता, केवली—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और तीर्थंकर—धर्मप्रवर्तक बने। आचार्य श्री हरिभद्रसूरि[1] के वचनो मे योग, सर्वश्रेष्ठ कल्प-वृक्ष, चिन्तामणि-रत्न, सर्व धर्मो मे प्रधान और सिद्धिरूप मोक्ष का सुदृढ सोपान है। वास्तव मे योग ही भयकर भवरोग के समूलघात की रामबाण औषधि है।

योग—शब्दार्थ

शब्द-शास्त्र के नियमानुसार युज् धातु से घञ् प्रत्यय के द्वारा योग शब्द निष्पन्न होता है। युज् नाम के दो धातु हैं—एक समाध्यर्थक[2] दूसरा संयोगार्थक[3], अत योग शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य—(युक्ति, योजन, युज्यते इति वा योग:) समाधि और संयोग ये दो अर्थ फलित होते है। इन दोनो ही अर्थो मे योग शब्द प्रयुक्त किया देखा जाता[4] है। समाधि अर्थ मे वह साध्यरूप से निर्दिष्ट है और सयोग अर्थ मे उसका साधनरूप से परिचय मिलता है। कारण कि समाधि अर्थात् आत्मा की विक्षेपरहित समभाव-परिणतिरूप समाहित अवस्था मे चित्त की विशिष्ट प्रकार की एकाग्रता अपेक्षित है, जो कि ध्यान-साध्य है और ध्यान-संयोग के बिना दुर्घट है। तात्पर्य कि समाधि के लिये अपेक्षित मानसिक स्थिरता की प्राप्ति प्रशस्त-ध्यान के बिना नही हो सकती है और ध्यान मे ध्येय वस्तु के साथ ध्याता के मन का सम्बन्ध भी अनिवार्य है, इसलिए समाधि के साधनभूत प्रशस्त-ध्यान के सम्पादनार्थ ध्येय और ध्याता का परस्पर मे सयुक्त होना—सम्बद्ध होना—सयोगरूप योग मे ही हो सकता है।

योग के व्युत्पादन मे उसके ध्यान और समाधि ये दो अर्थ फलित होते है।

---

१. 'योग कल्पतरु: श्रेष्ठो, योगश्चिन्तामणि: पर:।
योग: प्रधान धर्माणं, योग सिद्धे स्वय ग्रह.'॥ (योगबिन्दु, श्लो॰ ३७)

२ युज समाधौ।

३. युजिर्योगे।

४. (क) योग: समाधि, सोऽस्यास्ति इति योगवान्।
(उत्तराध्ययन सूत्र बृहद्वृत्ति ११/१४)

(ख) युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योग—
(ध्यानशतक की वृत्ति में श्री हरिभद्रसूरि)

इनका निर्देश ध्यान-योग और समाधि-योग के नाम से किया जा सकता है। ध्यान-योग मे प्रणिधानरूप मन समिति से चित्त की एकाग्रता का सम्पादन होता है और समाधि-योग मे मनोगुप्ति के द्वारा उसकी स्थिरता सम्पन्न होती है—चित्त का निरोध सम्पन्न होता है, तत्पर्य कि मानसिक एकाग्रता ही व्यक्त होती है। सक्षेप मे कहें तो चित्त की एकाग्रता परिणति—ध्यान और स्थिरता परिणाम—समाधि है। इस प्रकार इन दोनो का साध्य-साधनभाव कल्पित होता है। परन्तु इनके स्वरूप के विषय मे कुछ अधिक परामर्श किया जाय तो इनकी—ध्यान-समाधि की—साध्य-साधनभेद से विभेद-कल्पना कुछ वास्तविक प्रतीत नही होती। वास्तव मे तो समाधि, यह ध्यान की परिपक्कता अथच ध्यानाभ्यास से प्राप्त होने वाला चित्तवृत्ति का अस्पन्दनमात्र[1] ही है। जैनसकेतानुसार तो शुक्ल-ध्यान के पादचतुष्टय मे ही समाधि का तिरोधान हो जाता है अत समाधि, यह ध्यान की अवस्थाविशेष ही है। साराश कि समाध्यर्थक युज् धातु से निष्पन्न योगार्थ मे समाधि और ध्यान ये दोनो ही गर्भित हो जाते हैं।

अब रहा सयोगार्थक योग शब्द, सो उसमे योग के वे समस्त साधन निर्दिष्ट हैं, जिनकी साधक को अपने अन्दर ध्यान अथवा समाधि की योग्यता प्राप्त करने के लिये आवश्यकता होती है। वे सभी आध्यात्मिक शास्त्र की योग-प्रणाली मे सब साधन-योग या क्रिया-योग के नाम से अभिहित किये गये हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार साध्य-साधनरूप मे योग के समाधि और योग सयोग ये ही दो अर्थ फलित होते हैं। इनमे समाधि साध्य और योग साधन है। इस प्रकार योग और समाधि का पारस्परिक साध्य-साधनभाव सकलित होता है।

यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि समाधि मे जो साध्यत्व का निर्देश है वह सापेक्ष—अपेक्षाजन्य है, अर्थात् समाधि के उपायभूत यम-नियमादि की अपेक्षा से उसको साध्य कहा है और परमसाध्य मोक्ष की दृष्टि से तो वह भी मोक्ष का अन्तरग साधन होने से साधन-कोटि मे ही परिगणित है। इस परिस्थिति मे सयोग और समाधि इन दोनो अर्थो मे प्रतिविम्बित होने वाले योग शब्द का निम्नलिखित अर्थ निष्पन्न होता है—जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सके और जो आत्मा को उसके परम साध्य के साथ सयुक्त करके जोड दे, उसका नाम योग है। योग के इन दोनो मौलिक अर्थो मे निसर्गत: मोक्ष-साधक धर्मानुष्ठान का ही निर्देश प्राप्त होता है। अत मोक्ष-प्रापक समिति-गुप्ति[2] आदि साधारण जो आत्मा का धर्म व्यापार है वही इसी प्रकृत योगार्थ मे भासित होता है।

---

१. तदेतद् ध्यानमेव चाभ्यस्यमान कालक्रमेण परिपाकदशापन्न समाधिरित्यभिधीयते—'ध्यानादस्पन्दन वुद्धे समाधिरभिधीयते' इति स्कन्धाचार्योक्ति। (पातञ्जलयोगदर्शन की टिप्पणी मे स्वामी वालकराम)

२. 'समितिगुप्तिसाधारणधर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्'। (पातजल योगदर्शन, सूत्र १/२ की वृत्ति, उपाध्याय यशोविजयजी)

इसके अतिरिक्त योग के व्युत्पत्तिलभ्य समाधि और सयोग इन दोनो अर्थो का कुछ सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो इनमे भेद और अभेद दोनो का आभास दृष्टिगोचर होगा। भेद और अभेद रूप दो विरोधी तत्त्वो का आभास और उनका समन्वय ये दोनो दृष्टिगोचर होगे। इन दोनो बातो का विचार करने से योग का शब्दार्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है। समाधि और सयोग ये दोनो योगरूप एक ही वस्तु के विभिन्न दो स्वरूप है। एक मे समाधान प्रधान है, दूसरे मे सयोजन मुख्य है। समाधान आत्मा की समाहित अवस्था समभाव-परिणति का परिचायक है, और सयोग यह साधक का अपने साध्य से मिलना है। एव समाधान—समता—मे अभेद-दृष्टि का ही प्राधान्य है जब कि संयोग मे भेद-प्रधान विचारो का अनुसरण है। इस प्रकार व्युत्पत्ति-भेद के आधार पर अर्थ-भेद की कल्पना करने की जो दृष्टि है उसके अनुसार समाधि और सयोग मे भी उक्त अर्थ-भेद की कल्पना से विभिन्नता प्रमाणित होती है परन्तु इसकी यह विभिन्नता चिरकालभाविनी नही, क्योकि अपने मूलस्रोत—उद्गम-स्थान—योगरूप वस्तु के समीप आते ही उसके व्यापक स्वरूप मे समन्वित हो जाती है। ऐसी परिस्थिति मे योग शब्द की अर्थ-विचारणा मे जो मार्ग लक्षित होता है उसके अनुसार योग शब्द का अधोलिखित अर्थ फलित होता है :—

मोक्ष-प्राप्ति के मुख्य और गौण, अन्तरंग या बहिरग, ज्ञान-दृष्टि और आचार-दृष्टि से जितने भी अध्यात्मशास्त्र-निर्दिष्ट साधन है (जो साक्षात् या परम्परा से मोक्ष के उपाय हैं) उनका यथाविधि सम्यग् अनुष्ठान और उससे प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक विकास की पूर्णता का ही नाम योग है।

योग का यह मौलिक और अविसवादि लक्षण प्रतीत होता है। इस प्रकार संयोग और समाधि इन दो रूपो मे अविभक्तरूप से अभिव्यक्त होने वाली योग-वस्तु के आत्मीय स्वरूप-निर्णय मे किसी प्रकार की भी त्रुटि नही आती। प्रत्युत सयोग और समाधि के भेदाभेद मे उद्भव होने वाली विरोध-भावना को अपने गर्भ में लय करके अपनी व्यापकता का परिचय दिया है।

यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा कि योग शब्द के सयोग और समाधि इन दोनो मौलिक अर्थो को ही सन्मुख रखकर कतिपय वैदिक विद्वानो ने उनकी जो सुन्दर और सारभित व्याख्या की है उससे भी हमारे पूर्वोक्त कथन का पूर्णरूप से समर्थन होता है।[1] इस प्रकार योग शब्द की मौलक व्याख्या मे आत्मसमाधि और उसका साधक व्रत-नियमादिरूप धर्मानुष्ठान ये दोनो ही योग शब्द से सगृहीत किये गये हैं।

---

१. समाधिमेव च महर्षयो योग व्यपदिशन्ति—यदाहु योगियाज्ञवल्क्या', 'समाधि समतावस्था, जीवात्मपरमात्मनो। संयोगो योग इत्युक्त, जीवात्मपरमात्मनो.'

आगम कथित योगार्थ

यहाँ पर इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि मूल जैनागमो मे योग शब्द का प्रयोग प्राय मन, वचन और काया के व्यापार अर्थ मे ही किया गया[1] है अत. मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया ही योग है। वह कर्मवन्ध मे हेतुभूत होने से आस्रव भी कहलाता है। इनमे अप्रशस्त पाप-वन्ध का और प्रशस्त पुण्य-वन्ध का कारण है। जैन-सिद्धान्त मे आस्रवद्वार—कर्मबन्ध का हेतु—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग—मन-वचन-काया का व्यापार, ये पांच माने हैं[2]। प्राय[3] इन दो (योग एव कषाय) पर ही पुण्य अथवा पाप रूप शुभाशुभ कर्म-वन्ध की तरतमता अवलम्बित है। जैन-सकेतानुसार कर्म-योग्य पुद्गलो अर्थात् कर्मरूप से परिणत होने वाले अणुओ का आत्म-प्रदेशो के साथ सम्बद्ध होना ही वन्ध है और उसमे मन, वचन और काया के योग—सम्वन्ध—की नितान्त आवश्यकता रहती है। कारण कि आत्मा की शुभाशुभ प्रत्येक प्रवृत्ति मे इन्ही तीनो—मन, वाणी और शरीर का किसी न किसी प्रकार से सम्वन्ध रहता है। इस प्रकार मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार के अर्थ मे योग शब्द आगमो मे प्रयुक्त[4] हुआ है। और प्रस्तुत योग के अर्थ मे आगमो मे वहुधा ध्यान या समाधि शब्द का उल्लेख किया गया है जिसका वर्णन आगे मिलेगा।

योग की पातञ्जल व्याख्या

वैदिक सम्प्रदाय के योगविषयक सर्वमान्य पातञ्जल दर्शन मे योग का

इति। अत एव स्कन्धादिषु— यत्समत्व द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनो., समष्टसर्वसकल्प समाधिरभिधीयते'॥ 'परमात्मात्मनोर्योऽयमविभाग परन्तप ! स एव तु परो योग. समासात् कथितस्तव'॥ इत्यादिषु वाक्येषु योगसमाध्यो: समानलक्षणत्वेन निर्देश सगच्छते (योगभाष्यभूमिका स्वामि बालकरामकृत)।

१. 'तिविहे जोए पण्णत्ते तजहा—मणजोए वइजोए कायजोए'।

छा०—त्रिविध योग प्रज्ञप्त तद्यथा—मनोयोग वाग्योग कायायोग।

(ठाणाग सू० स्थान ३)

२. 'पच आसवदारा पण्णत्ता तजहा—मिच्छत्त अविरई पमाया कसाया जोगा'। (समवायाग सम० ५)

छा०—पञ्च आस्रवद्वाराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—मिथ्यात्वमविरति प्रमादा कषाया योगा।

३ जोगबन्धे कसायबन्धे (समवा० सम० ५) तात्पर्य कि कर्म का बन्ध योग से—मन, वचन, काया के व्यापार से और कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ से होता है।

४. नव (६) आगमो मे प्रयुक्त होने वाले योग, प्रयोग, और करण—ये तीनो शब्द एक ही अर्थ मे ग्रहण किये गये हैं ऐसी व्याख्याकारो की सम्मति है—

समाधि अर्थ बतलाकर उसको—योग को—समाधिरूप माना है[1] और चित्तवृत्ति-निरोध उसका लक्षण किया है[2]। तात्पर्य कि चित्त की जिस अवस्थाविशेष मे प्रमाण विपर्ययादि वृत्तियो का निरोध होता है उस अवस्थाविशेष का नाम योग है[3]। इस विषय का खुलासा इस प्रकार है —

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्र मे उल्लिखित चित्त शब्द से अन्त करण अभिप्रेत है। साख्ययोग-मत के अनुसार सारा विश्व त्रिगुणात्मक प्रकृति का परिणाम होने पर चित्त भी त्रिगुणात्मक सत्त्वरजस्तमोरूप है। परन्तु इतना स्मरण रहे कि—अन्य प्रकृति-परिणामो की अपेक्षा चित्त मे सत्त्व गुण का अधिक उदय होता है। इस प्रकार सत्त्वादि गुणो की न्यूनता-अधिकता से चित्त की उच्चावच्च अनेक अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें भूमिकाओ के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। चित्त की ऐसी भूमिकाएँ पाँच मानी हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध।

क्षिप्त-अवस्था मे रजोगुण के प्राधान्य से चित्त सदा चंचल—अस्थिर और बहिर्मुख बना रहता है, अतः सासारिक विषय भोगो की ओर ही उसकी अधिकाधिक प्रवृत्ति होती है। मूढ-अवस्था मे तमोगुण की प्रधानता के कारण चित्त सदा विवेक-शून्य रहता है। हेयोपादेय अथवा कर्तव्याकर्तव्य का भान न होने से वह कभी-कभी नही करने योग्य कार्यों मे भी प्रवृत्त हो जाता है। तीसरी विक्षिप्त-अवस्था है। इसमे सत्त्वगुण की अधिकता से रज प्रधान क्षिप्त-अवस्था की अपेक्षा चित्त

---

(१) योग :—युज्यते जीव कर्मभिर्येन—'कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइति' वचनात् युड्क्ते वा प्रयुड्क्तेय पर्य्यायं स योगो वीर्यान्तरायक्षयोपशमः जनितो जीवपरिणामविशेष इति।....मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो—वीर्यपर्यायो दुर्वलस्य यष्टिका द्रव्यवदुपष्टम्भकरोमनोयोग इति।....मनसो वा योग करणकारणानुमतिरूपी व्यापारो मनोयोग।

(२) प्रयोग —मन प्रभृतीना व्याप्रियमाणाना जीवेन हेतुकर्तृभूतेन यद्व्यापारण प्रयोजन स प्रयोगो मनस प्रयोगो मन प्रयोग।

(३) करणम्—क्रियते येन तत्करण मननादिक्रियासु प्रवर्त्तमानस्यात्मनः उपकरणभूत तथा तथा परिणामवत् पुद्गलसघात ईति भाव। तत्र मनस. एव करणं मन करणमिति। अथवा योगप्रयोगकरणशब्दाना मनःप्रभृतिकमभिधेयतया योगप्रयोग-करणसूत्रेष्वभिहितमिति नार्थभेदोऽन्वेषणीय', त्रयाणामेषामेकार्थतया आगमे बहुशः प्रवृत्तिदर्शनात्'। (स्थानाग सूत्र ३ स्था० की वृत्ति)

१. 'योग. समाधि. स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्म'।

२ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.'।

३ 'निरुध्यन्ते यस्मिन् प्रमाणादिवृत्तयोऽवस्थाविशेषे चित्तस्य सोऽवस्था-विशेषो योगः'। (वाचस्पतिमिश्र)

कभी-कभी स्थिरता को धारण करता है सर्वथा नही, यही इसमे विशेषता है[1]। चित्त की ये तीनो ही अवस्थाएँ योग-समाधि के लिये अनुपयोगी होने से उपादेय नही है, इसलिये चित्त की एकाग्र और निरुद्ध ये दो अन्तिम अवस्थाएँ ही योगाधिकार मे प्रवृत्त होने वाले मुमुक्षु पुरुप के लिये उपादेय मानी गई हैं, कारण कि इन्ही दो भूमिकाओ मे समाधि की प्राप्ति हो सकती है।

जिस समय चित्त बाह्य वृत्तियो के रुक जाने पर एक ही विषय मे एकाकार वृत्ति को धारण करता है तब उसको एकाग्र कहते हैं परन्तु इस अवस्था मे कुछ अन्तरग सात्त्विक वृत्तियाँ रहती हैं। उन सब वृत्तियो और तज्जन्य सस्कारो का भी जिस अवस्था मे लय हो जाता है वह चित्त की निरुद्ध-अवस्था है। साराश कि एकाग्रचित्त मे बाह्य वृत्तियो का तिरोधाम होता है और निरुद्धचित्त मे सभी वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं[2]।

जैसे कि ऊपर बतलाया गया है, चित्त की इन पाँच भूमिकाओ मे पहले की क्षिप्त और मूढ ये दो तो समाधि के लिये सर्वथा अनुपयोगी है। तीसरी विक्षिप्त-भूमि कुछ-कुछ उपयोगी है और अन्त की दो सर्वथा उपादेय हैं। इन्ही दोनो भूमियो मे समाधि का उदय होता है। तथाच—इन भूमिकाओ के अनुरूप पहली दो मे व्युत्थान (वहिर्मुखता), तीसरी मे समाधि का आरम्भ, चौथी मे एकाग्रता और पाँचवी में निरोध, इस प्रकार चित्त के चार परिणाम सम्भव होते हैं। इनमे सत्त्व के उत्कर्ष से चित्त की एकाग्रता लक्षण परिणत होने पर साधक आत्मा सद्‌भूत अर्थ का प्रकाश करती है—परमार्थभूत ध्येय वस्तु का साक्षात्कार करती है, चित्तगत क्लेशो को दूर करती है, कर्मबन्धनो को शिथिल और निरोध को अभिमुख करती है, इसी का नाम सप्रज्ञात-योग है[3]। और वह वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भेद से चार प्रकार का है। और सर्वप्रकार की चित्तवृत्तियो का सर्वथा निरोध असप्रज्ञातयोग है।

इस प्रकार योग को समाधिरूप मानकर उसके सप्रज्ञात, अप्रसंज्ञात ये दो भेद बतलाये हैं। और इन्ही को क्रमश सबीज और निर्बीज समाधि कहा है।

चित्त की एकाग्र-दशा मे ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है और मन को समाहित रखने के लिये किसी न किसी आलम्बन या बीज की आवश्यकता भी

---

१. 'विक्षिप्त-क्षिप्ताद्विशिष्ट, विशेषोऽस्थेमबहुलस्य कादाचित्क स्थेमा।' (तत्त्व-वैशा० टी० वाचस्पति मिश्र १-१)

२ 'एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोध। निरुद्धे च सर्वासा वृत्तीना सस्काराणा च इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भव।' (१-२ भोजवृत्ति)

३ 'सम्यक् प्रज्ञायते क्रियते ध्येय यस्मिन्निरोधविशेषे स संप्रज्ञात' अर्थात् जिसमे साधक को अपने ध्येय का भलीभाँति साक्षात्कार होता है उसका नाम सप्रज्ञात है। (१-१ टिप्पण—बालकरामस्वामी)

अवश्य रहती है, इसलिये संप्रज्ञात समाधि को सालम्बन या सबीज समाधि कहते हैं। परन्तु जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ पूर्णरूप से निरुद्ध हो जाती है तब असप्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है। उसमे ध्याता-ध्यान-ध्येयरूप त्रिपुटि का विभिन्न रूप से ज्ञान नही होता और इसमे किसी भी वस्तु का आलम्बन न रहने से उसे निरालम्बन यो निर्वीज समाधि कहा गया है। असप्रज्ञात-योग के भी भव-प्रत्यय और उपायप्रत्यय ये दो प्रकार बतलाये है। इनमे उपाय-प्रत्यय समाधि ही वास्तविक समाधि है। उसकी प्राप्ति श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के लाभ से होती है। यह कथन योगसूत्र और उसके व्यासभाष्य के अनुसार किया गया है[1]।

यहाँ पर इतना अवश्य स्मरण रहे कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस पातजल सूत्र मे सूत्रकार को वृत्तिनिरोध से क्लेशादिको का नाश करने वाला निरोध ही अभीष्ट है[2]। अन्यथा यत्किंचित् वृत्तिनिरोध तो क्षिप्तादि भूमिकाओ मे भी होता है परन्तु उसको इनकी योगरूपता कथमपि अभीष्ट नही। तब उक्त सूत्र का फलितार्थ यह हुआ कि—क्लेश-कर्म वासना का समूलनाशक जो वृत्तिनिरोध है, उसका नाम योग है। अन्यथा यो कहो कि—चित्तगतक्लेशादिरूप वृत्तियो का जो निरोध उसको योग कहते है। इस भाँति पातजल योगदर्शन मे योग को समाधिरूप मानकर उसकी उपर्युक्त व्याख्या की है जो साध्यरूप योग के स्वरूप को समझने मे अधिक उपयोगी प्रतीत होती है।

पातंजल योगव्याख्या का आगमानुसारित्व

जैनागमो मे दो प्रकार का धर्म बतलाया है—१ श्रुत-धर्म, २. चारित्र-धर्म[3]। श्रुत-धर्म मे वह सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान समाविष्ट है जिसके मनन से साध्यरूप

---

१ (क) 'क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्र निरुद्धमिति चित्तभूमयः। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूत समाधिर्न योगपक्षे वर्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति—क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति—निरोधाभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो विचारानुगत' आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदिष्याम। सर्ववृत्तिनिरोध इत्यसप्रज्ञात' समाधि'।(१—१)

(ख) 'श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'। (१।२०)

२. 'तथा च यद्यपि योग. समाधि स एव च चित्तवृत्तिनिरोध. स च सार्वभौमः सर्वासु क्षिप्तादिभूमिषु भव, एव च क्षिप्तादिष्वतिप्रसंग तत्रापि हि यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधसत्त्वात्. तथापि यो निरोध. क्लेशान् क्षिणोति स एव योग, स च सप्रज्ञातासप्रज्ञातभेदेन द्विविध. इति नातिप्रसग इत्यर्थ' (यो० १-१ के टिप्पण मे स्वा०बालकराम)

३. 'दुविहे धम्मे पन्नत्ते तजहा—सुयधम्मे चेव चारित्तधम्मे चेव'। (स्थानाग सूत्र, स्थान २, उद्दे० १, सू० ७२)

वस्तु-तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का निश्चय होता है और चारित्र-धर्म के सम्यक् अनुष्ठान से उस साध्यरूप वस्तु-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

चारित्र-धर्म मे द्वादशविध तप और भावना, १७ प्रकार का व्रतादिरूप सयम, क्षमा-मार्दवादि दशविध यति-धर्म और समिति-गुप्तिरूप आठ प्रवचन माताएँ इत्यादि आचरणीय धार्मिक क्रियाएँ गर्भित हैं। इनमे सभी प्रकार के योग और उसके अगो का समावेश हो जाता है। तथा आस्रव-निरोधरूप सवर मे योग का उक्त लक्षण भली-भाँति गतार्थ हो जाता है। मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। उसी की आस्रव सज्ञा है, क्योकि वह कर्म बाँधने मे निमित्तभूत है[1]।

जैन परिभाषा मे वीर्यान्तराय[2] कर्म के क्षयोपशम से होने वाला आत्मपरिणामविशेष—आत्मप्रदेशो का परिस्पन्दन-कम्पन व्यापार-योग कहलाता है। वह मन, वचन और काया के आश्रित होने से तीन प्रकार का है—मनोयोग, वचनयोग, और काययोग। इस योगरूप आस्रव का निरोध ही सवर है जिसे पतञ्जलि मुनि ने अपनी परिभाषा मे चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग-लक्षण मे व्यक्त किया है। जिस प्रकार चित्त की एकाग्रदशा मे सत्त्व के उत्कर्ष से बाह्य वृत्तियो का निरोध, क्लेशो का क्षय, कर्मबन्धनो की शिथिलता, निरोधाभिमुखता और प्रज्ञाप्रकर्ष-जनित सद्भूतार्थ-प्रकाश के द्वारा धर्ममेघ-समाधि की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जीवन के आध्यात्मिक विकास-क्रम मे उत्तरोत्तर प्रकर्ष की प्राप्ति का एकमात्र साधन आस्रवो का निरोध है। यह जितने-जितने अश मे बढेगा उतने-उतने ही अंश मे आत्मगत शक्तियाँ विकसित होगी। अन्त मे आस्रव अथवा योगनिरोधरूप इसी सवर-तत्त्व के उत्कर्ष मे ध्यानादि द्वारा आत्मगत मल-विक्षेप और आवरण का आत्यन्तिक विनाश होकर कैवल्य ज्योति का उदय होता है। (जैन शास्त्रो मे समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तपरूप सवर-तत्त्व के सम्यक् अनुष्ठान से निष्कषाय—कषाय-मल से रहित आत्मा मे मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का भी समूल घात होने पर कैवल्य-ज्योति का उदय होना[3] माना है जिसको केवल-उपयोग कहते हैं। ऐसी आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी[4] कहलाती है। उसके इस निरावरण ज्ञान मे सामान्य और विशेष रूप से विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ करामलकवत् भासमान होते हैं।)

---

१ 'कम्म जोगनिमित्त वज्झइ जोगवधे, कसायवधे।'

२. 'वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणामविशेषः॥'

३ 'मोहक्षयाद् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।' (तत्त्वार्थ १०/१)

४ (क) 'य सर्वज्ञ स सर्वविदिति।'

(ख) 'खीणमोहस्स ण अरहओ तत्तो कम्मसा जुगव खिज्जति त जहा—नाणावरणिज्ज दंसणावरणिज्ज अतराातिय।' (स्थानाग स्था० ३, उ० ४)

छा०—क्षीणमोहस्यार्हत ततः कर्मांशा युगपत् क्षपयन्ति, तद्यथा—ज्ञानावरणीयं

रणीय।।परा य।।

यहाँ पर इतना और भी ध्यान रहे कि पतंजलि के चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग-लक्षण से चित्त के विषय मे उसकी—(१) सत्प्रवृत्ति, (२) एकाग्रता और (३) निरोध, ये तीन बातें ध्वनित होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि योग मे अधिकार प्राप्त करने वाले साधक के लिए चित्त की एकाग्रता के सम्पादनार्थ यम-नियमादिरूप सत्कार्यों मे प्रवृत्त होना परम आवश्यक है और चित्त की एकाग्रता से प्राप्त होने वाले संप्रज्ञात-योग में कुछ वृत्तियो का निरोध तो हो जाता है परन्तु सर्व वृत्तियो का सर्वथा निरोध—क्षय नही होना, अत. सर्ववृत्तिनिरोधरूप असंप्रज्ञात योग के लाभार्थ निरोधरूप परिणाम की आवश्यकता है। जैन-प्रक्रिया के अनुसार यह विषय मनः समिति और मनोगुप्ति के स्वरूप मे गतार्थ हो जाता है। आगमो[1] मे मन समिति और मनोगुप्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए समिति—(सं—सम्यक्, इति—प्रवृत्ति) से मन की सत्प्रवृत्ति और गुप्ति से मन की एकाग्रता और मनोनिरोध अर्थ का ग्रहण किया है। अतः समिति-गुप्ति के इस निर्वचन से मन के—प्रवृत्ति, स्थिरता और निरोध, ये तीन परिणाम-विभाग हो जाते हैं। प्रथम विभाग मे समाधि का आरंभ, दूसरे मे समाधि की प्राप्ति और तीसरे मे समाधि के फलरूप मोक्ष की उपलब्धि होती है। इसलिए योग की 'चित्तवृत्तिनिरोध' रूप पातंजल व्याख्या समिति-गुप्तिरूप आगम-सम्मत संवर-योग से वस्तुतः पृथक् नही है।

हरिभद्रसूरि की योग-व्याख्या

जैन आचार्य हरिभद्रसूरि ने आगमो के आधार पर योग की जो व्याख्या और विषय-विभाग तथा उसमे जिस विशिष्ट पद्धति का अनुसरण किया है वह दार्शनिक जगत् मे बिल्कुल नई वस्तु है। योगविषयक आगमो की प्राचीन वर्णन-शैली को तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार दार्शनिकरूप मे परिवर्तित—बदल—कर योग का जो सुन्दर स्वरूप योगाभिलाषिणी जनता के समक्ष उपस्थित किया है वह उक्त

---

१. (क) 'मणेण पावएण पावक अहम्मिय दारुणं निस्संसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं मरणभयपरिकिलेसकिलिट्ठं न कयावि मणेण पावतेण पावग किंचिविज्झायव्वं एवं मणसमितियोगेण भावितो ण भवति अन्तरप्पा।' (प्रश्नव्या० १ संवरद्वार)

छा०—मनसा पापकेन पापकमधार्मिकं दारुण नृशंस वधबन्धनपरिक्लेशबहुल मरणभयपरिक्लेशसंक्लिष्ट न कदापि मनसा पापकेन पापकः किंचिदपि ध्यातव्यमेवं मन. समितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा।

(ख) 'मणगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? म०—जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्ते ण जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ'। (उत्तराध्ययन सूत्र २९।५३)

छा०—मनोगुप्ततया नु भगवन्! जीव किं जनयति। मनोगुप्ततया जीव ऐकाग्र्यं जनयति। एकाग्रचित्तो नु जीव. मनोगुप्त संयमाराधको भवति। (तत्र मनोनिरोधस्य प्रधानत्वाद्—व्याख्याकारः) तात्पर्य कि मनोगुप्ति से मन की एकाग्रता और एकाग्रता मे मन का निरोध होता है।

आचार्य की लोकोत्तर प्रतिभा का ही आभारी है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने सचमुच ही योगविषयक अपनी उदात्त कल्पना से जैन वाङ्मय मे एक नवीन युग उपस्थित कर दिया है। इसके प्रमाण मे उनके योगदृष्टिसमुच्चय, योगविन्दु, योगविंशिका आदि अनेक ग्रन्थरत्न उपस्थित किये जा सकते हैं। योगदृष्टिसमुच्चय मे आचार्य ने मित्रा, तारा, वला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता प्रभा और परा, इन दृष्टियो मे योग के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विपय को विभक्त करके योग के प्रसिद्ध यमादि आठ अगो का (प्रत्येक दृष्टि मे प्रत्येक अग का) बहुत ही सुन्दर एव सारगर्भित विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त योगविन्दु मे मोक्ष-प्राप्ति के अन्तरग साधक धर्मव्यापार को योग वतलाकर उसके—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता, और (५) वृत्तिसक्षय, ऐसे पाच भेद किये हैं[१] पातजल दर्शन के सप्रज्ञात और असप्रज्ञात नाम के द्विविध योग को इन्ही पाँच भेदो से अन्तर्भुक्त कर दिया है। आचार्य के इन पाँच योगभेदो का सक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है :—

१. अध्यात्मयोग—जैनागमो[२] मे मोक्षाभिलापी आत्मा को अध्यात्मयोगी—अध्यात्मयोग से युक्त होने की वार-वार चेतावनी दी है क्योकि चारित्र-शुद्धि के लिये अध्यात्मयोग के अनुष्ठान की मुमुक्षु आत्मा को नितान्त आवश्यकता है। इसी हेतु से आचार्य ने सवसे प्रथम अध्यात्मयोग का निर्देश किया है। उचित प्रवृत्ति से अणुव्रत-महाव्रत[३] से युक्त होकर मैत्री आदि चार भावनापूर्वक शिष्टवचनानुसार—आगमानुसार—जो तत्त्वचिन्तन करना उसको अध्यात्मयोग कहते हैं।

यहाँ इतना स्मरण रहे कि अध्यात्मयोग की यह उक्त व्याख्या देशविरति नाम के पाँचवे गुणस्थान को—पाँचवी भूमिका को प्राप्त हुए साधक को लक्ष्य मे रखकर की गई है। कारण कि औचित्यपूर्वक—सम्यग्वोधपूर्वक व्रत-नियमादि के धारण करने की योग्यता इस पाँचवें गुणस्थान मे ही प्राप्त होती है। यहाँ पर अध्यात्मयोग

---

१ 'अध्यात्म भावना ध्यान, समता वृत्तिसक्षय.।
मोक्षेण योजनाद्योग, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्' ॥ (३१)
(योगविन्दु—हरिभद्रसूरि)

२ (क) अज्झप्पज्झाणजुत्ते-(अध्यात्मध्यानयुक्त) (प्रश्नव्या० ३ स० द्वा) 'अध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मालम्बन ध्यान चित्तनिरोधस्तेन युक्त' इति व्याख्याकार।

(ख) 'अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवदिट्ठिए ठिअप्पा'।
छा०—(अध्यात्मयोगशुद्धादान उपस्थितः स्थितात्मा) (सूत्रकृताग, अध्ययन १६, सूत्र ३)

३. 'औचित्याद्‌वृत्तयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम्।
मैत्र्यादिभावसयुक्तमध्यात्म तद्विदो विदु' ॥३५७॥ (योगविन्दु)

के तत्त्वचिन्तनरूप लक्षण मे दिये गये औचित्य, वृत्तसमवेतत्व, आगमानुसारित्व और मैत्री आदि भावनासयुक्तत्व, ये चार विशेषण बडे ही महत्व के है। इन पर विचार करने से अध्यात्मयोग का वास्तविक रहस्य भलीभाँति समझ मे आ जाता है। मैत्री आदि चार—(मैत्री, करुणा, मुदिता, और उपेक्षा) भावनाओ (जिनका वर्णन आगे किया जाने वाला है) से भावित होने वाला साधक पुरुष—(१) मैत्रीभाव से—सुखी जीवो के प्रति होने वाली ईर्ष्या का त्याग करता है, (२) करुणा से—दीन दुखी जीवो के प्रति उपेक्षा नही करता है, (३) मुदिता से—उसका पुण्यशाली जीवो पर से द्वेष हट जाता है, और (४) उपेक्षाभावना से—वह पापी जीवो पर से राग-द्वेष दोनो को हटा लेता है। तात्पर्य कि इन उक्त चार भावनाओ के अनुशीलन से साधक आत्मा मे ईर्ष्या का नाश, दया का सचार और राग-द्वेष की निवृत्ति सम्पन्न होती है। इस प्रकार अध्यात्मयोग के स्वरूप को समझकर उसे आत्मसात् करने पर पापो का नाश, वीर्य का उत्कर्ष, चित्त की प्रसन्नता, वस्तुतत्त्व का बोध और अनुभव का उदय[1] होता है। यह अध्यात्मयोग की फलश्रुति है।

(इसके अतिरिक्त अध्यात्मयोग की एक और व्याख्या नीतिवाक्यामृत नाम के ग्रन्थ मे उपलब्ध होती है जो कि उपर्युक्त व्याख्या से सर्वथा विलक्षण है।) यथा[2]—'आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणों ह्यध्यात्मयोग' अर्थात् आत्मा-मन-शरीरस्थ वायु और पृथिव्यादि तत्त्व इनकी समता—समान परिणाम—को अध्यात्मयोग कहते हैं। इस प्रकार का अध्यात्मयोग स्वरोदय ज्ञान मे अधिक उपयोगी हो सकता है, प्रकृतयोग मे यह कम उपयोगी है।

२. **भावनायोग**—अध्यात्मयोग के अनन्तर अब भावनायोग का वर्णन प्राप्त होता है जिसका स्वरूप निर्वचन इस प्रकार है :—प्राप्त हुए अध्यात्म-तत्त्व का बुद्धिसगत—विचारपूर्वक निरन्तर बार-बार अभ्यास-चिन्तन करने का नाम भावनायोग है।[3] आगमो मे भावनायोग की बड़ी महिमा वर्णन की है। सूत्रकृतागसूत्र मे लिखा

---

१. (क) 'सुखीर्ष्या दुखितोपेक्षा पुण्यद्वेपमधर्मिषु।
राग द्वेषौ त्यजेन्नेता लब्ध्वाऽध्यात्म समाचरेत्' ॥७॥

(ख) 'अत. पापक्षय सत्त्व शील ज्ञान च शाश्वतम्।
तथानुभवससिद्धममृत ह्यद एव नु' ॥८॥

(योगभेदद्वात्रिंशिका—३० यशोविजयजी)

(ग) 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु.खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्'। (पात० यो० १।३६)

२. टीका—आत्मा चिद्रूप, मन. प्रसिद्ध, मरुत शरीरस्था वायव., तत्त्व पृथिव्यादि, तेषा सममेकहेलया समतालक्षण स हि स्फुटमध्यात्मयोग कथ्यते।

३. 'अभ्यासोबुद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगत.।' ९ (यो० भे० द्वा०)

है कि भावनायोग से जिसकी आत्मा शुद्ध हो गई है वह साधक, जल मे नौका के समान है और जिस प्रकार किनारे लगने पर नौका को विश्राम मिलता है, उसी प्रकार साधक को भी सर्व प्रकार के दु खो से छुटकारा मिलकर परम शाति का लाभ होता है[१]। जिस प्रकार सतत अभ्यास और निरन्तर चिन्तन से ही समझा हुआ पदार्थ चित्त मे स्थिर रह सकता है, उसी प्रकार अध्यात्मतत्त्व को हृदय-मन्दिर मे स्थिर रखने के लिये उसका दीर्घ काल तक सत्कारपूर्वक सतत चिन्तन करना भी परम आवश्यक है। इस प्रकार के चिन्तन का नाम ही भावना है। इसलिये अध्यात्म-योग का बहुत कुछ तत्त्व भावनायोग पर ही निर्भर है।

यहाँ पर बुद्धिसगत चिन्तनरूप भावना के स्वरूप मे चिन्तन के साथ जो दीर्घकाल आदि तीन विशेषण लगाये गये हैं, वे बडे महत्व के हैं। अनादिकाल से यह आत्मा वैभाविक सस्कारो—कर्मजन्य उपाधियो—से ओतप्रोत हो रही है। इन वैभाविक सस्कारो का विलय आत्मा के स्वाभाविक गुणो के उदय से हो सकता है, और आत्मगुणो का उदय अध्यात्मयोग की अपेक्षा रखता है। अत. उसका दीर्घकाल तक निरन्तर और सत्कारपूर्वक चिन्तन करना परम आवश्यक ठहरता है, जिससे कि अध्यात्मयोग के प्रभाव से लय को प्राप्त होने वाले वैभाविक संस्कारो का फिर से प्रादुर्भाव न होने पावे। और इसमे तो कुछ सन्देह ही नही कि श्रद्धापूर्वक लगन से किया जाना वाला कार्य ही फलप्रद होता है। यही बात महर्षि पतञ्जलि ने समाधि-प्राप्ति के लिए साधन रूप से उपादेय अभ्यास के विषय मे कही है[२]। अध्यात्मयोगी के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वैराग्य, ये पाँच विषय भावना के है। इनकी भावना से वैभाविक सस्कारो का विलय, अध्यात्मतत्त्व की स्थिरता और आत्मगुणो का उदय होता है। इसके अतिरिक्त भावनायोग के प्रसग मे यद्यपि (१) अनित्य, (२) अशरण, (३) ससार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशुचि, (७) आस्रव, (८) सवर, (९) निर्जरा, (१०) लोक, (११) बोधिदुर्लभ और (१२) धर्म, इन बारह भावनाओ का वर्णन भी प्रसगत: प्राप्त हो जाता है, परन्तु विस्तारभय से उसका वर्णन यहाँ स्थगित कर दिया गया है[३]।

---

१ 'भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ' ॥ (१५-५)

छा०—भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिवाहित.।
नौरिव तीरसपन्न, सर्वदु खात् त्रुट्यति ॥

२ 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि'। (पात० योग १-१४)
'बहुकालनैरन्तर्य्येण आदरातिशयेन च सेव्यमानो दृढभूमि—स्थिरीभवति'। (भोजवृत्ति)

३. इसका अधिक विवेचन 'भावनायोग' नामक पुस्तक मे देखना चाहिये।

३. ध्यानयोग—अब तीसरे ध्यानयोग का कुछ स्वरूप वर्णन किया जाता है :—

(क) स्थिर दीपशिखा के समान निश्चल और अन्य विषय के सचार से रहित केवल एक ही विषय का धारावाही प्रशस्त सूक्ष्म वोध जिसमे हो उसको ध्यान कहते है।[1]

(ख) अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एक ही विषय पर चित्त की सर्वथा एकाग्रता अर्थात् ध्येय विषय मे एकाकारवृत्ति का प्रवाहित होना, उसका नाम ध्यान है।

शीलाकाचार्य ने 'ज्झाणजोग समाहट्टु[2]' इस गाथा की व्याख्या करते हुए चित्तनिरोधलक्षण धर्मध्यानादि मे मन, वचन, काया के विशिष्ट व्यापार को ही ध्यानयोग कहा है। (ध्यानम्—चित्तनिरोधलक्षण धर्मध्यानादिक तत्र योगो विशिष्ट-मनोवाक्कायव्यापारस्त ध्यानयोगम्)।

इस साधनयोग मे ध्येयवस्तुविषयक एकाग्रता इतनी बढ जाती है कि साधक को उस समय ध्येय के अतिरिक्त अन्य का आशिक विचार भी उद्भव नही होता। यह ध्यानरूप योगाग्नि जिस आत्मा मे प्रज्वलित होती है उसका कर्मरूप मल (जो आत्मा के साथ चिरकाल से चिपका हुआ है) भस्म हो जाता है[3] तथा उसके प्रकाश से रागादि अन्धकार दूर हो जाता है, चित्त सर्वथा निर्मल हो जाता है और मोक्षमन्दिर का द्वार सामने दिखाई देने लगता है। अधिक क्या कहे ध्यानयोग, यह आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रबलतम साधन है। तथा आत्मस्वातन्त्र्य, परिणामो की निश्चलता और जन्मान्तर के आरम्भक कर्मों का विच्छेद, ये तीन ध्यानयोग के सुचारु फल हैं। ध्यान के भेदो और उनके स्वरूपो का वर्णन अन्यत्र किया जावेगा।

---

१. 'निवायसरणप्पदीपज्झाणमिव निप्पकंपे'। (प्रश्नव्या० सवद्वार ५)

२. यह समग्र गाथा इस प्रकार है—

'ज्झाणजोग समाहट्टु, काय विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्ख परम नच्चा, आमोक्खाए परिवएज्जास'॥ (सूयगडग अ० ८, गा० २६)

छा०—ध्यानयोग समाहृत्य, काय व्युत्सृजेत् सर्वश.।
तितिक्षा परमा ज्ञात्वा, आमोक्षाय परिव्रजेत्॥

३. 'सज्झायसुज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झइ जसि मलं पुरे कड, समीरिय रुप्पमल व जोइणा'॥
(दशवैकालिक अध्य० ८ गा० ६३)

छा०—स्वाध्यायसुध्यानरतस्य त्रायिण, अपापभावस्य तपसि रतस्य।
विशुध्यत्यस्य मल पुराकृतं, समीरितं रूपमलमिव ज्योतिषा॥

४ समतायोग—ध्यान मे अत्यन्तोपयोगी चौथा समतायोग है। अविद्याकल्पित इष्टानिष्ट पदार्थों मे विवेकपूर्वक तत्त्वनिर्णय-बुद्धि से राग-द्वेषरहित होना अर्थात् पदार्थों मे की जाने वाली इष्टत्व-अनिष्टत्व-कल्पना को केवल अविद्याप्रभव समझकर उनमे उपेक्षा धारण करना, समता कहलाती है[1]। उसमे निविष्ट मन, वचन, काया के व्यापार का नाम समतायोग है। अविद्या अथवा मोह के वशीभूत हुआ यह जीव अमुक वस्तु को इष्ट और अमुक को अनिष्ट मानकर इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट मे द्वेष करने लगता है। सौभाग्यवश जब उसमे विवेक-ज्ञान का उदय होता है तब वह इष्ट और अनिष्ट के मर्म को समझ पाता है। विवेक-चक्षु के खुलते ही वह देखता है कि कल जिस वस्तु को उसने अनिष्ट—अप्रिय—जानकर तिरस्कृत किया था आज उसी को इष्ट—प्रिय—समझकर अपना रहा है, इसलिए वास्तव में कोई भी वस्तु स्वयं इष्ट किंवा अनिष्ट रूप नही। वस्तु मे इष्टानिष्टत्व की भावना तो अविवेकप्रभव—अविद्या-कल्पित—है। इस अविद्या के सम्पर्क से ही आत्मा मे पदार्थों के इष्टानिष्टत्व की कल्पना द्वारा हर्ष-शोकरूप विभाव-सस्कारो का उदय होता है जिससे वह आत्मा अपने को सुखी या दुखी मानती है। वस्तुतः ये संस्कार न तो आत्मा के गुण हैं और न ही इनका उससे कोई वास्तविक सम्बन्ध है; आत्मा का वास्तविक रूप तो सत्, चित्, आनन्द, दर्शन, ज्ञान, और चारित्र है (सत्—दर्शन, चित्—ज्ञान और आनन्द—चारित्र है)। इस प्रकार के विवेक-ज्ञान के उदय से आत्मा मे विचारवैषम्य का लय और समभाव का परिणमन होने लगता है। इस सत् परिणाम द्वारा किये जाने वाले तत्त्वचिन्तन को ही समतायोग कहते हैं।

समता, यह आत्मा का निजी गुण है। इसके विकास से आत्मा बहुत ऊंची भूमिका पर चढ जाती है। यहाँ इतना और भी समझ लेना चाहिए कि ध्यान और समता ये दोनो सापेक्ष अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। समता के बिना

---

१ 'अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
सज्ञानात्तद्व्युदासेन समता समतोच्यते'॥ ३६३॥

इसीलिये साधु को शास्त्रो मे आदेश किया गया है कि वह जगत् के समस्त प्राणियो को समभाव से देखे और राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी प्राणी का भी प्रिय अथवा अप्रिय न करे। यथा'—

(क) 'सव्व जग तु समयाणुपेही पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा'।
छा०—सर्वं जगत्तु समतानुप्रेक्षी प्रियमप्रिय कस्यचिन्न कुर्यात्।
(सुयगडग—अ० १०/७)

(ख) 'पण्णसमत्ते सया जए, समताधम्ममुदाहरे मुणी।'
छा०—प्रज्ञासमाप्त. सदा जयेत्, समताधर्ममुदाहरेन्मुनि'।

अर्थात् बुद्धिमान् साधु कषायो को जीते और समभावपूर्वक धर्म का उपदेश करे। (सूयगडग अध्ययन २, उ० २, गा० ६)

ध्यान और ध्यान के बिना समता की पूर्णता नही होती। ये दोनो एक दूसरे के सहकार मे ही विकास को प्राप्त होते हैं, इसलिये ध्यानयोग के साधक को समता-योग की विशेष आवश्यकता है। कारण कि ध्यानयोग मे प्राप्त एकाग्रता की स्थिरता समतायोग के अनुष्ठान पर ही अधिक निर्भर है। समतायोगी की आगमो मे बडी प्रशसा की है; उसको ससार का पूज्य कहा है,[1] क्योकि वह राग-द्वेष की विषम भूमिका को उल्लघन करके वीतरागता की समभूमिका पर आरूढ होने का परम सौभाग्य प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त समता-योगनिष्पन्न साधक को अनेक प्रकार की लब्धियाँ—सिद्धियाँ—प्राप्त हुई होती है, जिनका कि वह अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे प्रयोग कर सकता है। परन्तु समता का साधक योगी इन प्राप्त सिद्धियो के प्रलोभन मे नही फँसता, वह इनकी वास्तविकता को समझता है। ये लब्धियाँ भी कैवल्य-प्राप्ति मे विघ्नरूप ही हैं। इसलिए वह इनका उपयोग नही करता। तथा समतायोग से सूक्ष्मकर्मों का अर्थात् विशिष्टचारित्र—यथाख्यातचारित्र और केवल-उपयोग को आवृत करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहरूप कर्मों का क्षय और अपेक्षातन्तु (आशारूप डोर) का विच्छेद होता है। अपेक्षातन्तु के विच्छेद का तात्पर्य है कि समतानिष्पन्न योगी को ससार मे किसी प्रकार के सुख को प्राप्त करने की अभिलाषा शेष नही रहती। इस प्रकार—१. लब्धियो मे अप्रवृत्ति, २. सूक्ष्मकर्मो—ज्ञान, दर्शन, और चारित्र के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहरूप कर्मों का क्षय तथा ३ अपेक्षातन्तु का विच्छेद, ये तीन समतायोग के विशिष्ट फल है, जिनके आस्वादन से अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

५. वृत्तिसक्षय-योग—पूर्वोक्त चार योगो के बाद अब पाँचवें वृत्ति-सक्षययोग का वर्णन प्राप्त होता है, जिसका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है:—आत्मा मे मन और शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृत्तियो का अपुनर्भावरूप से जो निरोध—आत्यन्तिक क्षय—समूलनाश—होना उसका नाम वृत्तिसक्षययोग है[2]। यह आत्मा स्वभाव से ही निस्तरग महान् समुद्र के समान

---

१. 'विआणिआ अप्पगमप्पएण, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो'।
छा०—विज्ञायात्मानमात्मना यो रागद्वेषयो सम स पूज्य।
(दशवै० अ० ९/११)

२. (क) 'अन्यसयोगवृत्तीना, यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्सक्षयो मत'॥ (योगबिन्दु, ३६६)

वृत्ति—'इह स्वभावत एव निस्तरंगमहोदधिकल्पस्यात्मनो विकल्परूपा परि-स्पन्दनरूपाश्च वृत्तय सर्वा अन्यसयोगनिमित्ता एव। तत्र विकल्परूपास्तथाविधमनो-द्रव्य सयोगात्, परिस्पन्दनरूपाश्च शरीरादिति। ततोऽन्यसयोगे या वृत्तय. तासां यो निरोध तथा तथा-केवलज्ञानलाभकालेऽयोगिकेवलिकाले च। अपुनर्भावरूपेण—पुनर्भवनपरिहारस्वरूपेण। स तु-स पुन. तत्सक्षयो वृत्तिसंक्षयो मत इति।' (पृ० ६३)

निश्चल है। जैसे वायु के सम्पर्क से उसमे तरंगें उठने लगती हैं, इसी प्रकार मन और शरीर के सयोगरूप वायु से उसमे—आत्मा मे—सकल्प-विकल्प और परिस्पन्दन —चेष्टारूप नाना प्रकार की वृत्तिरूप तरगें उठने लगती हैं। इनमे विकल्परूप वृत्तियो का उदय मनोद्रव्यसयोग से होता है और चेष्टारूप वृत्तियाँ शरीरसम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं। इन विकल्प और चेष्टा रूप वृत्तियो का समूलनाश ही वृत्तिसक्षय है। यह वृत्तिसक्षय नामक योग कैवल्य—केवल-ज्ञान—की प्राप्ति के समय और निर्वाण-प्राप्ति के समय साधक को उपलब्ध होता है।

यद्यपि वृत्तिनिरोध अन्य ध्यानादि योगो मे भी होता है, परन्तु सम्पूर्ण वृत्तियो का सर्वथा निरोध तो इसी योग मे संभव है। इसमे इतना विवेक है कि—सयोगकेवलि-अवस्था मे तेरहवे गुणस्थान मे तो विकल्परूप वृत्तियो का समूल नाश होता है और चौदहवें गुणस्थान मे—अयोगकेवलि-दशा मे—अवशेष रही हुई चेष्टारूप वृत्तियाँ भी समूल नष्ट हो जाती हैं। अत विकल्परूप वृत्तियो के सर्वथा निरोध से प्राप्त होने वाला वृत्तिसंक्षययोग, आत्मा की कैवल्य-प्राप्ति का फलरूप सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व और जीवनमुक्त दशा का बोधक है। तथा अवशिष्ट चेष्टारूप वृत्तियो के समूलघात से उत्पन्न होने वाला वृत्तिसंक्षय, उसकी— आत्मा की— निर्वाण-प्राप्तिरूप है जिसे अन्य परिभाषा मे विदेहमुक्ति कहते हैं। इस प्रकार वृत्तिसक्षययोग के—१. कैवल्य-प्राप्ति, २ शैलेशीकरण[1] और ३ मोक्षलाभ, ये तीन फल हैं, जिनमे मानव-जीवन के आध्यात्मिक विकास की पूर्णता पूर्णरूप से निष्पन्न होती है। तथा प्रथम के चार योगो मे आध्यात्मिक उत्क्रान्ति उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती चली जाती है परन्तु उसकी पराकाष्ठा तो इस वृत्तिसक्षय नामक पाँचवें योग में ही उपलब्ध होती है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने मोक्ष-प्रापक[2] (मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला) धर्मव्यापार को योग का लक्षण मानकर उसके पूर्वोक्त पाँच भेद बतलाये हैं और उसका पूर्वसेवा से आरम्भ करके वृत्तिसक्षय मे पर्यवसान किया है। साराश कि पूर्वसेवा से अध्यात्म, अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान और समता, एव ध्यान और समता से वृत्तिसक्षय और वृत्तिसंक्षय से मोक्ष की प्राप्ति कही,

---

(ख) 'विकल्पस्पन्दरूपाणा, वृत्तीनामन्यजन्मनाम्।
अपुनर्भावतो रोध, प्रोच्यते वृत्तिसक्षय'॥
(योगभेद द्वा. २५ उ. यशोविजयजी)

१ योगो—मन, वचन, काया के व्यापारो—के निरोध से मेरु के समान-प्राप्त होने वाली पूर्ण स्थिरता का नाम शैलेशीकरण है (शैलेशो मेरुस्तस्येव स्थिरता सम्पाद्यावस्था सा शैलेशी' औपपातिक सू० सिद्धाधिकार पृष्ठ—११३ अभय-देवसूरि)।

२ 'मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो' (मोक्षेण योजनाद् योगः सर्वोऽपि धर्मव्यापार)।

अत' वृत्तिसक्षय ही मुख्य योग है और पूर्वसेवा से लेकर समता पर्यन्त के सभी धर्मव्यापार साक्षात् किंवा परम्परा से योग के उपायभूत होने से योग कहलाते है। तब इसका फलितार्थ यह हुआ कि जैन-सकेत के अनुसार वृत्तिसंक्षय और पातञ्जल दर्शन के सिद्धान्तानुसार असप्रज्ञात ही मुख्य योग है। कारण कि इसी को ही—वृत्तिसक्षय किंवा असप्रज्ञात को ही—मोक्ष के प्रति साक्षात्—अव्यवहित—कारणता प्रमाणित होती है। इसलिये साक्षात् मोक्षसाधक धर्मव्यापार इस जैनयोग लक्षण से किंवा 'चित्तवृत्तिनिरोध' रूप पातञ्जल योग लक्षण से लक्षित होने वाला वास्तविक योग वृत्तिसक्षय या असप्रज्ञात ही है। इसी योग मे आध्यात्मिक विकास को पराकाष्ठा प्राप्त होती है। परन्तु इस अवस्था तक पहुँचने के लिये साधक को प्रथम और कई प्रकार के साधनो का अनुष्ठान करना पड़ता है। ये साधन भी मुख्य योग के साधक होने से योग नाम से अभिहित किये जाते है। प्रकृत मे ये पूर्वोक्त अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, ये चार है।

महर्षि पतञ्जलि के योगलक्षण का अन्तर्भाव

प्रथम जो यह कहा गया है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग के इन अध्यात्मादि पाँच भेदो मे ही महर्षि पतञ्जलि के सप्रज्ञात और असप्रज्ञात योग को अन्तर्भुक्त करा दिया है, उसका साराश इस प्रकार है —

अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता, इन चार योगो मे तो सप्रज्ञात नामक योग का अन्तर्भाव होता है और वृत्तिसक्षय नाम के पाँचवें योगभेद मे असप्रज्ञात-योग का समावेश होता है। तात्पर्य कि सप्रज्ञात ध्यान और समता रूप[1] है तथा असप्रज्ञात वृत्तिसक्षयरूप है[2]। सप्रज्ञात-समाधि मे राजस तामस वृत्तियो का सर्वथा निरोध होकर केवल सत्त्वप्रधान प्रज्ञाप्रकर्षरूप वृत्ति का उदय होता है और असप्रज्ञात-समाधि मे सम्पूर्ण वृत्तियो का क्षय होकर शुद्ध समाधि से आत्मस्वरूप का अनुभव होता है।

जैनसकेतानुसार यह असप्रज्ञात समाधि दो प्रकार की है—सयोगकेवलिकालभावी और अयोगकेवलिकालभावी। इनमे प्रथम तो विकल्प और ज्ञान रूप मनोवृत्तियो और उनके कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मों के निरोध—क्षय—से उत्पन्न होती है और दूसरी सम्पूर्ण शारीरिक चेष्टारूप वृत्तियो और उनके कारणभूत औदारिकादि शरीरो के क्षय से प्राप्त होती है। पहली मे कैवल्य और दूसरी मे निर्वाणपद की प्राप्ति होती है[3]। इस प्रकार पतञ्जलि के सप्रज्ञात और असप्रज्ञात का उक्त अध्यात्मादि योगपञ्चक मे अन्तर्भाव निष्पन्न हो जाता है।

---

१ 'सप्रज्ञातोऽवतरति ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वत'। (१५, योगावतार द्वा०)

२ 'असप्रज्ञातनामा तु समतो वृत्तिसक्षय'। (२१ यो० द्वा)

३ 'इह च द्विधाऽसप्रज्ञातसमाधि., सयोगकेवलिकालभावी अयोगकेवलिकालभावी च। तत्राद्यो मनोवृत्तीना विकल्पज्ञानरूपाणा तद्बीजस्य ज्ञानावरणाद्युदयरूपस्य

इसके अतिरिक्त उपाध्याय यशोविजयजी ने तो अकेले वृत्तिसंक्षययोग मे ही इन दोनो सप्रज्ञात और असप्रज्ञात योगो का अन्तर्भाव कर दिया है[1]। उनके विचारानुसार आत्मा की जो स्थूल-सूक्ष्म चेष्टाएँ हैं वे ही वृत्तियाँ हैं और उनका कारण कर्म-सयोग की योग्यता है, अत आत्मा की स्थूल-सूक्ष्म चेष्टाएँ और उनके हेतुभूत कर्म-सयोग की योग्यता के अपगम अर्थात् ह्रास—क्रमश हानि—को वृत्ति-सक्षय कहते हैं। यह वृत्तिसक्षय ग्रन्थिभेद से आरम्भ होकर अयोगकेवली नाम के चौदहवें गुणस्थान मे सम्पूर्ण होता है। इसमे आठवें (अप्रमत्त) से बारहवें (क्षीणमोह) गुण-स्थान तक मे प्राप्त होने वाले शुक्लध्यान के प्रथम के दो भेदो—पृथक्त्ववितर्क-सविचार तथा एकत्ववितर्क-अविचार मे सप्रज्ञात-योग का अन्तर्भाव हो जाता है। कारण कि—सप्रज्ञातयोग, निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासरूप ही है, अत वह पर्यायरहित शुद्धद्रव्यविषयक शुक्लध्यान मे अर्थात् एकत्ववितर्काविचार मे अन्तर्भुक्त हो जाता है। और असप्रज्ञात-योग केवलज्ञान की प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक मे आ जाता है। अर्थात् तेरहवें (सयोगी) और चौदहवें (अयोगी) गुणस्थान मे असंप्रज्ञात-योग का अन्तर्भाव हो जाता है। इन दोनो गुणस्थानो मे ज्ञानावरणादि चारो घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से उत्पन्न कैवल्य—केवलज्ञानदशा—मे कर्म-सयोग की योग्यता है और उससे उत्पन्न होने वाली चेष्टारूप वृत्तियो का समूल नाश हो जाता है। यही सर्ववृत्तिनिरोधरूप असप्रज्ञात-योग है। एव उसको जो सस्कारशेष कहा गया है[2] वह भवोपग्राही कर्म के सम्बन्धमात्र की अपेक्षा से समझना चाहिये। साराश कि तेरहवें गुणस्थान मे भवोपग्राही अर्थात् अघाती कर्म का सम्बन्धमात्र शेष रह जाता है। यही सस्कार है। उसी की अपेक्षा से असप्रज्ञात-योग को सस्कारशेष कहा है,

---

निरोधादुत्पद्यते। द्वितीयस्तु सकलाशेषकायादिवृत्तीना तद्बीजानामौदारिकादिशरीर-रूपाणामत्यन्तोच्छेदात् सम्पद्यते'। (यो वि व्या श्लोक ४३१)

१ द्विविधोऽप्ययमध्यात्मभावना-ध्यान-समता-वृत्तिक्षयभेदेन पञ्चधोक्तस्य योगस्य पञ्चभेदेऽवतरति। वृत्तिक्षयो हि आत्मन कर्मसयोगयोग्यतापगम, स्थूलसूक्ष्मा ह्यात्मनश्चेष्टावृत्तय तासा मूलहेतु कर्मसयोगयोग्यता, सा चाकरणनियमेन ग्रन्थिभेदे उत्कृष्टमोहनीयबन्धव्यवच्छेदेन तत्तद्गुणस्थाने तत्तत्प्रकृत्यात्यानीकबन्धव्यवच्छेदस्य हेतुना क्रमशो निवर्तते। तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्काविचाराख्यशुक्लध्यान-भेदद्वये सप्रज्ञात समाधि वृत्त्यर्थाना सम्यग् ज्ञानात् ...निर्वितर्कविचारानन्दास्मिता-निर्भासस्तु पर्य्यायविनिर्मुक्त शुद्धद्रव्यध्यानाभिप्रायेन व्याख्येय। क्षपकश्रेणिपरि-समाप्तौ केवलज्ञानलाभस्त्वसप्रज्ञात समाधि, भावमनोवृत्तीना ग्राह्यग्रहणाकारशालि-नीनामवग्रहादिक्रमेण तत्र सम्यक् परिज्ञानाभावात्। अत एव भावमनसा सज्ञाभावात् द्रव्यमनसा च तत्सद्भावात् केवली नोसज्ञीत्युच्यते। सस्कारशेषत्व चात्र भवोपग्राहि-कर्मांशरूपसंस्कारापेक्षया व्याख्येयम्। मतिज्ञानभेदस्य सस्कारस्य तदा मूलत एव विनाशात्। इत्यस्मन्मतनिष्कर्ष इति दिक्'। (पातञ्ज यो सू वृत्ति १।१८)

२. 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व संस्कारशेषोऽन्य' (यो १/१८) अर्थात् सर्ववृत्ति-

यह समझना चाहिये । क्योंकि इस अवस्था मे मतिज्ञान के भेदरूप संस्कार का मूल से नाश हो जाता है अर्थात् वहाँ वृत्तिरूप भाव मन नहीं रहता। अथवा यो कहो कि केवलज्ञान किंवा असंप्रज्ञात-समाधि के उपलब्ध होने पर वृत्तिरूप भाव मन की आवश्यकता ही नही रहती, मन के द्वारा विचार तो केवल मति और श्रुत ज्ञान मे ही किया जाता है। बाकी के तीन—अवधि, मन पर्यव और केवल-ज्ञानो में उसकी—मन की. आवश्यकता ही नही रहती। इन तीन ज्ञानो मे तो आत्मा को स्वयमेव ही—मन की सहायता के बिना—वस्तुतत्त्व के स्वरूप का यथार्थ भान होने लगता है और चौदहवे—अयोग-केवलिगुणस्थान मे मन, वचन, काया के स्थूल-सूक्ष्म समस्त योगो—व्यापारो—के निरुद्ध हो जाने पर शैलेशीभाव से निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। यही सर्ववृत्तिनिरोधरूप असप्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति के अनन्तर पतञ्जलिप्रोक्त पुरुषार्थशून्य गुणो का प्रतिप्रसव किंवा स्वरूपप्रतिष्ठारूप कैवल्य—मोक्ष—है ।

इस प्रकार वृत्तिसक्षय की इस व्यापक व्याख्या मे योग के समस्त प्रकारो को समन्वित किया गया है ।

(वास्तव मे विचार किया जाय तो महर्षि पतञ्जलि के चित्तवृत्तिनिरोधरूप और हरिभद्रसूरि के वृत्तिसक्षयरूप योगलक्षण मे केवल वर्णन और सकेत शैली की विभिन्नता के अतिरिक्त तात्त्विक भेद कुछ भी नही है ।)

उक्त योगपञ्चक का आगमसम्मत सवरपञ्चक मे अन्तर्भाव तथा अध्यात्म से लेकर वृत्तिसक्षयपर्यन्त योग के उक्त पाँच भेदो का समवायाग सूत्र मे बतलाये गये सवर के १. सम्यक्त्व[1], २ विरति, ३ अप्रमत्तता, ४ अकषायता, और ५ अयोगित्व, इन पाँचो भेदो मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। यथा—सम्यक्त्व और विरति मे अध्यात्म और भावना का, अप्रमत्त और अकषाय भाव मे ध्यान और समता का एवं अयोगित्व मे वृत्तिसक्षय का समावेश हो जाता है। इसलिये यह आगमसम्मत योग का ही विशिष्ट स्वरूप है ।

समितिगुप्तिस्वरूप-विचारणा

जैसे कि प्रथम भी कहा गया है—योग के स्वरूप के योग-निर्णय में मन की समिति और गुप्ति को सब से अधिक विशेषता प्राप्त है। उसके—योग के—चित्तवृत्ति-निरोध-लक्षण मे जो अड़चन प्राप्त होती है उसका निराकरण भी समिति-गुप्ति के यथार्थ स्वरूप को समझ लेने पर ही हो सकता है । समिति—मन समिति मे मन की

निरोध के कारण परवैराग्य के अभ्यास मे सस्कारशेषरूप चित्त की स्थिरता का नाम असप्रज्ञात-योग है—तात्पर्य कि असप्रज्ञात-समाधि मे निरुद्धचित्त की समस्त वृत्तियो का लय हो जाने से सस्कार शेष रह जाता है। 'सर्ववृत्तिप्रत्यस्तसमये सस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसप्रज्ञात ।' (व्यासभाष्य)

१ 'पंच सवरदारा पण्णत्ता तजहा—सम्मत्त, विरई, अप्पमाया, अकसाया, अयोगया ।' (५ समवाय, सूत्र १०)

शुभ-प्रवृत्तिप्रधान है और गुप्ति—मनोगुप्ति मे मन की एकाग्रता और निरोध मुख्य है। इस प्रकार मन के विषय मे समिति-गुप्ति द्वारा सत्प्रवृत्ति, एकाग्रता और निरोध, ये तीन विभाग प्राप्त होते हैं।[1] इनमे अध्यात्म और भावनारूप प्रथम के दो योगो मे तो सत्प्रवृत्तिरूप मन समिति का प्राधान्य रहता है और ध्यान तथा समता योग मे एकाग्रतारूप मनोगुप्ति की मुख्यता है। एव वृत्तिसक्षय नाम के पाँचवें योग मे सम्यक्-निरोधरूप मनोगुप्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था मे निरोधरूप गुप्ति को निम्नलिखित तीन भाव प्राप्त होते हैं —

१ कल्पनाजाल[2] से विमुक्त, २ समभाव मे सुप्रतिष्ठित, और ३ स्वरूप मे प्रतिबद्ध होना। मनोगुप्ति के ये तीनो ही भाव सयोग-केवली और अयोग-केवली नाम के तेरहवें और चौदहवे गुणस्थान मे चरितार्थ होते हैं। इसी प्रकार योगारम्भ मे सत्प्रवृत्तिरूप मन समिति और सप्रज्ञात मे एकाग्रता और असप्रज्ञात मे निरोधरूप मनोगुप्ति प्राप्त होती है। एव निरोधरूप सस्कारशेष असप्रज्ञात मे कल्पना-जाल से निवृत्ति और समभाव मे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और गुणप्रतिप्रसव अथवा स्वरूप-प्रतिष्ठारूप कैवल्य—मोक्ष—दशा मे उसे मनोगुप्ति के निरोधलक्षण परिणाम का स्वरूप प्रतिबद्धता का लाभ होता है। अत योग के स्वरूपनिर्णय मे समिति और गुप्ति को सब से अधिक वैशिष्ट्य प्राप्त है। और वास्तव मे देखा जाय तो समिति-गुप्ति यह योग का ही दूसरा नाम है। इसके स्वरूप मे योग के सभी प्रकार के लक्षण समन्वित हो जाते हैं।

योग का अधिकार

इस प्रकार योग का विवेचन करने के अनन्तर अब उसके अधिकारी के विषय मे भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्रद्धा—योगविषयक अधिकार प्राप्त करने वाले साधक मे सब से प्रथम श्रद्धा का होना परम आवश्यक है। योगमार्ग के पथिक के लिये श्रद्धा से बढकर और कोई उत्तम पाथेय नही है। श्रद्धा, यह सारे सद्‌गुणो की जननी है। इसका आश्रय लेने वाले साधक मे चित्तप्रसाद, वीर्य, उत्साह, स्मृति, एकाग्रता, समाधि और

---

१ 'प्रवृत्तिस्थिरताभ्यां हि मनोगुप्तिद्वये किल।
भेदाश्चत्वारो दृश्यन्ते तत्रान्त्याया तथान्तिम'॥ (२८ यो० भे० द्वा०)

उपाध्याय यशोविजयजी ने मनोगुप्ति के ही शुभप्रवृत्ति और एकाग्रता ये दो विभाग करके अध्यात्म और भावना मे शुभप्रवृत्तिरूप ध्यान और समतायोग मे एकाग्रतारूप मनोगुप्ति मानकर वृत्तिसक्षय मे उसका—मन का—सर्वथा निरोध स्वीकार किया है परन्तु इसकी अपेक्षा मन का आगमसम्मत समिति-गुप्ति द्वारा उक्त विभाग अधिक सगत प्रतीत होता है।

२. 'विमुक्तकल्पनाजाल समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्माराम मनश्चेति मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता'॥ (३० यो भे. द्वा.)

प्रज्ञाप्रकर्षादि साधन, उत्तरोत्तर अपने आप ही प्राप्त होते चले जाते है। माता के समान कल्याण करने वाली यह श्रद्धा, साधक की रक्षा पुत्र की तरह करती है ('सा हि जननीव कल्याणी योगिन पाति' व्या० भा० १-२०)। 'अन्त करण मे विवेकपूर्वक वस्तुतत्त्व, ज्ञेयपदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की जो अभिरुचि—तीव्र अभिलाषा—उसका नाम श्रद्धा है। जैन-परिभाषा मे इसको सम्यग्-दृष्टि किंवा सम्यग्दर्शन के नाम से सम्बोधित किया गया है' ('तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्-दर्शनम्'—तत्वार्थ० १।२) इस सम्यग्दृष्टिरूप श्रद्धागुण की प्राप्ति, किसी साधक को तो स्वत अर्थात् जन्मान्तरीय उत्तम संस्कारो के प्रभाव से अपने आप ही हो जाती है और किसी को सत्-शास्त्रो के अभ्यास अथवा योग्य गुरुजनो या उत्तम पुरुषो के सहवास से होती है।

अस्तु, साधक की आत्मा मे सत्यदृष्टि के उदय होते ही शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये पाँच सद्गुण[1] उसमे अपने आप ही आ उपस्थित होते है। तात्पर्य कि ये पाँचो, शुद्ध श्रद्धा किंवा सम्यग्दर्शन के परिचायक है। जहाँ पर ये होगे वहाँ पर सम्यग्दर्शन अवश्य होगा अर्थात् साधक के हृदय की शुद्ध श्रद्धा को परखने के लिए ये पाँचो सद्गुण कसौटी का काम देते है। जहाँ पर ये नही, वहाँ पर श्रद्धा नही किन्तु श्रद्धाभास है, सम्यग्दर्शन नही अपितु उसका ढोग है।

(१) सम—उदय हुए क्रोध, मान, माया आदि तीव्र कषायो का त्याग शम कहलाता है।

(२) सवेग—मोक्ष विषयक तीव्र अभिलाषा का नाम सवेग है।

(३) निर्वेद—सासारिक विषय-भोगो मे विरक्ति अर्थात् उनको हेय समझकर उनमे अनादरवृत्ति रखना निर्वेद है।

(४) अनुकम्पा—दु खी जीवो पर दया करना अर्थात् किसी प्रकार का स्वार्थ न रखते हुए दु खी प्राणियो के दु ख को दूर करने की इच्छा और तदनुकूल प्रयत्न करने को अनुकम्पा कहते हैं।

(५) आस्तिक्य—सर्वज्ञ-कथित पदार्थो मे शकारहित होना अर्थात् पूर्ण विश्वाश करना आस्तिक्य है[2]। इन पाँच कारणो से आत्मगत सम्यक्त्व की पहचान होती है अर्थात् उसके अस्तित्व का बोध होता है।

नोट—आगमो मे स्पष्ट लिखा है कि सशयात्मा को समाधि की प्राप्ति नही

---

१ 'कृपाप्रशमसवेगनिर्वेदास्तिक्यलक्षणा ।
गुणा भवन्तु यच्चित्ते स स्यात् सम्यक्त्वभूषित'।
(गुणस्थान क्रमारोह श्लोक २१)

२ 'श्रीसर्वज्ञप्रणीतसमस्तभावानामस्तित्वनिश्चयचिन्तनमास्तिक्यम्।
(गुणस्थान क्रमारोह श्लोक २१ की वृत्ति)

होती। यथा—'वितिगिंछ समावण्णेण अप्पाणेणं णो लभति समाधिं' (आचाराग अ० ५, उ० ५)—(छा.) विचिकित्सा समापन्नेनाऽऽत्मना नो लभ्यते समाधि)।

त्याग—श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरा गुण त्याग है। योग-मार्ग मे प्रयाण करने वाले साधक मे श्रद्धा की भाँति त्याग-वृत्ति का होना भी परम आवश्यक है। जब तक हृदय मे त्याग-वृत्ति की भावना जागृत नही होती तब तक योग मे अधिकार प्राप्त होना दुर्घट है। त्याग-वृत्ति मे एपणाओ का त्याग ही प्रधान[1] है। लोकेपणा, पुत्रेषणा और धनादि की एपणा, ये तीनो ही एपणाएँ—इच्छाएँ योग-प्राप्ति मे—जीवन के आध्यात्मिक विकास मे प्रतिबन्धक—विघ्नरूप—है। इससे योगविघातक विपय-कषायो को अधिक पोपण मिलता है। अत योग के अधिकारी को इन एषणाओ का परित्याग अवश्य कर देना चाहिए। इनके परित्याग से सासारिक विषयभोगो के उपभोग की लालसा के क्षीण हो जाने पर साधक को योगविपयक अधिकार स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।

भावशुद्धि—योग-प्राप्ति का सब से अधिक आवश्यक उपाय भावशुद्धि है। इसके विना साधक की कोई भी योगक्रिया सम्पन्न और फलप्रद नही हो सकती। क्रिया और भाव का शरीर और आत्मा जैसा सम्बन्ध है। क्रिया शरीर और भाव आत्मा है। आत्मा के बिना शरीर जैसे चेष्टाशून्य होकर किसी काम का नही रहता है; उसी प्रकार भावशून्य क्रिया भी निरर्थक अथच इच्छित फल को देने वाली नही हो सकती है। अन्तरग आशय का ही दूसरा नाम भाव है। उसकी निर्मलता ही भावशुद्धि है। शुभ अध्यवसाय भी इसी का नामान्तर है।

इस प्रकार शुद्ध श्रद्धा, त्यागवृत्ति, और भावशुद्धि, इन सद्‌गुणो के उपार्जन से साधक-जीव को योगाधिकार सम्प्राप्त होता है। अर्थात् वह योगसाधन का अधिकारी बन जाता है।

योगप्राप्ति अथवा आध्यात्मिक विकास का आरंभ काल

अविद्या या मोह के प्रभाव से जन्म-मरण की परम्परारूप ससार-चक्र मे घटिका-यन्त्र की भाँति भ्रमण करते हुए इस जीवात्मा को कल्पनातीत समय व्यतीत हो चुका है जो कि शास्त्रीय परिभाषा मे अनादि शब्द से व्यक्त किया गया है। इस कर्मसयोगजन्य अनादिप्रवाहपतित आत्मा पर से सौभाग्यवश जब अविद्या अथवा मोह का प्रभाव कम होना आरम्भ होता है तभी से योगप्राप्ति अथवा आध्यात्मिक विकास के आरम्भ का बीजारोपण हो जाता है। और वह चरम-अन्तिम-पुद्‌गल-परावर्त जितना समय शेष रहने पर होता है। इससे प्रथम समय—(जिसमे यह आत्मा सदा अविकसित अवस्था मे ही रहती है) अचरमपुद्‌गल-परावर्त कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा की इस जन्म-मरण-परम्परा के समाप्त होने मे जब

---

१. 'णो लोगस्सेसण चरे' —(आचा. अ० ४, उ. १, सू. २२६)।

अन्तिम पुद्गलपरावर्त जितना समय बाकी रह जाता है तब उसमे योगप्राप्ति या आध्यात्मिक विकास के क्रम का आरम्भ होता है। जो क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ परिपूर्णता को प्राप्त होता है। यही योग-प्राप्ति का आरम्भिक काल है। योग-प्राप्ति की इस आरम्भिक दशा मे ही आत्मा के ज्ञानादि स्वाभाविक गुणो मे विकासोन्मुखता का प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण मोह से प्रभावित होने के स्थान मे वह उसके ऊपर अपना प्रभाव जमाना आरम्भ कर देती है। अतएव उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति प्राशस्त्य और ऊपर दर्शाये गये योगाधिकारी के गुणो से ओतप्रोत होती है।

योगनिष्णात गुरु की आवश्यकता

अब योग के विषय मे सब से अधिक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय जो बात है उसकी ओर भी पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है। वह है सद्गुरु की प्राप्ति। यो तो व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रत्येक विषय का यथार्थानुभव प्राप्त करने के लिये योग्य अनुभवी गुरु की आवश्यकता रहती ही है, परन्तु योग के विषय में तो योगनिष्णात गुरु की असाधारणरूप मे आवश्यकता है। कारण कि योग-साधना का विषय व्यावहारिक अनुभवरूप है जो मार्गदर्शक योगनिष्णात गुरुजनो के साहचर्य के विना कथमपि उपलब्ध नही हो सकता। योग और उसके अगो मे प्राप्त होने वाले आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधि के व्यावहारिक स्वरूप का अनुभव तब तक नही हो सकता जब तक कि गुरु उसके तत्त्व का व्यावहारिक प्रयोगात्मक शिक्षण न दे सके। इसके अतिरिक्त सद्गुरु के विना किये जाने वाले योगानुष्ठान मे लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सभावना रहती है। आसन और मुद्रा का ज्ञान तो असाधारणरूप से गुरुजनो के व्यावहारिक शिक्षण की अपेक्षा रखता है। इसलिये योग की अभ्यासी आत्मा को योग निष्णात गुरुजनो का साहचर्य सब से अधिक उपादेय है।

उपसंहार

योग-विषय मे प्रवेश करने के लिये जिन उपयोगी विषयो का प्रथम ज्ञान होना आवश्यक है उनका यह सक्षिप्त वर्णन उपोद्घात के नाम से पाठको के समक्ष उपस्थित कर दिया है। इस विषय मे इतना और स्मरण रखना चाहिये कि समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त वाले साधक को तो समाधियोग-ध्यानयोग ही अनुष्ठेय है और व्युत्थानचित्त-विक्षिप्तचित्त को प्रथम चित्त के मलविक्षेप को दूर करने के लिये क्रियायोग का अनुष्ठान करना पड़ता है। अत समाधि और क्रियारूप से लक्षित होने वाले द्विविध योग मे समाहित और विक्षिप्त दोनो प्रकार के साधको को मर्यादित अधिकार सम्प्राप्त है।

आशा है कि योगविषयक सक्षेपरूप से किये गये इस उपोद्घात से योग-विषय मे प्रवेश करने के लिये पाठको को कुछ न कुछ सुविधा अवश्य प्राप्त होगी।

—उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम

अभिनन्दनम्

मानव विश्व के जीव-जगत् का सर्वोत्तम प्राणी है। भारत के पुरातन धर्मशास्त्रो की दृष्टि मे वह स्वर्ग के दैवी जीवन से भी महत्तर है। देव भी स्वर्गानन्तर मानव होने की आकाक्षा रखते हैं।

मानव बाहर मे दृश्यमान केवल एक मृत्पिण्ड नही है। वह अनन्त चिच्छक्ति का स्रोत है। आध्यात्मिक, मानसिक तथा शारीरिक आदि अनेकानेक दिव्य सिद्धियो का अमृत निर्झर है वह।

प्रश्न है—"यदि वस्तुत सचमुच मे मानव ऐसा ही है, तो फिर वह आज क्यो विपन्न स्थिति मे से गुजर रहा है? क्यो वह श्रीहीन, दीन एव हीन हो रहा है? आज कहा लुप्त हो गया है उसका वह देवाऽभिलषित देवाधिदेवत्व? आज तो वह अमृतनिर्झर नही, विषनिर्झर ही हो रहा है।"

आज के मानव की दिव्य चेतना सर्वाधिक क्षोभ एव आक्रोश मे, भय एव प्रलोभन मे जी रही है। एक-से-एक नये प्रलयकर शस्त्रो की होड लगी है, विज्ञान की नित नयी विनाशक आसुरी उपलब्धियो की खोज हो रही है। राजनैतिक दांवपेच, छल-प्रपच, अराजकता एव अव्यवस्था आदि से सामाजिक जीवन सब ओर चौपट हो रहा है।

जाति, कुल, वश, देश, प्रान्त, धर्म एव अन्य विभेदो एव क्षुद्र स्वार्थों के रूप मे आये दिन होने वाले वैर, विद्वेष, घृणा, तिरस्कार, हत्या, चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार, मुक्त कामुकता, बलात्कार आदि आसुरी-राक्षसीवृत्ति के सिवा आज के मानव के पास क्या बचा है देवत्व एव मनुष्यत्व जैसा कल्याणम्-मगलम्। आज मानव को न दिन मे अमन-चैन है, न रात मे। न घर मे सुख-शान्ति है, न बाहर मे। लगता है, एक दावानल जल रहा है और मानव जाति उसमे झुलसती जा रही है। सब ओर तनाव है, दबाव है। मन-मस्तिष्क नानाविध कुण्ठाओ से आक्रान्त है।

उक्त सभी द्वन्द्वो एव समस्याओ का एक ही समाधान है कि मानव अपने स्वरूप को भूल गया है, अत उसे पुन अपने मूल स्वरूप की स्मृति होनी चाहिए। मैं कौन हूँ और वह कौन है, जड-चेतन से सम्बन्धित ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन के यथार्थ उत्तर मे ही मनुष्य की महत्ता का समाधान है। अपने अन्तर् के सोये हुए देवत्व को जगाये बिना अन्य कोई गति नही है। मानवीय मूल्यो का जिस तीव्र गति से ह्रास हो रहा है, उसे यदि रोकना है और दृढ स्तर पर उनको पुन प्रतिष्ठापित करना है, तो भौतिक वासनाओ एवं आकाक्षाओ के सघन तमस् से चेतना को मुक्त करना होगा।

पुरातन अतीत मे भी यथाप्रसंग इस दिशा मे प्रयत्न होते रहे है। धर्म परम्पराओ ने कभी बहुत अच्छे निर्देशन दिये थे, मानव को मानव के रूप मे मानवता के सत्पथ पर गतिशील होने के लिए। पर-लोक से सम्बन्धित नरक-स्वर्ग आदि के उत्तेजक एव प्रेरणाप्रद उपदेश, व्रत, नियम, तप, पर्वाराधन आदि के ऐसे अनेक धार्मिक क्रियाकाण्ड रहे हैं, जिन्होने मानव जाति को पापाचार से बचाया है और स्वपर-मगल के कर्म पथ पर चलने के लिए प्रेरित किया है। किन्तु विगत कुछ दशाब्दियो मे विज्ञानप्रधान युग परिवर्तन से मानव के चिन्तन मे ऐसा कुछ मोड आया है कि वे पुराने धार्मिक क्रियाकलाप आज की मानसिक रुग्णता के निराकरण मे कारगर उपाय सावित नही हो रहे है। आज का मानव परलोक से हटकर इहलोक मे ही प्रत्यक्षतया कुछ मनोऽभिलषित भव्य एव शुभ पा लेना चाहता है। यही कारण हैं कि आज प्राय सव ओर योग का स्वर मुखरित हो रहा है। देश मे ही नही, सुदूर विदेशो तक मे योग के अनेक केन्द्र स्थापित हो रहे हैं, जहाँ योगासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि के प्रयोग किये जा रहे है। योग की प्राक्तन शास्त्रीय विधाओ के साथ अनेक नई विधाएँ भी प्रचार पा रही है।

योग, जैसा कि कुछ साधारण लोग समझते हैं, साधना के क्षेत्र मे प्रस्तुत युग की कोई नई विधा नही है। योग भारतीय साधना मे अन्यत्र कही का नवागत अतिथि नही, चिर पुरातन है। पुरातन युग मे तप, जप, व्रत नियमादि के साथ योग भी सहयोगी रहता था। हर साधना को विकल्पमुक्त एव अन्तर्निष्ठ करने के लिए एकाग्रता के प्रति गुरु का उद्‌वोधन निरन्तर चालू रहता था, फलत. साधक जल्दी ही अभीष्ट की भूमिका पर पहुँच जाता था। परन्तु मध्ययुग मे आते-आते साधक व्रत, नियम, तप, जप आदि वाहर के प्रदर्शनप्रधान स्थूल क्रियाकाण्डो मे ही उलझकर रह गये। चिन्तन की सूक्ष्मता के अभाव मे योग से सम्बन्धित साधना की सूक्ष्मता तिरोहित होती गई। साधक का मन साम्प्रदायिक वन गया और उसके फलस्वरूप कुछ वधे-वंधाये साम्प्रदायिक क्रियाकाण्डो की पूर्ति मे ही वह सन्तुष्ट होकर बैठ गया।

अत आज के युग मे योग साधना का कोई नया प्रयोग नही है अपितु विस्मृत हुए योग का पुनर्जागरण है। अनास्था के इस भयकर दौर मे आस्था की पुन प्रतिष्ठा के लिए योग सर्वात्मना द्वन्द्वमुक्त एक सात्विक साधन है। योग अन्तरात्मा मे परमात्मभाव को तो जगाता ही है, राग-द्वेषादि विकल्पो के कुहासे से आवृत चेतना को तो निरावरण करता ही है, साथ ही मानव के वैयक्तिक, सामाजिक दायित्वो को भी परिष्कृत करता है। चित्त का वेतुका दिशाहीन विखराव ही समग्र द्वन्द्वो का मूल है। यह विखराव व्यक्ति को किसी एक विचार, निर्णय एवं कर्म के केन्द्र पर स्थिर नही होने देता। मानव मन की स्थिति हवा मे दिशाहीन इधर-उधर उडती रहने वाली कटी हुई पतग के समान हो जाती है। अत. इसी सन्दर्भ मे अनु-

त्तरयोगी वीतराग भगवान् महावीर ने कहा था—'अणेग चित्ते खलु अयं पुरिसे'—यह मनुष्य अनेकचित्त है, उसे एकचित्त होना चाहिए। यह एकचित्तता योग का ही सुपरिणाम है। योग साधना व्यक्ति को यथाप्रसग शीघ्र एव सही निर्णय पर पहुँचाती है। पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर सार्वजानिक निर्णयो के समय मे भी प्रसन्नता के साथ अनेको को एक दिशा देती है। मतभिन्नता मे भी उद्विग्नता, खिन्नता एव उत्तेजना का उद्भव नही होने देती है, जिसके फलस्वरूप विग्रह, कलह, वैर तथा तज्जन्य हिंसा आदि की मानसिक विकृतियाँ परस्पर के पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो को प्रदूषित नही कर पाती है। योग वस्तुत व्यक्ति को देश एव समाज का एक अच्छा विवेकशील सभ्य नागरिक बनाता है, साथ ही आध्यात्मिक दिशा मे भी उसे विकास के उच्चतम शिखरो पर पहुँचाता है।

प्रसन्नता है, महामहिम वाग्देवतावतार स्व० आचार्यदेव पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज की योग पर, एव योग की युग-युगीन उपयोगिता एव अपेक्षा पर, बहुत पहले ही सूक्ष्म दृष्टि पहुँच गई थी। योग के सन्दर्भ मे उनकी महत्त्वपूर्ण सुकृति "जैनागमो मे अष्टाग योग" उ.. मगलमयी दृष्टि का सुफल है। स्व० आचार्यदेव केवल लेखन के ही शाब्दिक योगी नही थे, अपितु अन्तरात्मा की गहराई मे उतरे हुए सहज स्वयसिद्ध योगी थे। लम्बे समय तक ग्रामानुग्राम विहार एव चातुर्मास आदि मे आचार्यश्री के सर्वाधिक निकट सम्पर्क का सुयोग मुझे मिला है। मैंने देखा है उन्हें ध्यानमुद्रा मे अन्तर्लीन समाधिभाव मे। कितना स्वच्छ, निर्मल क्षीर सागर-जैसा जीवन था उनका। उनका साधुत्व ऊपर से ओढा हुआ साधुत्व नही था। वह था अन्तश्चेतना मे समुद्भूत हुआ स्वत.सिद्ध साधुत्व। उनके मन, वाणी और कर्म सब पर योग की दिव्य ज्योति प्रज्वलित रहती थी। अत. योग के सम्बन्ध मे आचार्यदेव की प्रस्तुत रचना शास्त्रीय आधारो पर तो है ही, साथ ही अनुभूति के आधार पर भी है। यही कारण है कि रचना केवल कागजो को ही स्पर्श करके न रह गई, अपितु उसने बिना किसी साम्प्रदायिक भेद-भावना के जन-जन के जिज्ञासु-मन को स्पर्श किया है। यही हेतु है कि प्रस्तुत रचना अपने परिवर्धित, परिष्कृत एक नवीन सुन्दर सस्करण के रूप मे योग-जिज्ञासु जनता के समुत्सुक नयन एव मन के समक्ष पुन समुपस्थित है।

आचार्यश्री के ही अन्य अनेको लेखो के विस्तृत चिन्तन के आधार पर ही प्राय प्रस्तुत सस्करण परिवर्द्धित एव परिष्कृत हुआ है। प्रस्तुत सस्करण के सम्पादन मे आचार्यदेव के ही पौत्र शिष्य नवयुग सुधारक, जैन विभूषण, उपप्रवर्तक श्री भण्डारी पदमचन्द्रजी की प्रेरणा से उनके अपने ही यशस्वी शिष्यरत्न प्रवचनभूषण, श्रुतवारिधि श्री अमरमुनिजी का जो चिरस्मरणीय महत्त्वपूर्ण योगदान है, तदर्थ मुनि श्री शत-शत साधुवादार्ह है। पूर्वज अग्रजनो का ऋण वैसे तो कभी मुक्त होता नहीं हैं, परन्तु जनमगल के लिए उनकी दिव्य वाणी के प्रचार-प्रसार का यदि किसी भी

अंश मे, कुछ भी प्रयत्न किया जाए, तो वह ऋण-मुक्ति नहीं तो ऋणमुक्ति के रूप मे एक अनुकरणीय आदर्श श्रद्धाजलि तो अवश्य है ही। अत मै श्री अमरमुनिजी के यशस्वी भविष्य के लिए मगलमूर्ति प्रभु महावीर के श्रीचरणो मे अभ्यर्थना की प्रिय-मुद्रा मे हूँ। साथ ही सम्पादन कला के मर्मज्ञ विश्रुत मनीषी श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' का योगदान भी प्रस्तुत सस्करण का स्पृहणीय अलकरण है। अत वे भी हृदय से धन्यवादार्ह हैं।

पुस्तक तीन खण्डो मे विभक्त है, और साथ मे अन्य अनेक ज्ञानवर्धक परि-शिष्ट भी है। एक प्रकार से जैन-जैनेतर दोनो ही परम्पराओ के योग-सम्बन्धी चिन्तन का यह एक उपादेय सकलन है। योग का स्वरूप, योग की पुरातन और नूतन प्रक्रियाएँ एव विधाएँ, अन्तरग तथा बहिरग फलश्रुतियाँ—प्राय योग का सांगोपाग समग्र विवेचन इस एक ही पुस्तक मे उपलब्ध है। इसीलिए मै प्रस्तुत मे योग-सम्बन्धी विधि-विधानो के विवेचन मे अवतरित नही हुआ हूँ। जब पुस्तक मे वह सब विवेच्य विषय उपलब्ध है, तब अलग से वही पिष्टपेषण करने से क्या लाभ है? योग से सम्बन्धित जिज्ञासाओ की पूर्ति प्रस्तुत पुस्तक से सहज ही सभावित है। अत मैं जिज्ञासु पाठको को साग्रह निवेदन करूँगा कि वे आचार्यश्री की वाणी का लाभ उठाएँ, और जीवन को आध्यात्मिक एव सामाजिक सभी पक्षो से परिष्कृत एवं मार्जित करें। देवत्व का अभाव नही है मानव मे। अपेक्षा है केवल उस सुप्त देवत्व को जागृत करने की। और वह जागरण आचार्यश्री की प्रस्तुत महनीय कृति के अध्ययन, चिन्तन, मनन और तदनुरूप समाचरण से निश्चितरूपेण साध्य है"।

वीरायतन, राजगृह
१४ अगस्त १९८३

—उपाध्याय अमर मुनि

□□

अपूर्व भेंट

योग आत्म-साक्षात्कार की सर्वोत्तम विद्या है। जीवन को मॉजने और संवारने की कला है। यह आध्यात्मिक साधना का मेरुदण्ड है जिसके बिना भौतिक विज्ञान की प्रगति अधूरी है। भौतिक विज्ञान जिन प्रश्नो के सम्बन्धों मे मौन है, योग उन सभी जटिल प्रश्नो का समाधान करता है। वह मानव को बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाता है, ममता के स्थान पर समता समुत्पन्न करता है, भोग के स्थान पर त्याग की भावना उद्‌बुद्ध करता है, वह आत्मा से परमात्मा, नर से नारायण बनाता है, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा असत् से सत् की ओर ले जाता है।

योग स्वस्थ जीवन जीने की पद्धति है। वह तन और मन पर अनुशासन करता है जिससे शारीरिक और मानसिक तनाव नष्ट होते हैं और जीवन में सद्‌विचारो के सुगन्धित सुमन महकने लगते है। परम् आल्हाद का विष है कि स्वर्गीय आगम रत्नाकर आचार्य प्रवर आत्मारामजी महाराज का योग विषयक एक महान ग्रन्थ प्रकाश मे आ रहा है। सम्पादक-द्वय ने अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से ग्रन्थ का सम्पादन कर भारती भण्डार मे अपूर्व भेंट दी है, तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मदनगंज, किशनगढ —उपाध्याय पुष्कर मुनि

(अध्यात्मयोगी संत)

एक अवलोकन

'योग' वर्तमान विश्व का सर्वाधिक उपयोगी विषय है। विज्ञान के द्वारा नितनई उपलब्धियाँ प्राप्त करने के पश्चात भी मानव का अन्तर्मानस व्यथित है। उसे यह अनुभव हो रहा है कि जो उसे प्राप्त होना चाहिये था वह उसे आज तक प्राप्त नही हुआ है। भौतिक सुख-सुविधाओ के अम्बार लगने पर भी मन मे शान्ति नही है। सामाजिक सुरक्षा और उच्च शैक्षणिक योग्यता प्राप्त करने के बावजूद भी अन्तर् मे गहरी रिक्तता है। आज का मानव शाति का पिपासु है, शाति के अभाव मे वह स्वय टूटता जा रहा है। आज जितने अविकसित देश-निवासी व्यक्ति व्यथित नही हैं उनसे कही अधिक पीडित है सभ्य और विकसित, शिक्षित देशो के निवासी। शारीरिक दृष्टि से नही अपितु मानसिक दृष्टि से वे सन्त्रस्त है, उनमे स्नायविक तनाव इतना अधिक है कि नशीली वस्तुओ का उपयोग करने पर भी नीद का अभाव है। वे जीवन से हताश-निराश होकर अब योग की ओर आकर्षित हुए है, उन्हे लग रहा है कि भोग से नही योग से ही हमे सच्ची शांति प्राप्त होगी।

सचमुच योग जीवन का विज्ञान है, वह जीवन के छिपे हुए रहस्यो को खोजता है/खोलता है। स्वस्थ जीवन, संतुलित मन और जागृत आत्मशक्तियो को अधिकाधिक विकसित करता है। सक्षेप मे योग साधना की वह पद्धति है जिसमे आचार की पवित्रता, विचारो की निर्मलता, ध्यान की दिव्यता और तप की भव्यता है। योग का लक्ष्य है मनोविकारो पर विजय-वैजयन्ती फहरा कर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करना। भले ही परम्परा की दृष्टि से शब्दो मे भिन्नता रही हो, भाषा और परिभाषा मे अन्तर रहा हो, किन्तु जहाँ तक तथ्यो का प्रश्न है वहाँ कोई अन्तर नही है। उपनिषद् साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर सहज ही ज्ञात होता है कि ब्रह्म के साथ साक्षात् कराने वाली क्रिया योग है, तो श्रीमद्गीताकार के अनुसार कर्म करने की कुशलता योग है। आचार्य पतञ्जलि के मन्तव्यानुसार चित्तवृत्तियो का निरोध ही योग है। बौद्धदृष्टि से बोधिसत्व की उपलब्धि कराने वाला योग है तो जैन दृष्टि से आत्मा की शुद्धि कराने वाली क्रिया योग है। इस प्रकार आत्मा का उत्तरोत्तर विकास करने वाली साधना पद्धति योग के रूप मे विश्रुत रही है।

चित्त की वृत्तियाँ मानव को भटकाती हैं और योग चित्तवृत्तियो की उच्छृ खलता को नियन्त्रित करता है। वह उन वृत्तियो को परिष्कृत और परिमार्जित करता है। जब योग सधता है तब विवेक का तृतीय नेत्र समुद्घाटित हो जाता है जिससे विकार और वासनाएँ नष्ट हो जाती है। उस साधक का जीवन पवित्र बन जाता है। यह स्मरण रखना होगा कि योग वाणी का विलास नही है और न कमनीय कल्पना की गगनचुम्बी उड़ान ही है और न ही दर्शन की पेचीदी पहेली है। यह

न्तो जीवन जीने का भाष्य है। योग वर्णनात्मक नहीं, प्रयोगात्मक है। योग साहित्य तो आज विपुल मात्रा मे प्रकाशित हो रहा है पर योग साधना करने वाले सच्चे और अच्छे साधको की कमी हो रही है। योग के नाम पर कुछ गलत साहित्य भी प्रकाश मे आया है जो साधको को गुमराह करता है। योग के नाम पर जिसमे भोग की ज्वालाएँ धधक रही हैं। दुख है, हमारे देश में ऐसी जघन्य स्थितियाँ पनप रही है। योग की विशुद्ध परम्परा के साथ कितना घृणित खिलवाड़ हो रहा है। अभ्यास के द्वारा कुछ अद्‌भुत करिश्मे दिखा देना योग नहीं है। पेट पालने के लिए कुछ नट और मदारी भी ऐसा प्रयास करते है। योग तो आत्मिक-साम्राज्य को पाने का पावन पथ है। योग के सधते ही अन्तर्विकार अंधकार की तरह नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं। आन्तरिक अगो के साथ आसन, प्राणायाम प्रभृति वाह्य अगो की भी उपादेयता है। आज आवश्यकता है योगविद्या को विकसित करने की। अनुभवी के मार्ग-दर्शन के विना योग मे सही प्रगति नही हो सकती; विना गुरु के योग के गुर नही मिल सकते।

महामहिम आचार्य प्रवर स्वर्गीय आत्माराम जी महाराज वाग्देवता के वरदपुत्र थे। वे जिस किसी भी विषय को स्पर्श करते तो उसके तलछट तक पहुँचते थे जिससे वह विषय मूर्धन्य मनीषियो को ही नहीं, सामान्य जिज्ञासुओ को भी स्पष्ट हो जाता। वे केवल शब्दशिल्पी ही नही थे अपितु कर्मशिल्पी एव भाव-शिल्पी भी थे। "जैनागमो में अष्टागयोग" आचार्य प्रवर की अद्‌भुत कृति है। उन्होने जो कुछ भी लिखा है, अनुभूतियो के आलोक मे लिखा है। यह ऐसी अमूल्य कृति है जो कभी भी पुरानी और अनुपयोगी नही होगी। योग के अनेक अज्ञात/अजाने रहस्य इसमे उद्‌घाटित हुए है जो जिज्ञासु साधको के लिए उपयोगी ही नही परमोपयोगी है। इस महान कृति को प्रकाश मे लाने का श्रेय है—अमर मुनिजी को, जो एक प्रतिभासपन्न, प्रवचन-कला-प्रवीण मुनि हैं। जब वे प्रवचन करते है तो श्रोता झूम उठते है। उनकी सम्पादन कला के साथ श्रीचन्द सुराना की की कलम ने कमाल दिखाया है। सुरानाजी कलम-कलाधर है। उनकी कलम का जादू ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर मुखरित हुआ है, अत सम्पादक-द्वय साधुवाद के पात्र है। यह एक ऐसी ऐतिहासिक देन है जो युग-युग तक आलोक प्रदान करती रहेगी।

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

जैन स्थानक,
मदनगज—किशनगढ
५ सितम्बर १९८३

□□

सादर अर्थ सौजन्य
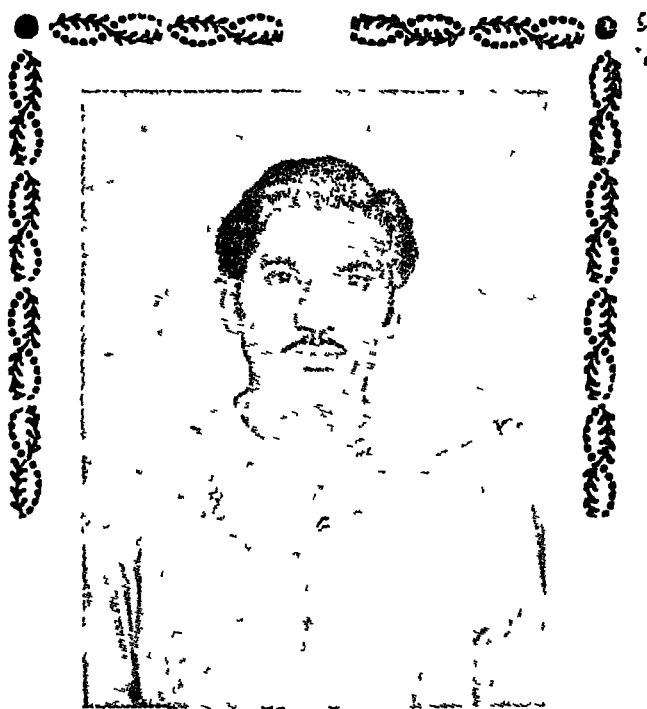
लाला श्री दीवानचन्द जैन

मण्डी गीदडबाहा (पंजाब)

आप एक बहुत ही भावनाशील उदार हृदय के धर्मप्रेमी सज्जन है। समाज सेवा तथा धर्म कार्यों मे सदा उदारता पूर्वक सहयोग प्रदान करते रहते है। आपके पिता जी का नाम लाला तेजराजजी जैन और माताजी का नाम भागवंतीदेवी जैन है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती शान्तीदेवी जैन बड़ी धार्मिक विचारों की है। आपके दो सुपुत्र है—श्री विनोदकुमार जैन एवं दीपककुमार जैन।

गुरुदेव श्री भण्डारी जी महाराज तथा प्रवचन-भूषण हरियाणा केसरी श्री अमरमुनिजी के प्रति आपकी गहरी श्रद्धा भक्ति है। इस पुस्तक प्रकाशन में आपने उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है। तदर्थ शत-शत धन्यवाद।

धर्मप्रेमी गुरुभक्त

लाला धनपतराय जैन

श्री गंगानगर (राजस्थान)

आप बडे ही सरल और धर्मप्रेमी उदार गृहस्थ है।
आपकी धर्मपत्नी एव सुपुत्र आदि सभी,
गुरुदेव श्री पदमचन्द जी महाराज 'भण्डारी'
तथा
प्रवचन भूषण श्रुतवारिधि हरियाणा केसरी
श्री अमरमुनि जी महाराज
के प्रति बहुत ही भक्ति भाव रखते है

तथा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों मे उदारतापूर्वक सहयोग देते रहते हैं।
प्रस्तुत पुस्तक मे उदार मन से आपने सहयोग प्रदान किया है। शत-शत धन्यवाद

अनुक्रमणिका

- परिशिष्ट
  - सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
  - विशिष्ट व्यक्ति नाम सूची
  - विशिष्ट शब्द सूची

□□

१

जैन योग सिद्धान्त और साधना

योग की सैद्धान्तिक विवेचना

१—मानव शरीर और योग

२—योग की परिभाषा और परम्परा

३—योग का प्रारम्भ

४—योग के विभिन्न रूप और साधना पद्धति

५—जैन योग का स्वरूप

६—योगजन्य लब्धिया
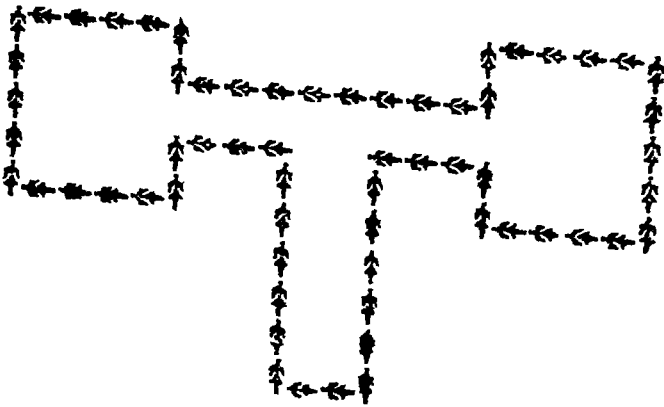
१ मानव शरीर और योग

मानव-शरीर असीम शक्ति का स्रोत

मानव का शरीर, यह छह फुट ऊँची काया, अनेक विचित्रताओ और विलक्षणताओ का भण्डार है। शक्ति का अजस्र और असीम स्रोत इसमे विद्यमान है। यह संसार का सबसे विलक्षण शक्ति केन्द्र (पावर हाऊस) है। जरूरत है इस शक्ति को पहचानने और इसका उचित रूप से प्रयोग करने की।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने जो शक्ति-सिद्धान्त प्रतिपादित किया है उसके अनुसार एक पुद्गल परमाणु से ३,४५,९६० कैलोरी (ऊर्जा) शक्ति उत्पन्न हो सकती है। वस्तुत. विज्ञान अभी तक निश्चित रूप से यह नहीं समझ पाया है कि एक परमाणु के अन्दर यथार्थतः कितनी शक्ति है। फिर भी उक्त सन्दर्भ से आप यह अनुमान कर सकते है कि अनन्त पुद्गल परमाणुओ से निर्मित इस शरीर में कितनी शक्ति हो सकती है ?

एक अन्य वैज्ञानिक अनुमान के अनुसार ४५० ग्राम पुद्गल द्रव्य को यदि पूर्ण रूप से शक्ति में परिवर्तित किया जा सके तो उससे उतनी ही शक्ति (ऊर्जा) उत्पन्न होगी जितनी १४ लाख टन कोयला जलाने पर प्राप्त होती है। हमारा शरीर भी तो पुद्गल द्रव्य (Matter) से निर्मित है। कल्पना करिए ६० किलोग्राम भार वाले इस शरीर से कितनी शक्ति उत्पन्न हो सकती है।

इसी शक्ति के कारण वेदो में इस शरीर को 'ज्योतिषां-ज्योति.' कहा गया है। यदि आपका मन इस सारी शक्ति का उपयोग कर सके तो सोचिये वह क्या चमत्कार नही कर सकता।

मानव शरीर कोशिकाओ का एक महासागर ही है। इसमें ६ नील (६,००,००,००,००,०००) कोशिकाएँ है। शरीर के विभिन्न अगो की कोशिकाएँ, एक-दूसरी से काफी भिन्न है। ये इतने सूक्ष्म आकार की होती है कि एक आलपिन की नोक पर लगभग दस लाख कोशिकाएँ अवस्थित रह सकती है; लेकिन बड़ी कोशिकाओ का आकार शुतुर्मुर्ग के अण्डे के बराबर भी होता है।

मस्तिष्क की रचना और अद्भुत क्षमता

यद्यपि मानव खोपडी का भार १½ किलोग्राम से अधिक नही होता; लेकिन इसमें ही १४ करोड कोशिका तन्त्र होते है तथा १४ अरब ५ लाख ज्ञान तन्तु मानव-मस्तिष्क मे अवस्थित होते हैं। इसका क्षेत्रफल लगभग २६ वर्ग इंच होता है। मस्तिष्क में दो रंग के द्रव्य होते है—(१) धूसर (पीले से कुछ गहरा रग) रग का, यह स्मृति तथा बुद्धि को नियन्त्रित करता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क का यह द्रव्य अच्छा होता है, उसकी बुद्धि भी अच्छी होती है। और (२) दूसरा द्रव्य है सफेद रंग का, यह क्रिया का नियन्त्रण करता है। मस्तिष्क के तीन भाग है—एक, समस्त क्रिया-प्रक्रियाओ का सचालक है; दूसरा, मास-पेशियो का नियन्त्रक है और तीसरा स्वचालित प्रक्रियाओ—साँस लेना, भोजन पचाना आदि क्रियाओ का नियन्त्रक है।

अब जरा इस मस्तिष्क की कार्यक्षमता का अनुमान लगाइये। आँखें ही औसतन ५० लाख चित्र प्रतिदिन उतारती है। इसके अतिरिक्त ध्वनियो, गन्धो, स्पर्शों, स्वादो का महासागर हर समय मनुष्य के चारो ओर लहराता रहता है। यह सारा तूफान मस्तिष्क से ही तो टकराता है और मस्तिष्क इन सबको समझता है, जानता है और निर्णय करता है। इन सबके अलावा नई-पुरानी स्मृतियाँ, अर्जित किया हुआ ज्ञान, इस जन्म और पिछले जन्मो के संस्कार, सुखद-दुःखद अनुभूतियाँ आदि सभी मस्तिष्क मे ही संचित रहती हैं।

यह सारा कार्य कितना श्रमसाध्य और उलझनभरा है? किन्तु इन सब कार्यों को अपने १४ अरब ५ लाख ज्ञान तन्तुओ की सहायता से मस्तिष्क सुचारु रूप से नियमित सम्पन्न करता रहता है।

समस्त अतीन्द्रिय-क्षमताएँ भी मस्तिष्क मे ही भरी होती हैं; दूसरे शब्दो मे मस्तिष्क ही अतीन्द्रिय क्षमताओ का स्रोत है।

सुना है आपने—

(१) नियेशन नाम की एक महिला किसी भी अज्ञात व्यक्ति की कोई वस्तु छूकर उस व्यक्ति का भूत, वर्तमान और भविष्य बता देती है, जो पूर्ण-रूप से सत्य होता है।

(२) कुमारी एडम, दूरवर्ती वस्तुओ को इस प्रकार बता देती है मानो वह सामने खुली हुई पुस्तक को पढ रही हो।

(३) कनाडा के मनःतत्व विशेषज्ञ डा० डब्ल्यु० जी० पेनफील्ड ने ऐसे विद्युदग्र (Electrode) की खोज कर ली है जिसका शरीर के किसी विशिष्ट स्थान की किसी विशिष्ट कोशिका के साथ सम्बन्ध जोड देने पर मनुष्य अपने

भूतकाल की घटनाओं को अपनी आँखो के सामने चित्रपट की भाँति प्रत्यक्ष देख सकता है।

(४) रूसी वैज्ञानिक प्रो० एनाखीन ने एमीनोजाइन (Eminozine) नाम की ऐसी औषध का आविष्कार कर लिया है जो व्यक्ति को शारीरिक पीडा से छुटकारा दिला देती है।

(५) एक ल्यूथिनियन लड़का विशिष्ट अतीन्द्रिय क्षमता का धनी है। वह किसी भी नई-पुरानी, जीवित-मृत भाषा यथा—इंगलिश, फ्रेन्च, लेटिन, ग्रीक आदि के शब्दो को उच्चारणकर्ता के साथ-साथ इस प्रकार बोलता जाता है मानो वह उन भाषाओ का विद्वान हो और उसे पहले से ही यह ज्ञात हो कि उच्चारणकर्ता आगे कौन सा शब्द बोलने वाला है।

यह तो हुई मानव मस्तिष्क की बात, जिसके बारे में कहा जा सकता है कि मनुष्य तो ससार का सर्वश्रेष्ठ प्राणो है और उसका मस्तिष्क अत्यन्त ही विकसित तथा उच्चकोटि का है; लेकिन ऐसो हो अतीन्द्रिय क्षमताएँ चूहे-बिल्ली आदि संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियो मे भी पाई जाती है।

बांस में फल-फूल नही देखे जाते, इनकी जड़ें ही बासो की वृद्धि करती है। लेकिन ५० वर्ष बाद बांस में फूल आते है और उनमें फल भी निकलते हैं। ५० वर्ष में चूहे की भी ५० पोढ़ियाँ गुजर जाती है, लेकिन चूहे अपनी सुगन्ध विश्लेषण क्षमता और सूक्ष्मबुद्धि से उन फल-फूलों की विशेषता पहचान जाते हैं, कि इनके उपभोग से उनकी प्रजनन क्षमता कई गुना बढ जायगी, अतः वे इन फल-फूलो को बड़े चाव से खाते है। यह ज्ञान उन्हें किस प्रकार प्राप्त होता है, इस गुत्थी को जीवशास्त्री नही सुलझा सके है।

इसी प्रकार की क्षमता बिल्ली में भी होती है, उसे भी आगे घटित होने वालो घटनाओ का पूर्वाभास हो जाता है। कुत्ते की गन्ध क्षमता से तो सभी परिचित है। वह चोर द्वारा स्पर्श की हुई भूमि, किसी वस्तु अथवा वस्त्र को ही सूँघकर चोर पता लगा लेता है, चाहे चोर मीलो दूर चला गया हो अथवा चोरी की घटना को महीनों गुजर गये हों।

इन पशुओ मे ऐसो अतीन्द्रिय क्षमता कहाँ से उत्पन्न हुई-?

इन सब बातो का एक हो उत्तर है कि मस्तिष्क की रचना और ज्ञान तन्तु ऐसे अद्भुत है कि उनमे अनेक प्रकार को विलक्षण क्षमताएँ और शक्तियाँ भरी पडी हैं, जो मनुष्य को चमत्कृत कर देती है। किन्तु स्वयं मनुष्य इनसे अनजान-अपरिचित रहता है।

त्वचा की सामर्थ्य और महत्त्व

मस्तिष्क तो अनेक क्षमताओ और चमत्कारी शक्तियो का पुञ्ज है ही;

किन्तु त्वचा की सामर्थ्य और शक्ति भी कम नही है। इसका महत्व भी अत्यधिक है।

मानव शरीर की चमडी का क्षेत्रफल लगभग २५० वर्ग फुट होता है और वजन ६ पौण्ड (लगभग २ किलो, ७५० ग्राम)। इसकी सबसे पतली तह आँखो पर होती है—लगभग ५ मिलीमीटर और सबसे मोटी तह पैर के तलवो मे होती है—६ मिलीमीटर। साधारणतया इसकी मोटाई ३ से ३ मिलीमीटर होती है। इसमे अगणित छेद होते हैं। प्राचीन धर्म-शास्त्रो के अनुसार त्वचा मे साढे तीन करोड रोम होते हैं। त्वचा शरीर के लिए एयर कण्डीशनर का काम करती है, अर्थात् जाडो में यह शरीर को गर्म रखती है और गर्मियो में ठण्डा। इसकी छह परतें होती है, जो विभिन्न कार्य करती हैं।

त्वचा मे इतनी अद्भुत क्षमताएँ भरी पडी हैं कि यदि उन्हे विकसित कर लिया जाय तो वह अन्य इन्द्रियो का काम भी कर सकती है। त्वचा के द्वारा देखा जा सकता है, सूँघा जा सकता है, सुना जा सकता है, स्वाद लिया जा सकता है और स्पर्श तो उसका प्रमुख कार्य है ही।

(१) मास्को मे २२ वर्षीया कुमारी रोजा कुलेशोवा ने अपने दाहिने हाथ की तीसरी व चौथी अगुली मे दृष्टि शक्ति की विद्यमानता का परिचय दिया है। उसने अपनी आँखो पर पट्टी बँधवाकर वैज्ञानिको के सामने अपनी इन दो अंगुलियो द्वारा समाचार-पत्र का एक पूरा लेख पढकर सुनाया और फोटो चित्रो को पहचाना।

(२) एक ९ वर्षीय लडकी मे यह शक्ति और भी बढी-चढी है। यह लडकी खार्कोब की श्रीमती ओलगा ब्लिजनोवा की पुत्री है। उसने आंखो पर पट्टी बँधी होने पर हाथ से छूकर शतरंज की काली सफेद गोटो को अलग-अलग कर दिया, रंगीन कागजो की कतरन की रग के अनुसार अलग-अलग ढेरी बना दी, रगीन किताबो को पढ दिया। उसने बाँह, कन्धा, पीठ, पैर आदि शरीर के अन्य अवयवो से छूकर भी वैसे ही परिणाम प्रस्तुत किये। इतना ही नही, वह दस सेन्टीमीटर दूर रखी वस्तुओ के रग आदि उसी प्रकार बता देती है, जैसे हम लोग खुली आँखो से बताते हैं।

इन परीक्षणो से मनोविज्ञान शाखा के वरिष्ठ शोधकर्ता प्रो० कोन्स्टाटिन प्लातोनोव इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि—मानवीय चेतना-विद्युत की व्यापकता को देखते हुए इस प्रकार की अनुभूतियाँ अप्रत्याशित नही है। नेत्रो मे जो शक्ति काम करती है, वही अन्यत्र ज्ञानतन्तुओ मे काम करती है, उसे विकसित करने पर मस्तिष्क को वैसी ही जानकारी मिल सकती है, जैसी नेत्रो से मिलती है।

बात भी यही है, जैनदर्शन के अनुसार भी आत्मा की चैतन्यधारा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है, क्षयोपशम भी सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों मे है, सिर्फ निवृत्ति के उपकरण, जिन्हे इन्द्रियाँ कहा जाता है, शरीर के विभिन्न स्थानो पर केन्द्रित है, इसीलिए आत्मा उस इन्द्रिय-विशेष से तज्जन्य ज्ञान प्राप्त कर पाता है। यदि त्वचा को अधिक संवेदनशील बनाया जा सके तो आत्मा त्वचा से ही अन्य सभी इन्द्रियो का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम हो जायगा।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट होता है कि मानव के भीतर असीम व अगणित क्षमताएँ है, शक्तियाँ है; आवश्यकता है सिर्फ उन्हें पहचानने व विकसित करने की।

शरीर से मन की शक्ति असीम है और मन से आत्मा की शक्ति अनन्त है। इन शक्तियो को पहचानने व विकसित करने का साधन है, योग।

योग द्वारा शरीर, मन एवं आत्मा की सुप्त शक्तियों का ज्ञान एवं उनका विकास किया जा सकता है। इसीलिए योग-साधना शक्ति जागरण का मार्ग है।

शरीर की अन्य अद्‌भुत विशेषताएँ : चक्रस्थान और मर्मस्थान

मास, मज्जा अस्थि, रक्त आदि के अतिरिक्त शरीर में कुछ अन्य अद्‌भुत विशेषताएँ भी है।

हमारे शरीर में अनेक मर्मस्थान है, चक्र है। मर्मस्थान सात सौ है और चक्र सात है। मर्मस्थानों का चिकित्सा शास्त्र में विशेष उपयोग हुआ है, जापान की एक्यूपन्चर चिकित्सा प्रणाली का आधार ये मर्मस्थान ही है। चक्रो का महत्व यौगिक प्रक्रियाओ में हैं।

मर्मस्थानों पर ज्ञानतन्तु अधिक एकत्रित और सघन होते है। ये स्थान परस्पर सम्बन्धित भी होते हैं। यही कारण है कि शरीर में किसी एक स्थान पर सुई चुभोने से दूसरे स्थान का दर्द बन्द हो जाता है। हमारे यहाँ पहले कानो को छेदने की प्रथा थी। उसका चिकित्साशास्त्रीय कारण यह था कि कानो को छेदने से मनुष्य की मानसिक उत्तेजना कम हो जाती थी, क्योकि कानो का निचला हिस्सा (कान की लौ, जहाँ स्त्रियाँ ईयर-रिंग आदि पहनती है) मर्मस्थान है और उसका मस्तिष्क के उत्तेजनादायक तन्तुओ से सीधा सम्बन्ध है।

चक्रस्थान वे होते है जहाँ ज्ञान तन्तु उलझे होते है। चक्रस्थान, सूक्ष्म शरीर (तैजसशरीर) मे है (इसे कोई-कोई भावनाशरीर भी कहता है) किन्तु इनका आकार बनता है स्थूल शरीर (औदारिक शरीर) मे।

इस स्थिति को एक दृष्टान्त से समझिये। जैसे कोई वस्तु दर्पण के सामने रखी है और उसका आकार (प्रतिविम्ब) उस दर्पण मे बन रहा है; किन्तु वस्तु तो वहाँ है ही नहीं।

ऐसी दशा में वैज्ञानिको के सामने कठिनाई यह है कि वे उन चक्र-स्थानो से प्रयोगों द्वारा वैसे ही परिणाम प्राप्त करना चाह रहे हैं, जैसे यौगिक ग्रन्थों मे चक्र जागरण से बताये गये हैं। लेकिन वैसे परिणाम उन्हे प्राप्त नही हो पा रहे हैं।

स्थिति बिल्कुल वैसी ही है जैसे कि एक नदी के तट पर खड़े वृक्ष पर एक मणिजटित मूल्यवान हार टँगा था, उसकी परछाई जल में पड रही थी, मणियो की दीप्ति से नदी का वह स्थान जगमगा रहा था। उस चमक से विमोहित होकर कोई व्यक्ति पानी में हाथ-पैर मार कर उस हार को पाने का प्रयत्न करे, तो क्या वह सफल हो सकता है ?

चक्रस्थानों का, योगशास्त्रों मे 'कमल' नाम दिया है—जैसे हृदय-कमल, नाभि-कमल आदि, जूडो (Judo) में क्यूसोस (Kyushos); और शरीरशास्त्री इन्हे ग्लैण्ड्स (Glands) कहते हैं। ग्लैंड्स (Ductless Glands) वे अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ हैं जिनका स्राव शरीर से बाहर नही निकलता, हारमोन के रूप मे शरीर के अन्दर ही रक्त आदि मे मिल जाता है।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि चक्रो के जो स्थान[1] और आकार योगाचार्यों ने बताये है, आज के शरीरशास्त्रियो ने जो स्थान और आकार ग्लैण्ड्स के माने है और जूडो पद्धति में जो स्थान एव आकार क्यूसोस के स्वीकार किये गये है—वे तीनो समान हैं। तीनो की धारणा समान है। उसमें कोई विशेष अन्तर नही है। पृष्ठ ७ की तालिका से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जायगी—

---

१ सात चक्रो के स्थान ये हैं—

(१) **मूलाधार** का सुषुम्ना का निचला सिरा,
(२) **स्वाधिष्ठान** का मूलाधार से चार अगुल ऊपर,
(३) **मणिपूर** का नाभि,
(४) **अनाहत** का हृदय,
(५) **विशुद्धि** का कठ,
(६) **आज्ञा** का भ्रूमध्य और
(७) **सहस्रार** का मस्तिष्क (कपाल) मे स्थित तालु अथवा ब्रह्मरन्ध्र।

क्रम संख्या	योगचक्र	ग्लैण्ड्स	जूडो क्यूसोस
१	मूलाधार चक्र	पेल्विक फ्लेक्सस	सुरगिने (Tsurigane)
२	स्वाधिष्ठान चक्र	एड्रीनल ग्लैण्ड	माइओजो (Myojo)
३	मणिपूर चक्र	सोलार पलेक्सस	सुइगेट्सु (Suigetsu)
४	अनाहत चक्र	थाइमस ग्लैण्ड	क्योटोट्सु (Kyototsu)
५	विशुद्धि चक्र	थाइराइड ग्लैण्ड	हिचु (Hichu)
६	आज्ञा चक्र	पिट्यूटरी ग्लैण्ड	ऊतो (Uto)
७	सहस्रार चक्र	पिनिअल ग्लैण्ड	टेण्डो (Tendo)

शरीर-वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक इतना तो पता लगा चुके है कि इन ग्रन्थियों के स्राव विभिन्न प्रकार के आवेगो के कारण होते है। इन्ही से मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है तथा व्यक्तित्व में सन्तुलन आता है, दूसरे शब्दों मे किसी मनुष्य के स्वभाव-निर्माण मे इन ग्रन्थियो (Glands) और इनके स्रावो का महत्त्वपूर्ण योग होता है, किन्तु इन ग्रन्थियो का शक्ति स्रोत कहाँ है, इसका पता लगाने में वे अभी तक सफल नही हो सके है।

यद्यपि आज के विज्ञान ने काफी प्रयोग किये है, खोजे की हैं, शरीर के प्रत्येक अवयव का विश्लेषण भी कर लिया है, और अपने अनुसन्धानो से संसार को चमत्कृत भी कर दिया है; फिर भी उनकी सारी खोजें और सारे प्रयास भौतिक धरातल तक ही सीमित है, आध्यात्मिक दृष्टि से उनसे कोई विशेष लाभ नही हुआ। इस दृष्टि से आज के विज्ञान के सभी प्रयास और प्रयोग दिशाशून्य है, न वे मनुष्य की आत्मा को सुख का मार्ग ही दिखा सकते है और न शान्ति ही दे सकते है, आज भी मानव की आत्मा सुख और शान्ति के लिए व्याकुल है, छटपटा रही है। इस छटपटाहट को मिटाकर मनुष्य को आत्मिक शान्ति अध्यात्म-योग ही दे सकता है।

विज्ञान की सीमा यह है कि वह केवल भौतिक शरीर तक ही सीमित है, लेकिन भौतिक शरीर के भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम रूपों तक उसकी पहुँच नही है। शरीर की समस्त क्रियाओ का संचालक कौन है, वहाँ तक उसकी दृष्टि अभी नही पहुँच सकी है। शरीर के सचालक मन, बुद्धि, प्राण आदि है और आत्मा तो सब का राजा है ही। इसीलिए भारतीय वैदिक मनीषियो ने पाँच प्रकार के शरीर अथवा आत्मा पर पाँच प्रकार के आवरण माने हैं।

(१) अन्नमय कोष

यह स्थूल भौतिक शरीर है; और है आत्मा का सबसे बाहरी आवरण। इसे अन्नमय कोष इसलिए कहा जाता है कि इसकी वृद्धि और स्थिरता भोजन पर ही निर्भर है। इसी में मास, अस्थि, वसा आदि होते है। यह पूरण-गलन स्वभाव वाला है।

जैनदर्शन मे इसे औदारिक शरीर कहा गया है।

(२) प्राणमय कोष

यह आत्मा का दूसरा बाहरी आवरण है। इसी के द्वारा स्थूल भौतिक शरीर की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। प्राणमय कोप अथवा शरीर के अभाव में स्थूल शरीर शिथिल एवं निर्जीव हो जाता है। स्थूल शरीर पर इसका नियन्त्रण होता है।

समस्त इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) शक्ति रूप से इसमे रहती है, स्थूल शरीर मे तो उनकी अभिव्यक्ति मात्र होती है।

सातो चक्रो का स्थान भी मूलत: यही शरीर है। इसका आधार वायु (प्राणवायु) है। श्वासोच्छ्वास इसकी प्रत्यक्ष क्रियाएँ है।

योगी अपनी योगसाधना से इस शरीर को ही तेजस्वी बनाता है। जितने भी चमत्कार योगियो द्वारा दिखाये जाते है, वे सब इसी शरीर के फलस्वरूप होते है। आधुनिक योगी अथवा भगवान कहलाने वाले जो शक्तिपात करते है, वह भी इसी शरीर के चमत्कार है।

सारांश मे यह शरीर जीवनी शक्ति का आधार एवं प्रमाण है।

जैनदर्शन मे इसे तैजस् शरीर कहा गया है।

(३) मनोमय कोष

मनोमय कोष मन का स्थान है। इसमे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की अवस्थिति होती है। इस कोष अथवा शरीर का प्राणमय कोष तथा अन्नमय कोष दोनो पर नियन्त्रण रहता है। दूसरे शब्दो मे ये दोनो ही शरीर मनोमय कोष से संचालित होते हैं।

मनोविज्ञान की भाषा मे कहा जाय तो मनोमय कोष चेतन और अवचेतन—दोनो प्रकार के मन का आधार है। राग-द्वेष, प्रिय-अप्रिय, ईर्ष्या-द्रोह आदि के सवेग इसी मनोमय कोष में सञ्चित रहते है और यही से उद्भूत होते है। बुद्धि की मलिनता और निर्मलता भी इसी मनोमय कोष पर निर्भर रहती है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि बुद्धि की तीव्रता और मन्दता,

प्रखरता और तीक्ष्णता तो प्राणमय कोष पर निर्भर रहती है, यानी जिसका प्राणमय कोष जितना तेजस्वी होगा उसकी बुद्धि भी उतनी ही तीव्र होगी; लेकिन वह बुद्धि परोपकार, निर्माण आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्त होगी अथवा अशुभ कार्यों मे प्रवृत्त होकर पर-पीड़क बन जायेगी—यह मनोमय कोष पर निर्भर है। जिस व्यक्ति का मनोमय कोष जितना निर्मल होगा उसकी प्रवृत्तियाँ भी उतनी ही शुभ होगी।

(४) विज्ञानमय कोष

विज्ञानमय कोष आत्मा पर चौथा आवरण है। यह और भी सूक्ष्म होता है। सूक्ष्मता की दृष्टि से यह उपर्युक्त तीनो कोषो से अधिक सूक्ष्म होता है। विज्ञानमय कोष मे अवस्थित बुद्धि सारग्राही बन जाती है। विज्ञानमय कोष मे संकल्प-विकल्प और सवेगो की अवस्थिति नही होती, क्योकि वे सब मन के कार्य है।

(५) आनन्दमय कोष

यह आत्मा का अन्तिम आवरण है और आत्मा के निकटतम सम्पर्क मे है। यह आत्मा के आनन्दमय स्वरूप को ढकता है। यद्यपि यह पौद्गलिक है, किन्तु इतना सूक्ष्म है कि आत्मिक आनन्द को पूरी तरह आवृत नही कर पाता है।

ये पाँचो प्रकार के कोष अथवा आत्मा के आवरण पौद्गलिक होते हुए भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। आत्मा इन सबसे अलग चेतन द्रव्य है, वही इन सबका नियंता है। इस आत्मा को पहचानने व अनुभव करने के लिए योग-साधना ही एक मार्ग है। योग द्वारा आत्मा का दर्शन, स्वसवेदन, आत्मानुभूति, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का जागरण सम्भव होता है।

आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य

योग साधना को ही आध्यात्मिक साधना कहा जाता है। आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है—शरीर और मन की शक्ति को जागृत करना। जैन आगमो का स्पष्ट आघोष है कि तप-साधना वही उचित है, जिसमें इन्द्रियो, शरीर और मन की शक्ति क्षीण न हो और चित्त में आकुलता न उत्पन्न हो, मन सहज रूप से ध्येय की ओर उन्मुख हो और समाधि की प्राप्ति हो।

आत्मिक साधना के नाम पर शरीर और इन्द्रियो को अत्यधिक कृश करके उन्हे अक्षम बना देना उपयुक्त नही है। यह निश्चित है कि शरीर के बिना आध्यात्मिक साधना नहीं हो सकती और दुर्बल शरीर से भी साधना होना सम्भव नही है। इसीलिए कहा गया है—'शरीरमाद्य खलुधर्म साधनम्'।

अतः शरीर (तैजस्शरीर) की शक्ति को जागृत कर ऊर्ध्वगामी बनना आध्यात्मिक साधना का प्रथम लक्ष्य है।

आध्यात्मिक साधना का दूसरा लक्ष्य है—मन की शक्ति को जाग्रत करना। मन असीम शक्ति का भण्डार है। जिस प्रकार पावर हाउस में विद्युत संचित रहती है, वही उसका उत्पादन होता है और वही से वह शक्ति तारों द्वारा सम्पूर्ण नगर मे फैलती है, नगर के अणु-अणु को प्रकाशित करती है। उसी प्रकार शरीर मे मन एक पावर हाउस है। समस्त शक्ति मन में—अवचेतन और चेतन मन में सचित रहती है, वही उसका उत्पादन होता है और सम्पूर्ण शरीर में स्थित ज्ञानतन्तुओ-कोशिका समूह द्वारा वह सम्पूर्ण शरीर मे फैलती है, शरीर को ऊर्जा, स्फूर्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न करती है।

जिस मनुष्य के मन की शक्ति जितनी जाग्रत होती है वह उतना ही ऊर्जस्वी, तेजस्वी और क्रियाशक्ति से सम्पन्न होता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिको का मत है कि मानव-मन में शक्ति का अक्षय कोष भरा पडा है। मनोवैज्ञानिको के मतानुसार सम्पूर्ण मन का ६० प्रतिशत भाग चेतना की अतल गहराइयो मे डूवा रहता है, यह मानव का अवचेतन मन है जो अव्यक्त रहता है और १० प्रतिशत ही चेतन मन है। यह चेतन मन भी अत्यधिक शक्तिशाली है। इसकी शक्ति का अनुमान इसी वात से लगाया जा सकता है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड को जानने की क्षमता रखता है। इस चेतन मन का ७ प्रतिशत ही मानव अभी तक उपयोग कर पाया है और इतनी शक्ति से ही तमाम वैज्ञानिक चमत्कार सम्भव हो सके है, तो जव चेतन मन ही पूर्ण रूप से सक्रिय हो जायगा, तव तो उसकी क्षमता और शक्ति का अनुमान लगाना भी कठिन हो जायेगा।

अतः आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य इस चेतन तथा अवचेतन मन को जागृत करके उसकी क्षमताओ और शक्तियो का विकास करना है।

लेकिन मन और शरीर (इन्द्रियो सहित, क्योकि इन्द्रियाँ भी तो शरीर मे ही अवस्थित है) अनादिकालीन सस्कारो के प्रभाव से ससाराभिमुखी हैं, इनकी पचेन्द्रिय-विषयो मे सहज अभिरुचि है, यह स्वाभाविक रूप से विषय-वासनाओ की ओर दौड़ते है, आत्मा की ओर इनका रुझान कम है। अतः साधक आध्यात्मिक साधना द्वारा शरीर और मन की शक्तियो को जागृत तो करता है, किन्तु उन पर आत्मा का नियन्त्रण रखता है। वह मन रूपी अश्व और शरीर रूपी रथ को वलवान और सुदृढ तो रखता है किन्तु बे-लगाम नही छोडता, कुशल रथी के समान वह लगाम अपने (आत्मा के) हाथो मे रखता है, चेतना का नियन्त्रण इन दोनो पर स्थापित करता है।

आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है—शरीर और मन की शक्तियो को जागृत करना और उन पर आत्मा का/चेतना का नियन्त्रण रखना।

योग की उपयोगिता

शरीर और मन की शक्तियो को जागृत करने के लिए योग एक सर्वाधिक उपयोगी साधन है अथवा दूसरे शब्दो में यो भी कहा जा सकता है कि योग के बिना उन शक्तियो को जागृत किया ही नही जा सकता, उन शक्तियो का जागरण असम्भव है।

इसकी उपयोगिता आत्मिक तो है ही, शारीरिक भी अत्यधिक है। योग-आसनो एव प्राणायाम से शरीर सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के रोग ठीक होते है, बल-वीर्य बढ़ता है और शरीर में चुस्ती एवं फुर्ती आती है। साथ ही मानसिक शक्तियाँ भी विकसित होती हैं, स्मृति-शक्ति प्रचण्ड होती है, बौद्धिक शक्ति और क्षमता में वृद्धि होती है।

योग की आवश्यकता

मानव जीवन मे योग की आवश्यकता सदा-सदा से रही है, किन्तु आज और भी ज्यादा है। आज का मानव तनावो में जी रहा है। वह अन्दर से टूट रहा है। यह दशा निर्धनों की ही नही, ऐश्वर्यशालियो की भी है। अनेक प्रकार की चिन्ताएँ और भ्रान्तियाँ मानव को खोखला कर रही है, कचोट रही है। वैज्ञानिक अनुसन्धानो द्वारा उपलब्ध शक्तियो और साधनो का उपभोग करते हुए भी मानव अन्दर ही अन्दर त्रस्त है, भयभीत है, उसकी आत्मा छटपटा रही है। वह बेचैन है; क्योकि उसकी शान्ति छिन चुकी है, सुख विलीन हो चुका है। इसीलिए वह योग और ध्यान शिविरो में जाता है कि उसके बेचैन मन और अकुलाती हुई आत्मा को शान्ति प्राप्त हो।

आज योग की कितनी आवश्यकता है, यह योग और ध्यान शिविरो से जानी जा सकती है, जहाँ सैकडो व्यक्ति शिथिलीकरण की मुद्रा मे और ध्यान मुद्रा मे दिखाई देते है।

अतः भूतकाल मे योग जितना उपयोगी और आवश्यक था, उससे कही अधिक आज है और आने वाले कल के लिए यह आज से भी अधिक उपयोगी होगा।

अतः आइये, शरीर एव मन की शक्तियो को जागृत करने वाली क्रिया का अनुसन्धान करें, मन को तनावो से मुक्त कर शान्ति और प्रसन्नता से भर देने वाली चमत्कारी शान्ति की साधना करें। □□

२ योग की परिभाषा और परम्परा

१ योग शब्द की यात्रा

'योग' शब्द सस्कृत की 'युज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा निर्मित हुआ है। सस्कृत व्याकरण मे 'युज्' नाम की दो धातु है। उनमें से एक का अर्थ 'जोडना'[१] है और दूसरी का मनःसमाधि[२] अथवा मन की स्थिरता है। यदि सरल शब्दो में कहा जाय तो योग शब्द का अर्थ सम्बन्ध स्थापित करना तथा मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक स्थिरता प्राप्त करना—दोनो ही है।[3] इस प्रकार साधन और साध्य—दोनो ही रूप मे 'योग' शब्द अर्थवान है। भारतीय दर्शनों में इस शब्द का प्रयोग इन दोनो ही रूपो में मिलता है।

'योग' शब्द का सम्बन्ध 'युग' से भी है जिसका ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से प्रयोग काल मान से है। 'युग' का दूसरा अर्थ 'जोतना' भी है और इस अर्थ में इसका प्रयोग वैदिक साहित्य मे कई स्थलो पर हुआ है। गणित शास्त्र में 'योग' का अर्थ 'जोड़' है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'योग' प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ (Indo-Aryan languages) के परिवार का है। यह जर्मन-भाषा (German language) के जोक (Jock), ऐंग्लो सेक्सन (Anglo-Saxon) के गेओक (Geoc), इउक (Iuc), इओक (Ioc), ग्रीक (Greek) के जुगोन (Zugon), तथा लैटिन (Latin) के इउगम (Iugum) के समकक्ष तथा समानार्थक है।[४]

---

१ युजृ पी योगे। —हेमचन्द्र धातुमाला, गण ७.

२ युजि च समाधौ। —हेमचन्द्र धातुमाला, गण ४.

३ दर्शन और चिन्तन, प्रथम खण्ड, पृ० २३०

४ Yoga Philosophy, p 43

वैदिक साहित्य में योग शब्द

प्राचीन साहित्य में सर्वप्रथम ऋग्वेद में 'योग' शब्द मिलता है, यहाँ इसका अर्थ 'जोडना' मात्र है।[1]

ईसा पूर्व ७००–८०० तक निर्मित साहित्य मे 'योग' शब्द 'इन्द्रियो को प्रवृत्त करना' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा ई० पू० ५००–६०० तक रचित साहित्य में 'इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना' इस अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2]

उपनिषद् साहित्य में 'योग' पूर्णतः आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ मिलता है।[3] कुछ उपनिषदो में योग और योग-साधना का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[4] मैत्रेयी और श्वेताश्वतर उपनिषदो मे तो योग की विकसित भूमिका प्रस्तुत की गई है। यहाँ तक कि योग, योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, कुण्डलिनी विविध प्रकार के मन्त्र, जप और जप की विधि आदि का विस्तृत विवरण इन उपनिषदो में प्राप्त होता है।

इस प्रकार ऋग्वेद मे 'जोड़ने' के अर्थ मे प्रयुक्त शब्द 'योग' उपनिषद्

---

१ (क) स घा नो योग आ भुवत्। —ऋग्वेद, १/५/३

(ख) स धीना योगमिन्वति। —वही, १/१८/७

(ग) कदा योगो वाजिनो रासभस्य। —वही, १/३४/९

(घ) वाजयन्निव नू रथान् योगा अग्नेरूपस्तुहि। —वही, २/८/१ इत्यादि

२ Philosophical Essays, p , 179

३ (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति।
—कठोपनिषद १/२/१२

(ख) ता योगमितिमन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ —वही, २/३/११

(ग) तैत्तिरीयोपनिषद् २/१४

४ (१) योगराजोपनिषद्, (२) अद्वयतारकोपनिषद्, (३) अमृतनादोपनिषद्, (४) त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्, (५) दर्शनोपनिपद् (६) ध्यानविन्दु उपनिषद्, (७) हस, (८) ब्रह्मविद्या, (९) शाण्डिल्य, (१०) वाराह, (११) योगशिख, (१२) योगतत्व, (१३) योग चूड़ामणि, (१४) महावाक्य, (१५) योगकुण्डली, (१६) मण्डल ब्राह्मण, (१७) पाशुपत ब्राह्मण, (१८) नादविन्दु, (१९) तेजोविन्दु, (२०) अमृतविन्दु, (२१) मुक्तिकोपनिपद्—इन २१ उपनिषदो मे योग का ही वर्णन हुआ है।

काल तक आते-आते शरीर, इन्दिय एव मन को स्थिर करने की साधना के अर्थ मे भी प्रयोग किया जाने लगा।

महाभारत[1] मे योग के विभिन्न अगो का विवेचन प्राप्त होता है। स्कन्दपुराण[2] मे कई स्थानो पर योग की चर्चा है। भागवतपुराण[3] मे योग की चर्चा के साथ-साथ अष्टाग योग की व्याख्या, महिमा तथा योग से प्राप्त होने वाली अनेक लब्धियो का वर्णन किया गया है। योगवाशिष्ठ[4] के छह प्रकरणो मे योग के विभिन्न सन्दर्भों की व्याख्या आख्यानको के माध्यम से हुई है और इनसे योग सम्बन्धी विचारो की पुष्टि की गई है।

'योग' शब्द इस समय तक आते-आते इतना व्यापक और प्रचलित हो गया कि गीता[5] के अठारह अध्यायो के नाम ही योग पर रखे गये है, प्रत्येक अध्याय के अन्त मे 'योग' शब्द आया है, जैसे—"ॐ तत्सदिति श्रीमद् भगवत्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सवादेऽर्जुन-विषादयोगे नाम प्रथमोऽध्याय.।" इसी प्रकार अठारह अध्यायो के नाम दिये गये है। गीता मे अठारह प्रकार के योगो का वर्णन हुआ है।

यह 'योग' शब्द की लोकप्रियता एवं व्यापक प्रसार का प्रमाण है।

---

१ महाभारत के शान्तिपर्व, अनुशासन पर्व एव भीष्म पर्व द्रष्टव्य है।

२ स्कन्दपुराण, भाग १, अध्याय ५५

३ भागवतपुराण ३/२८, ११/१५, १९-२०.

४ द्रष्टव्य—योगवाशिष्ठ के वैराग्य, मुमुक्षु व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण प्रकरण।

५ (१) ज्ञानयोग ३/३, १३/२४, (२) भक्तियोग १४/२६, (३) आत्मयोग १०/१८, ११/४७, (४) बुद्धियोग १०/१०, १८/५७, (५) सातत्ययोग १०/९, १२/१, (६) शरणागतियोग ९/३२-३४, १८/६४-६६, (७) नित्य-योग ९/२२, (८) ऐश्वरीययोग ९/५, ११/४, ९, (९) अभ्यासयोग ८/८, १२/९, (१०) ध्यानयोग १२/५२, (११) दु ख सयोग-वियोगयोग ६/२३, (१२) सन्यासयोग ६/२, ९/२८, (१३) ब्रह्मयोग ५/२१, (१४) यज्ञयोग ४/२८, (१५) आत्म-सयमयोग ४/२७, (१६) दैवयोग ४/२५, (१७) कर्मयोग ३/३, ५/२, १३/२४, (१८) समत्वयोग २/४८, ६/२९, ३३—इन अठारह प्रकार के योगो का उल्लेख एव वर्णन गीता मे हुआ है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्-गीता का दूसरा नाम 'योग शास्त्र' भी है।

महर्षि पतंजलि रचित ग्रन्थ तो 'योगदर्शन' है ही; किन्तु न्याय दर्शन[1] में भी योग को उचित स्थान प्राप्त हुआ है। वैशेषिक दर्शन[2] के प्रणेता कणाद ने भी यम-नियम आदि पर काफी जोर दिया है। ब्रह्मसूत्र[3] के तीसरे अध्याय में आसन, ध्यान आदि योग के अगो का वर्णन है, अतः इसका नाम ही साधन-पाद है। सांख्यदर्शन[4] मे भी योग विषयक अनेक सूत्र है।

तन्त्रयोग के अन्तर्गत आदिनाथ ने हठयोग सिद्धान्त की स्थापना की। इसका उद्देश्य यौगिक क्रियाओ द्वारा शरीर के अग-प्रत्यंग पर प्रभुत्व तथा मन की स्थिरता प्राप्ति है। महानिर्वाण तन्त्र और षट्चक्र निरूपण ग्रन्थो मे योग साधना का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।[5]

यह तो वैदिक परम्परा में योग शब्द तथा उसके विभिन्न अर्थों, सन्दर्भों और योग-साधना-सम्बन्धी—योग शब्द की यात्रा का संक्षिप्त विवरण है।

इसके साथ ही बौद्धदर्शन में योग की क्या स्थिति रही, यह भी समझना आवश्यक है। बौद्ध दर्शन प्राचीन श्रमण संस्कृति की ही एक धारा है। इसलिए यह निवृत्तिप्रधान है। यद्यपि बौद्ध चेतना अथवा आत्मा को क्षणिक मानते है, फिर भी उन्होने ध्यान, समाधि आदि का वर्णन किया है। बौद्ध योग साधना का वर्णन 'विसुद्धिमग्गो', 'समाधिराज' 'अंगुत्तरनिकाय', दीघनिकाय, शाक्योद्देश टीका आदि ग्रन्थो में है। वहाँ आहार (खान-पान), शील, प्रज्ञा, ध्यान आदि के रूप मे योग साधना का वर्णन हुआ है। बौद्धो द्वारा प्रयुक्त विपश्यना ध्यान की पद्धति आधुनिक युग मे अधिक प्रचलित हुई है।

बोधित्व प्राप्त करने से पूर्व तथागत बुद्ध ने भी श्वासोच्छ्वासनिरोध

---

१ (क) समाधिविशेषाभ्यासात्। —न्यायदर्शन ४/२/३६

(ख) अरण्यगुहापुलिनदिषु यागाभ्यासोपदेश.। —वही ४/२/४०

(ग) तदर्थं यमनियमाभ्यासात्मसस्कारों योगाच्चात्मविध्युपायै.। —वही ४/२/४६

२ अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञदान-प्रोक्षण-दिङ्नक्षत्र-मन्त्र-काल-नियमाश्चाहष्टाय। —वैशेषिक दर्शन ६/२/२, ६/२/८

३ ब्रह्मसूत्र ४/१/७-११.

४ साख्यसूत्र ३/३०-३४.

५ महानिर्वाण तन्त्र अध्याय ३, तथा Tantrik Texts मे प्रकाशित पट्चक्रनिरूपण पृष्ठ ६०, ६१, ८२, ९० और ११४.

करने का प्रयास किया था, दूसरे शब्दो मे प्राणायाम-साधना की थी। उन्होने स्वय अपने शिष्य अग्गिवेसन से एक वार कहा—मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था, इसलिए मैं मुख, नाक एवं कान (कर्ण) मे से निकलते हुए साँस को रोकने का प्रयत्न करता रहा, उसके निरोध का प्रयत्न करता रहा।[1]

तथागत बुद्ध ने अपने अष्टांगिकमार्ग मे समाधि को विशेष महत्त्व दिया। सही शब्दो मे, समाधि तक पहुँचने के लिए ही बौद्धदर्शनसम्मत अष्टांग मार्ग में शेष सात अगो का वर्णन हुआ है। समाधि को प्राप्त करने के लिए वहाँ ध्यान[2] आवश्यक माना है।

जैनदर्शन में योग

भारतीय दर्शनशास्त्रो मे जैनदर्शन का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे—योगविद्या के प्रथम प्रणेता आदि तीर्थंकर ऋषभदेव (हिरण्यगर्भ) है, अतः जैन दर्शन मे भी योग का महत्त्व अत्यन्त प्राचीन काल से मान्य रहा है।

जैन दर्शन मे 'योग' शब्द कई सन्दर्भों मे प्रयुक्त हुआ है, यथा—सयम, निर्जरा, सवर आदि के अर्थ मे; तथा एक दूसरे अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है, यथा—मन-वचन-काय का व्यापार अर्थात् मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

उत्तराध्ययन सूत्र, जो भगवान महावीर की अन्तिम वाणी है, उसमे योग शब्द का कई बार प्रयोग मिलता है। जोगव उवहाण[3]—योगवान। तथा उसी सूत्र मे यह गाथा मिलती है—

> वहणे वहमाणस्स कंतारं अइवत्तई।
> जोए वहमाणस्स, ससारो अइवत्तई॥[4]

अर्थात्—वाहन को वहन करते हुए भी वैल जैसे अरण्य को लाघ जाता है उसी प्रकार योग को वहन करते हुए मुनि संसार रूपी अरण्य को पार कर जाता है।

यहाँ 'योग' शब्द संयम साधना के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

---

१ अगुत्तरनिकाय ६३

२ मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, बुद्धलीलासार सग्रह, पृष्ठ १२८, समाधिमार्ग (धर्मानन्द कौसाम्बी), पृष्ठ १५

३ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ११

४ उत्तराध्ययन सूत्र, २७/२.

सूत्रकृतांग में भी 'जोगव'[1] शब्द आया है। यहाँ भी यह सयम अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और टीकाकार ने इसका अर्थ समाधि किया है।

स्थानांग सूत्र में 'जोगवाही'[2] शब्द समाधि मे स्थिर अनासक्त पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार जैन आगमो मे 'योग' शब्द अनेक स्थानो पर संयम और समाधि अर्थ मे मिलता है, किन्तु इसका दूसरा सन्दर्भ भी है—मन-वचन-काय का व्यापार, इस अर्थ मे भी इसका प्रयोग उत्तराध्ययन सूत्र,[3] तत्त्वार्थ सूत्र[4] आदि ग्रन्थो में उपलब्ध है; किन्तु वहॉ मन-वचन-काय के व्यापार को रोकने की प्रेरणा दी गई है। वहॉ यह निर्देशित है कि योगो के व्यापार से आस्रव होता है और उनके निरोध से सवर, जो मुक्ति के लिए आवश्यक सोपान है।

इस प्रकार प्राचीन जैन साहित्य में 'योग' शब्द जहॉ सयम, ध्यान एवं तप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है वहॉ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के अर्थ मे भी।

महर्षि पतंजलि ने योग को चित्तवृत्तियो का निरोध[5] बताया है जिसे जैन परिभाषा मे 'मन.सवर' कहा जा सकता है।

आचारांग सूत्र, जो सबसे प्राचीन जैन आगम है, उसमे साधु (योगी) के लिए धूत-अवधूत शब्दो का प्रयोग हुआ है[6], वैदिक एव बौद्ध साहित्य में स्पष्टत: ये शब्द योगी के लिए प्रयुक्त होते रहे है।

इस प्रकार जैनदर्शन मे योग शब्द तप, ध्यान, संवर आदि के लिए प्रयुक्त होता रहा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने समिति और गुप्ति की साधना को भी योग का अग माना है। (देखे पा० यो० १/२ की वृत्ति)

---

१ जयय विहराहि जोगव, अणुपाणा पथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कम्मे, वीरेहिं सम्म पवेदिय ॥
—सूत्रकृताग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन २, उद्देशक १, गा० ११

२ स्थानागसूत्र, स्थान १०

३ (क) जोगपच्चक्खाणेण अजोगत्त जणयइ।
अजोगीण जीवे नव कम्म न बधइ पुव्वबद्ध निज्जरेइ ॥
—उत्तराध्ययन २९/३८

(ख) जोगसच्च जोग विसोहेइ। —उत्तराध्ययन २९/५३

(ग) मणसमाहरणाए णं एगग्ग जणयइ। —उत्तराध्ययन २९/५८

४ तत्वार्थ सूत्र ६/१-२, ९/१

५ योगश्चित्तवृत्तिनिरोध। —पातजल योगदर्शन १/२

६ आचाराग १/६/१८१।

जैन दर्शन का योग सम्बन्धी स्वतन्त्र चिन्तन

सामान्यतः सभी जिज्ञासुओ, विद्वानो और यहाँ तक कि जैन विद्वानो के मस्तिष्क में प्रश्न गूँजते रहते है कि जैन दर्शन मे 'योग' मान्य है या नही? आचार्य हरिभद्र की योग सम्बन्धो रचनाओ से पहले जैन धर्म साहित्य मे योग को क्या स्थिति थी? क्या योग सम्बन्धी जैन मनोषियो तथा चिन्तको का कोई स्वतन्त्र चिन्तन था?

इन प्रश्नो के सही समाधान को समझने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को जानने की आवश्यकता है।

वस्तुतः योग है क्या?

योग एक साधना पद्धति का नाम है।

भारत मे प्राचोन काल में दो धार्मिक परम्पराएँ थी—श्रमण और वैदिक। श्रमण परम्परा की ही एक शाखा बौद्ध परम्परा थी और मुख्य धारा थी जैन। इनके अतिरिक्त और भी अवान्तर परम्पराएँ थी। इन सभी का उद्देश्य अथवा चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सभी की अपनी-अपनी साधना पद्धतियाँ थी और उन साधना-पद्धतियो के अलग-अलग नाम थे।

बौद्ध परम्परा की साधना-पद्धति का नाम अष्टांगमार्ग था। वैदिक दर्शनों में किसी ने भक्ति को तो किसी ने ज्ञान को; और किसी ने यज्ञ-याग तथा कर्मकाण्ड को मुक्ति का साधन बताया। गीता ने फलाकांक्षा रहित अनासक्त कर्मयोग को मुक्ति का पथ स्वीकार किया। (साख्यदर्शन की साधना पद्धति अष्टाग योग है, जिसका सम्पूर्ण और विस्तृत विवेचन योग-दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।)

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो जैन परम्परा की साधना-पद्धति का नाम 'रत्नत्रय' है, इसे मोक्ष मार्ग भी कहा गया है। ये तीन रत्न है—सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।[1] (चारित्र का ही एक अवान्तर भेद है तप और तप का एक भेद है ध्यान। साथ ही कर्मास्रवो को रोकने को प्रक्रिया को 'संवर' द्वारा व्यक्त किया गया है।)

(इस प्रकार जैन योग के दो मुख्य और महत्वपूर्ण सूत्र है—संवरयोग और तपोयोग। तप को पुष्ट करने और उसमे गहराई लाने के लिए वारह

---

१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्वार्थ सूत्र १/१

भावनाओ—अनुप्रेक्षाओ का विधान है, अतः भावनायोग[1] भी जैन योग का एक प्रमुख अंग है।

संवर पाँच है—(१) सम्यक्त्व, (२) व्रत, (३) अप्रमाद, (४) अकषाय और (५) अयोग। ये पाँच ही साधना की भूमिकाएँ है। साधक उत्तरोत्तर उन भूमिकाओ पर पहुँचता है और ज्यों-ज्यो वह एक के बाद एक ऊँची भूमिका को स्पर्श करता है, वह अपने लक्ष्य मोक्ष के नजदीक पहुँचता जाता है और अयोग अवस्था के बाद वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

जैन साधना पद्धति में तप के बारह भेद बताये गये है—छह बाह्य और छह अन्तरग। अन्तरंग तपो मे ध्यान एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण तप है। ध्यान ही साधक की साधना का आदि, मध्य और अन्त है।

इस प्रकार जैन साधना का क्रम बनता है—ध्यानयोग, तपोयोग, संवरयोग एवं भावनायोग।

यद्यपि जैन आगमों में, योगदर्शन की भाँति प्रत्याहार, धारणा आदि शब्दों का उल्लेख नही हुआ है, किन्तु साधना पद्धति का स्पष्ट व्यवस्थित तथा सूक्ष्म विवेचन अवश्य प्राप्त होता है। उसका कारण यह है कि जैन धर्म की साधना पद्धति स्वतन्त्र है, वह योगदर्शन अथवा किसी अन्य दर्शन से प्रभावित नही है, उसकी अपनी स्वतन्त्र चिन्तन प्रणाली एव साधना विधि है, इसलिए इसकी व्यवस्था भिन्न है।

आचारांग सूत्र जैन धर्म का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें जैन साधना पद्धति का बहुत ही मार्मिक और सूक्ष्म प्रतिपादन है। सूत्रकृताग सूत्र, भगवती सूत्र और ठाणांग (स्थानांग) सूत्र आदि आगमो मे यत्र-तत्र आसन,[2]

---

१ भावणाजोग सुद्धप्पा, जले नावा व आहिया।
नावा व तीर सम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टति ॥

—सूत्रकृताग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १५, गाथा ५

२ विभिन्न प्रकार के आसनो के वर्णन हेतु देखिए—ठाणाग, सूत्र ३९६,४९०, बृहत्कल्प सूत्र, जीवाभिगम ३,४०६, भगवती १/११, प्रश्नव्याकरण १६१; आचाराग ३१२, विपाक ४९; कल्पसूत्र; सूत्रकृतांग २,२, ज्ञाता० १/१; उत्तराध्ययन ३०/२७, औपपातिक सूत्र, दशाश्रुतस्कंध आदि-आदि।

इन आगमो मे वीरासन, उत्कटिक आसन, दण्डासन, पद्मासन, गोदोहिका आसन, हंसासन, पर्यकासन, अर्द्धपर्यकासन, लगडासन आदि अनेक आसनो का उल्लेख प्राप्त होता है।

ध्यान आदि का वर्णन मिलता है। औपपातिक सूत्र में तो तपोयोग का बहुत ही व्यवस्थित वर्णन हुआ है।

आगम साहित्य मे जैन साधना विधि के बीज बिखरे हुए प्राप्त होते हैं। भगवान महावीर ने १२ वर्ष एव छह महीने तक विविध आसन, ध्यान आदि की कठोर और दीर्घकालीन साधना की थी। दुर्भाग्य से आज वह विधि प्राप्त नही है, आसनो के नाममात्र का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थो मे उल्लेख है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने बारह वर्ष की 'महाप्राण ध्यान-साधना' की थी। अन्य मुनियो के बारे मे भी ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं। 'सर्व सवर योग ध्यान साधना' का उल्लेख अन्य कई आचार्यों के बारे मे मिलता है। किन्तु आगमो में उल्लिखित इन ध्यानयोग साधनाओ का सम्पूर्ण विधि-विधान एव प्रक्रिया आज उपलब्ध नही है।

निर्युक्ति साहित्य मे जैनसाधना की प्रक्रियाओ का विस्तारपूर्वक निरूपण हुआ है। आचार्य भद्रबाहुरचित आवश्यकनिर्युक्ति मे कायोत्सर्ग नाम का एक अध्ययन है, इसमे साधना प्रक्रिया का सागोपाग वर्णन है। 'कायोत्सर्ग' योग की एक उच्चकोटि की भूमिका है।

कायोत्सर्ग के उपरान्त मानसिक एकाग्रता की दूसरी भूमिका ध्यान है। ध्यान का विशद विवेचन जिनभद्रगणीरचित ध्यान शतक मे प्राप्त होता है।

देवनन्दि पूज्यपादरचित समाधि शतक और इष्टोपदेश आध्यात्मिक अनुभूतियो से भरे शास्त्र है।

बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य आदि ग्रन्थो मे भी प्रसगानुसार आसन, ध्यान आदि की चर्चा हुई है।

विक्रम की आठवी शताब्दी मे जैन योग मे एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। इसके प्रारम्भकर्ता है श्री हरिभद्रसूरि। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं—योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक और योगविंशिका। इन्होने योग की प्रचलित पद्धतियो और परिभाषाओ के साथ समन्वय स्थापित किया और जैन योग को एक नई दिशा प्रदान की। उनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि उनका योग-वर्गीकरण मौलिक है। इस रूप मे वह न तो जैन आगमो में मिलता है और न अन्य योग-परम्पराओ से उन्होने उधार ही लिया है। उन्होने योग के पाँच[1] प्रकार बताये है—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३)

---

१ अध्यात्म भावना ध्यान, समता वृत्तिसक्षय।
मोक्षेण योजनाद् योग, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ —योगबिन्दु ३१

ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसंक्षय। इन पाँच अंगो मे योग के आठ अंगो का समावेश हो जाता है। जैसे—अध्यात्म और भावना मे—यम-नियम-आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार का, ध्यान मे—धारणा व ध्यान का, समता व वृत्तिसंक्षय मे समाधि का। वैसे प्रथम चार प्रकार—सम्प्रज्ञातयोग मे तथा वृत्तिसंक्षय असम्प्रज्ञातयोग (निर्बीज समाधि) मे समाविष्ट हो जाते है। इसके अतिरिक्त उन्होने योग की आठ दृष्टियो का वर्णन भी किया है जो सर्वथा मौलिक और सर्वग्राही है।

यहाँ तक, जैन योग सम्बन्धी विचारधारा पूर्णतया स्वतन्त्र रही, इस पर न हठयोग का प्रभाव पडा और न योगदर्शन का प्रभाव ही परिलक्षित होता है।

इसके उपरान्त योग सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र तथा शुभचन्द्राचार्य का ज्ञानार्णव है। इन दोनो ही ग्रन्थो पर हठयोग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अष्टांग योग और तन्त्रशास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है।

आगमयुग का धर्मध्यान (सस्थानविचय धर्मध्यान) अब पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार भागो मे विभक्त हो गया। कुण्डलिनी ध्यान चक्र आदि की चर्चा भी सम्मिलित कर ली गई और पार्थिवी आदि धारणाओ को भी स्थान प्राप्त हो गया।

इसके उपरान्त जैन मुनियो ने अन्य भी अनेक योग सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं। इनमे उपाध्याय विनयविजयजी का शान्तसुधारस—भावनायोग की सुन्दर कृति है। उपाध्याय यशोविजयजी ने भी अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मसार, योगावतार द्वात्रिंशिका आदि योग विषयक ग्रन्थो की रचना की।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जैन योग की धारा योग सम्बन्धी अन्य धाराओ से मौलिक और स्वतन्त्र है। जैन दर्शनसम्मत ध्यानयोग, तपोयोग, सवरयोग, संयमयोग, अध्यात्मयोग, भावनायोग आदि ऐसे योग है जिनकी चर्चा योगदर्शन तथा अन्य योग परम्पराओ में या तो प्राप्त ही नही होती और यदि प्राप्त होती भी है तो बहुत ही कम। समिति और गुप्ति योग तथा भावनायोग और इसीप्रकार सवरयोग तो विशेष रूप से जैनधर्म की ही देन है। □

३ योग का प्रारम्भ

योग का प्रारम्भ शान्ति की खोज से हुआ।

शक्ति, सत्ता और धन के भार मे दवा मानव जव भीतर से एक अकुलाहट, अतृप्ति और प्रतिद्वन्द्वी के भय की अनुभूति से वेचैन होकर कभी शान्त, एकान्त स्थान मे वैठा होगा, वाह्य चिन्ताएँ छूट गई होगी, मन स्थिर हुआ, अपने आप पर केन्द्रित हुआ, और भीतर मे छुपे हुए शान्ति स्रोत से आप्लावित हो सहसा कुछ शीतलता, निर्भयता और परितृप्ति का अनुभव करने लगा तो वह चकित रह गया होगा, आज तक जो तृप्ति और शान्ति नही मिली, वह कुछ ही क्षणो मे स्थिर और शान्त होकर वैठने से अनुभव हुई तो इस रहस्य की खोज मे वह आगे वढा।

(वाहर से भीतर मे प्रविष्ट हुआ। शरीर एव मन के केन्द्रो को टटोलने लगा, पहचानने लगा तो उसके सामने रहस्यो का संसार खुलने लगा, शान्ति का एक अजस्र स्रोत सा उमडने लगा और उसे लगा—शान्ति तो मेरे भीतर ही है। वाहर में अशान्ति है, भीतर मे शान्ति है। वह वाहर से हटा, भीतर मे मुडा, भोग से हटा, योग मे जुटा। वस, यह शान्ति की खोज ही मनुष्य को योग की तरफ ले गई। 'योग' शान्ति का मार्ग और आन्तरिक शक्तियो को जानने, जगाने का फार्मूला बन गया।)

योग का प्रारम्भ कब हुआ ? इसका उत्तर कठिन भी है, सरल भी।

योग के प्रारम्भ का निश्चित काल व तिथि आज तक कोई नही खोज सका, किन्तु यह वहुत ही सरल व स्पष्ट बात है कि जब से मनुष्य ने शान्ति की खोज प्रारम्भ की तभी से योगविद्या का प्रारम्भ हुआ।

(आज के उपलब्ध साहित्य, परम्परा और साक्ष्यो के आधार पर भगवान ऋषभदेव योगविद्या के आदि प्रवर्तक माने जाते है। जैन आगम ग्रन्थो के अनुसार इस अवसर्पिणी युग के वे प्रथम योगी व योगविद्या के प्रथम उपदेष्टा थे। उन्होने सासारिक (भौतिक) वासनाओ से व्याकुल, धन-सत्ता और शक्ति की प्रतिस्पर्धा मे अकुलाते अपने पुत्रो को सर्वप्रथम 'सम्बोधि'[1]

---

१ सूत्रकृताग १/२/१/१

(ज्ञानपूर्ण समाधि) का मार्ग बताया, जिसे आज की भाषा मे 'योग मार्ग' कह सकते है।)

(श्रीमद्भागवत मे प्रथम योगीश्वर के रूप में भगवान ऋषभदेव का स्मरण किया गया है। वहाँ बताया है—भगवान् ऋषभदेव स्वय नाना प्रकार की योगचर्याओ का आचरण करते थे।[1]

महाभारतकार ने योगविद्या के प्रारम्भकर्ता हिरण्यगर्भ को माना है। साथ ही यह भी कहा है कि योगविद्या से पुरातन कोई विद्या तथा दर्शन नही है और हिरण्यगर्भ ही सबसे प्राचीन है।[2]

ऋग्वेद में भी हिरण्यगर्भ की प्राचीनता प्रमाणित की गई है, तथा उनकी पुरातनता को स्वीकार करते हुए ऋग्वेद के ऋषि ने उनके स्तुति मन्त्र गाये है—

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे, भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

— ऋग्वेद १०/१२१/१

अर्थात्—हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए थे। वे समस्त भूतो के स्वामी थे। उन्ही ने इस पृथ्वी और स्वर्गलोक को धारण किया। उन अनिर्वचनीय देव की हम अर्चना करते है।

(श्रीमद्भागवत् (५/६/१३), अद्भुत रामायण (१५/६), वायुपुराण (४/७८) आदि मे भी इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते है कि हिरण्यगर्भ ही सबसे पुरातन है और उन्होने ही योगविद्या का प्रारम्भ किया था।)

श्री नीलकण्ठ ने **'महानिति च योगेषु'** सूत्र की टीका करते हुए स्पष्ट कहा—

योगेषु एष महानिति प्रथम कार्यम्।

अर्थात्—उन हिरण्यगर्भ महाराज की यही 'महान् इति' है कि उन्होने वेदो से भी पहले योगविद्या अथवा पराविद्या का प्रादुर्भाव किया था।

इस प्रकार श्रमण (जैन) परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव योग-विद्या के प्रारम्भकर्ता थे और वैदिक परम्परा के अनुसार हिरण्यगर्भ, किन्तु

---

१ (क) भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वर। —श्रीमद्भागवत ५/४/३
(ख) नानायोगश्चर्याचरणो भगवान कैवल्यपतिऋषभ। —श्रीमद्भागवत ५/२/२५

२ हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन। —महाभारत १२/३४६/६५

वस्तुत ये दो महापुरुष न होकर एक ही थे, क्योंकि ऋषभदेव के अन्य नामो मे एक नाम हिरण्यगर्भ भी था; जैसा कि महापुराणकार ने कहा है—

सैषा हिरण्मयी वृष्टि धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितु जगत् ॥

—महापुराण १२/६५

अर्थात्—जब भगवान ऋषभदेव गर्भ मे आये तो धनपति कुबेर ने माता-पिता का भवन हिरण्य की वृष्टि करके भर दिया अत· वे (ऋषभदेव) जगत् मे हिरण्यगर्भ के नाम से प्रख्यात हुए।

अत· जैन और वैदिक दोनो ही परम्पराओ की मान्यता के अनुसार भगवान ऋषभदेव अपर नाम हिरण्यगर्भ योगविद्या के आदिप्रणेता है।

भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रदत्त यह योगविद्या सुदीर्घ काल तक चलती रही।

इस बीच असख्य लोग योग साधना करते रहे और संसार से मुक्ति प्राप्त करते रहे। योगियो की परम्परा का प्रमाण हमें मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त मुद्राओ मे मिलता है। वहाँ कायोत्सर्ग मुद्रा मे एक ध्यानावस्थित योगी की मोहर (seal)[1] प्राप्त हुई है। स्व० राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर ने इसे जैन तीर्थंकर की मूर्ति माना है। वे लिखते है—"मोहनजोदडो की खुदाई मे प्राप्त मोहरो मे से एक मे योग के प्रमाण मिले है। एक मोहर मे एक ओर वृषभ तथा दूसरी ओर ध्यानस्थ योगी है, जो जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव है। उनके साथ भी योग की परम्परा लिपटी हुई है।"[2]

इसके अतिरिक्त पटना के निकट लोहानीपुर से प्राप्त नग्न कायोत्सर्ग स्थित मूर्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है।[3]

इस प्रकार योग, योगी और योग-प्रक्रियाएँ सुदीर्घकाल तक चलती रही। किन्तु एक विशेष बात यह हुई कि काल प्रवाह से 'योग' अनेक प्रकार की विद्याओ, विशेषकर आध्यात्मिक विद्याओ और मोक्षप्राप्ति के उपायो मे प्रयुक्त होने लगा। अनेक प्रकार के योग प्रचलित हो गये; यथा—ईश्वरभक्ति-योग, तन्त्रयोग, राजयोग, ज्ञानयोग आदि-आदि।

---

१ Modern Review, August 1932, pp 155-156.

२ आजकल, मार्च १९६२, पृ० ८.

३ जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, प्राक्कथन, पृष्ठ १०.

अन्य प्रकारान्तर जो आज किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हैं, पतंजलि से पूर्ववर्ती है। पतजलि ने इन सभी को संकलित किया है और उनकी पद्धतियो के विश्लेषण मे न पडकर उनकी दार्शनिक समीक्षा की है, योग साधना के दर्शन को प्रस्तुत किया है।'

किन्तु सकलनकर्ता होने से पतजलि का महत्व कम नहीं हो जाता। उनका कार्य महान है। उन्होने इधर-उधर बिखरे हुए योग सम्बन्धी विचारो, मान्यताओ, सिद्धान्तो, प्रक्रियाओ तथा उनसे प्राप्त विशिष्ट शक्तियो—लब्धियो को सकलित किया और सुव्यवस्थित ढग से सजाकर एक दर्शन का रूप दे दिया, सर्वजनोपयोगी बना दिया। इस दृष्टि से उन्हे योगदर्शनकार स्वीकार किया ही जाना चाहिए। बाद के मनीषियो ने योगदर्शनकार के गौरवपूर्ण पद से उन्हें उचित ही सम्मानित किया है।

पातंजल योगदर्शन का दार्शनिक आधार

जिस प्रकार भक्ति योग का आधार श्रीमद्भागवत है उसी प्रकार ज्ञान योग का आधार कपिलमुनि का साख्यदर्शन है। दार्शनिक आधार अथवा पृष्ठभूमि के रूप मे साख्यदर्शन काफी प्रभावशाली रहा है। श्रीमद्भगवद् गीता का दार्शनिक आधार भी साख्यदर्शन है। किन्तु योगदर्शन का तो दार्शनिक मेरुदण्ड ही साख्यदर्शन है। यही कारण है कि योगदर्शन के साथ 'साख्य' शब्द जुड ही गया और विद्वत् समाज मे तथा दार्शनिक जगत मे 'साख्य-योग' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। आत्मा, परमात्मा आदि सम्बन्धी योग-दर्शन की सभी मान्यताएँ साख्यसम्मत ही है।

पातजल योगदर्शन पर अन्य दर्शनो का प्रभाव

जैसा कि स्वाभाविक है, एक देश मे पनपने वाली विचारधाराएँ परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होती ही है, फिर योगदर्शन तो तत्कालीन अध्यात्म साधनाओ के योग सम्बन्धी विचारो का संकलन है। अतः इस पर तो अन्य दर्शनो का प्रभाव होना सामान्य सी बात है। ईश्वरप्रणिधान आदि बातें वेदान्त की भक्तिमार्गीय शाखा का स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार अन्य दर्शनो का भी प्रभाव परिलक्षित होता है।

महामहोपाध्याय डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी योगदर्शन पर बौद्धदर्शन का प्रभाव अधिक मानते है। अपनी मान्यता के प्रमाणस्वरूप उन्होने 'विपर्यय', 'विकल्प', 'प्रत्यय', कर्माशय' 'कर्मविपाक' आदि शब्दो का उल्लेख किया है जो दोनो ही दर्शनो मे सामान्य रूप से प्रयुक्त हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नही है। थोडा-बहुत प्रभाव बौद्धधर्म का योगशास्त्र पर हो सकता है।

पातंजल योग पर जैन दर्शन का प्रभाव

जैनधर्म-दर्शन का योगशास्त्र—पातजल योग पर अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। योगदर्शन मे अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए है जो अन्य किसी भी भारतीय दर्शन मे नही पाये जाते। इस प्रभाव को समझने के लिए तीन वर्गों में विभाजित करना उचित है—(१) शब्द-साम्य (२) विषय-साम्य और (३) प्रक्रिया-साम्य।

(१) **शब्द-साम्य**—कुछ ऐसे शब्द है, जिनका प्रयोग विशेष रूप से जैन आगमो और जैन-दर्शन मे हुआ, अन्य जैनेतर दर्शनो में नही; तथा वे शब्द योगसूत्र तथा उसके भाष्य में ज्यो के त्यो प्रयुक्त हुए है। उनमें से कुछ शब्द उदाहरणस्वरूप निम्न है—

भवप्रत्यय[1], सवितर्क-सविचार-निर्विचार[2], महाव्रत[3], कृत-कारित-अनुमोदित[4], सोपक्रम-निरुपक्रम[5], वज्रसंहनन[6], केवली[7], ज्ञानावरणीय कर्म[8], चरमदेह[9], आदि।

---

१ (क) नन्दी सूत्र ७, स्थानाग सूत्र २/१/७१, तत्वार्थसूत्र १/२२
(ख) पातजल योगसूत्र १/१९

२ (क) स्थानाग सूत्र वृत्ति ४/१/२४७, तत्त्वार्थसूत्र ९/४३-४४,
(ख) पातजल योगसूत्र १/४२,४४

३ (क) स्थानाग ५/१/३८९, तत्त्वार्थसूत्र ७/२
(ख) पातजल योगसूत्र २/३१

४ (क) दशवैकालिक, अध्ययन ४, तत्त्वार्थसूत्र ६/९
(ख) पातजल योगसूत्र २/३१

५ (क) स्थानाग सूत्र (वृत्ति) २/३/८५, तत्त्वार्थसूत्र (भाष्य) २/५२,
(ख) पातंजल योगसूत्र ३/२२

६ (क) प्रज्ञापना सूत्र, तत्वार्थसूत्र (भाष्य) ८/१२
(ख) पातजल योगसूत्र ३/४६

७ (क) तत्वार्थ सूत्र ६/१४
(ख) पातजल योगसूत्र (भाष्य) २/२७

८ (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३३, गाथा २, आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८९३, तत्वार्थसूत्र ८/५, १०/१
(ख) पातजल योगसूत्र (भाष्य) २/५१

९ (क) स्थानाग सूत्र (वृत्ति) २/३/८५, तत्वार्थसूत्र २/५२
(ख) पातजल योगसूत्र (भाष्य) २/४

(२) विषय-साम्य—जैनदर्शन और योगसूत्र मे विषय-निरूपण मे भी काफी साम्य परिलक्षित होता है। जैसे पाँच यमो का वर्णन[1], सोपक्रम-निरुपक्रम कर्म का स्वरूप[2], आदि-आदि।

(३) प्रक्रिया-साम्य—दोनो दर्शनो मे प्रक्रिया-साम्य भी है। धर्म-धर्मी का स्वरूप-विवेचन त्रिगुणात्मक (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) लगभग एक-सा बताया गया है। सांख्यदर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर योगदर्शन ने वस्तु को कूटस्थनित्य माना है, जबकि जैनदर्शन परिणामी-नित्य मानता है। सिर्फ इतना-सा ही अन्तर है, बाकी सब प्रक्रिया समान है।[3]

इस विवेचन और उद्धरणो से स्पष्ट है कि योगदर्शन सर्वाधिक प्रभावित जैनदर्शन से ही हुआ है। दार्शनिक पृष्ठभूमि को अलग रख दें (क्योंकि यह साख्यदर्शन के आधार पर है) तो यम, योगविभूति, प्रक्रिया, योग से प्राप्त होने वाली लब्धियाँ आदि बातो मे जैनदर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

जैन योग की विशेषताएँ

जैन योग का केन्द्रबिन्दु स्व-स्वरूपोपलब्धि है। जहाँ योग एवं अन्य दर्शनो ने जीव का ब्रह्म मे लीन हो जाना, योग का ध्येय निश्चित किया है, वहाँ जैन दर्शन स्व-आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता और पूर्ण विशुद्धि योग का ध्येय निश्चित करता है। जैन दृष्टि के अनुसार योग का अभिप्राय सिर्फ चेतना का जागरण ही नही है, वरन् चेतना का ऊर्ध्वारोहण है। इसका कारण यह है कि जैनदर्शन ने आत्मा को स्वभावत. ऊर्ध्वगमन-स्वभावी माना है।

जैनदर्शन प्रत्येक वस्तु एव विधा को द्रव्य और भाव दोनो दृष्टियो से देखता है/परीक्षा करता है। इसीलिए प्राणायाम मे यह श्वास-नियमन एवं

---

१ (क) दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ४

(ख) पातजल योगसूत्र २/३१

२ (क) आवश्यकनिर्युक्ति ६५६, विशेषावश्यकभाष्य ३०६१, तत्त्वार्थसूत्र (भाष्य) २/५२

(ख) पातजल योगसूत्र (भाष्य) एव व्यास भाष्य ३/२२,

३ (क) तत्वार्थसूत्र ५/२६

(ख) पातजल योगसूत्र ३/१३-१४

नियन्त्रण पर ही बल नही देता, वरन् भाव प्राणायाम भी वतलाता है। इसमें साधक को सकेत करता है कि वह पाप-कषाय आदि भावों का रेचन करे, शुद्ध भावो का कुम्भक करे और सद्गुणो का पूरण करे।

संवरयोग और निर्जरायोग इसकी ऐसी विशिष्ट अवधारणाएँ है जो अन्यत्र प्राप्त नही होती। मन-वचन-काय की एकाग्रता साधक को आत्मा के सन्मुख कर देती है और साधक आत्मिक आनन्द में डूब जाता है। जैन योग आलम्बन मे व्यक्त के साथ अव्यक्त को देखने की प्रेरणा देता है।

यदि योग के प्रकारो की दृष्टि से देखें तो इसे राजयोग कह सकते है; क्योकि इसमें भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का सुन्दर, उचित और सन्तुलित समन्वय है। □

४ योग के विविध रूप और साधना पद्धति

प्राचीन काल से ही 'योग' के प्रति जनता का आदर एवं आकर्षण रहा है। इसका एक कारण यह भी था कि 'योगविद्या' एक रहस्यमयी गुप्त विद्या मानी जाती थी और योगी को लोग बहुत बडा तपस्वी, चमत्कारी और पहुँचे हुए साधक की दृष्टि से देखते थे। योग सामान्य आदमी के लिए कठोर मार्ग था, इसलिए श्रद्धा का विषय बन गया। इस लोक-श्रद्धा का लाभ उठाकर विविध धर्म सम्प्रदाय अपने को योग से जोडने में लग गये। अपनी विचारधारा एवं आचार परम्परा को 'योग मार्ग' की संज्ञा देकर गौरव अनुभव करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि जितने सम्प्रदाय थे, उतने ही योग मार्ग बन गये और प्रत्येक सम्प्रदाय का नेता स्वयं अपने को, योगी, योगेश्वर अथवा योगिराज कहलाने में गौरव अनुभव करता। उनकी साधना विधि, विचार सरणि एक स्वतन्त्र योग मार्ग बन गई।

प्रस्तुत प्रसंग में हम इन विभिन्न साधना विधियो, विचार सरणियो का एक सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे है, जो 'योग' संज्ञा से प्रसिद्ध हुए और विविध प्रकार की योग विधियो की प्रस्तावना कर सके।

गीतोक्तयोग

यो तो गीता योगशास्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध है किन्तु उसमें वैसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का भी सुन्दर समन्वय मिलता है। इनके अतिरिक्त इसमे समत्वयोग और ध्यानयोग का भी वर्णन है। इन योगो के तीन मुख्य उद्देश्य माने गये है—(१) जीवात्मा का साक्षात्कार, (२) विश्वात्मा का साक्षात्कार और (३) ईश्वर का साक्षात्कार।[1]

गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त मे 'ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवत्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे .... ।' यह वाक्य दिया गया है। इस वाक्य का अभिप्रेत गीता को योग ग्रन्थ प्रमाणित करना ही है। योग विषयक अनेक विचार गीता में संग्रहीत और समन्वित है।

---

१ कल्याण, साधनांक, वर्ष १५, अंक १, पृष्ठ ५७५।

गीता मे १८ अध्याय है, प्रत्येक अध्याय के विषय को एक स्वतन्त्र 'योग' की संज्ञा की गई है। अतः १८ प्रकार के योग उसमें बताये गये है। उनके नाम है—(१) समत्वयोग, (२) ज्ञानयोग, (३) कर्मयोग, (४) दैवयोग, (५) आत्मसंयमयोग, (६) यज्ञयोग, (७) ब्रह्मयोग, (८) संन्यासयोग, (९) ध्यानयोग, (१०) दुःख संयोग-वियोगयोग, (११) अभ्यासयोग, (१२) ऐश्वरीययोग, (१३) नित्ययोग, (१४) शरणागतियोग, (१५) सातत्ययोग, (१६) बुद्धियोग, (१७) आत्मयोग और (१८) शक्तियोग।

इन सभी योगो के लक्षण व वर्णन भी इनके नाम के अनुसार वहाँ दिये गये है।

अन्य विविध ग्रन्थो मे योग के विभिन्न भेद एवं प्रकार इस तरह प्राप्त प्राप्त होते है :—

समाधियोग

यह योग महर्षि पतंजलि के अष्टांगयोग के अन्तिम अंग 'समाधि' पर आधारित है। समाधियोग के अन्तर्गत सबीज और निर्बीज—दो प्रकार की समाधि मानी गई है, इसे 'सविकल्प' और 'निर्विकल्प समाधि' भी कहा गया है। तेजोबिन्दु उपनिषद् में जीवात्मा का परमात्मा मे लीन हो जाना समाधि कहा गया है।

इसी को पातंजल योगसूत्र मे असप्रज्ञात योग, निर्बीज समाधि, कैवल्य, चिति शक्ति, स्वरूप प्रतिष्ठा[1] आदि नामो से कहा गया है।

शरणागतियोग

यह गीताकार द्वारा प्रतिपादित है। इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति अनन्यभाव से भगवान की शरण ग्रहण कर लेता है, उसे वे (भगवान) सभी पापो से मुक्त कर देते है—

> अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। —गीता

वास्तव में यह भक्तियोग का ही एक प्रकार है। इसमे भक्त अपने आपको—अपने सभी कार्यों को अपने भगवान के प्रति अर्पित कर देता है।

इस योग का मूल लक्ष्य साधक को अभिमान—अर्थात् मैं किसी कार्य को करता हूँ—इस अहं-कर्तृत्व भाव से मुक्त करना है।

---

१ पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसव. कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।
—पातंजल योगसूत्र ४/३४

राजयोग

राजयोग का अभिप्राय है—साधक द्वारा अपनी समस्त बाह्य एव आन्तरिक प्रवृत्तियो को अनुशासित करना। इसके सम्वन्ध मे गीता का यह श्लोक प्रचलित है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगोभवति दु खहा ॥

—युक्त—उचित अथवा अनुशासित आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, निद्रा एव जागरण—इस प्रकार का योग सभी दु.खो का अन्त करने वाला है।

इस प्रकार इस योग मे साधक अपनी इन्द्रियो और मन को अनुशासित करके परमात्म तत्त्व मे लगाता है।

हठयोग

हठयोग का उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक उन्नति है। इसकी मान्यता है कि सुदृढ़ और स्वस्थ शारीरिक अवस्था हो तभी इच्छाओ पर नियन्त्रण किया जा सकता है और मन शान्त हो सकता है, जो कि योग साधना के लिए अति आवश्यक है।

हठयोग सिद्धान्त की चर्चा योगतत्त्वोपनिषद् तथा शाडिल्योपनिषद् मे प्राप्त होती है। हठयोग के आदिप्रवर्तक शिव माने जाते है।[1]

हठयोग का अभिप्राय है—सूर्य-चन्द्र, ईडा-पिंगला, प्राण-अपान का मिलन। 'ह' का अभिप्राय है—सूर्य और 'ठ' से अभिप्राय चन्द्र है। इस प्रकार 'हठ' का अर्थ हठयोग मे सूर्य-चन्द्र संयोग[2] माना गया है।

षट्कर्म,[3] प्राणायाम, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि—ये हठयोग के सात अग है।[4] किन्तु इनमे से हठयोग की प्रक्रियाओ मे आसन, मुद्रा और प्राणायाम का विशेष महत्व दिखाई देता है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार—इसका (हठयोग का) उद्देश्य आन्तरिक शरीर की शुद्धि करके राजयोग की ओर गमन करना है। वहाँ यह भी कहा गया है कि हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग सम्भव नही है।[5]

---

१ हठयोग प्रदीपिका १/१.
२ हठयोग प्रदीपिका १/१, ३/५
३ हठयोग प्रदीपिका २/२२
४ घेरण्ड सहिता १/१०-११
५ हठयोग प्रदीपिका २/७५

हठयोग की मान्यता है कि नाडी शुद्धि होने के उपरान्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है तथा यह षट् चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र में पहुँचती है। इस दशा मे साधक का चित्त निरालम्ब और मृत्यु के भय से रहित हो जाता है। यह योगाभ्यास का मूल है।[1] इसी दशा को कैलाश भी कहा जाता है।[2]

वास्तविक स्थिति यह है कि नाडी शुद्धि के पश्चात् जब मन स्थिर होने लगता है, निरोधावस्था में पहुँच जाता है, तब राजयोग की सीमा प्रारम्भ होती है।

हठयोग मे आचार-विचार की शुद्धि पर भी अधिक बल दिया गया है। वहाँ अनेक यम-नियमो के पालन का विधान है।[3]

हठयोग का साधक यम-नियमो का पालन करता हुआ अपने शरीर की आन्तरिक शुद्धि, नाड़ी शुद्धि, प्राणायाम आदि के द्वारा करता है और फिर अपनी शक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर सूक्ष्म शरीर को वश मे करता है, तब चित्त निरोध करता है और तदुपरान्त ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

यह सम्पूर्ण पद्धति और प्रक्रिया ही हठयोग है।

नाथयोग

नाथयोग का प्रारम्भ गोरखनाथ[4] (१०वी शताब्दी) ने किया है। इस सम्प्रदाय की ऐसी मान्यता है कि शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ को योग की दीक्षा दी थी और मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ को।

नाथपंथीय परम्परा में मुख्यत: ९ नाथ[5] माने जाते है, वैसे ८४ नाथ भी माने जाते है। इस पंथ के अन्य कई नाम भी प्रचलित है, जैसे सिद्धमत, योग सम्प्रदाय, योग-मार्ग, अवधूत मत, अवधूत सम्प्रदाय आदि-आदि।[6]

---

१ भारतीय सस्कृति और साधना, भाग २, पृष्ठ ३९७

२ शिवसहिता ५.

३ हठयोग प्रदीपिका १७-१८

४ (क) Siddha Siddhant Paddhati and other Works of Nath Yogis, pp. 7 and 10

(ख) Gorakhnath and Kanfata Yogis, pp. 235-36

५ गोस्वामी, प्रथम खण्ड, वर्ष २४, अ० १२, १९६०, पृ० ९२

६ कबीर की विचारधारा, पृ० १५३

यद्यपि नाथयोग की यौगिक प्रक्रियाएँ हठयोग से मिलती-जुलती हैं, किन्तु इनके अन्तिम साध्य में बहुत अन्तर है। नाथयोग का अन्तिम साध्य शाश्वत आत्मा की अनुभूति प्राप्त करना है।[1] अत' यह आत्मा का अमरत्व, नादमधु का आनन्द, शिवभक्ति के साथ समरसता उत्पन्न करता है।

नाथयोग सम्प्रदाय मे गुरु का महत्त्व अत्यधिक है। गुरु की कृपा से ही साधक संसार-बन्धन को तोडकर शिव की प्राप्ति कर सकता है।[2] नाथ-सिद्धान्तयोग द्वैताद्वैत विलक्षणी माना जाता है। इसका कारण यह है कि शिव न द्वैत है और न ही अद्वैत, वे तो अवाच्य और निरुपाधि है।[3] वे द्वैत-अद्वैत, साकार-निराकार से परे हैं।

इस सम्प्रदाय मे भी कुण्डलिनी शक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। यह शक्ति सर्पाकार वृत्ति में सोई हुई रहती है तथा आत्म-सयम द्वारा जाग्रत होती है। जागने के वाद यह षट्चक्रो का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र मे जाकर शिव के साथ एक रूप हो जाती हैं। यह मिलन जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिलन एवं एकरूप तथा लीन होने का प्रतीक है।[4] इस नाथयोग सम्प्रदाय का ध्येय ही शिव और शक्ति का मिलन है।[5]

भक्तियोग

भक्तियोग का अभिप्राय ईश्वर के प्रति अनन्य श्रद्धा और विश्वास है। इसमें भक्त अथवा साधक अपने इष्टदेव के प्रति पूर्णतया समर्पित होता है।

मध्वाचार्य[6] ने सुदृढ स्नेह को भक्ति बताया है। ब्रह्मसूत्रभाष्य[7] में

---

१ ज्ञानेश्वरी (मराठी), प्रस्तावना, पृ० ४३

२ (क) एव विधगुरो शब्दात् सर्वचिन्ता विवर्जित. ।
स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव समभ्यसेत् ॥ —अमनस्कयोग १५

(ख) Siddha Siddhant Paddhati and other Works of Nath Yogis, pp 54-80

३ अमनस्कयोग २५.

४ सन्त मत का सरभग सम्प्रदाय, पृ० ४६

५ शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेरभ्यन्तरः शिव ।
अन्तर नैव जानीयाच्चद्रचन्द्रिकयोरिव ॥ —सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ४/२६.

६ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिक ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥
—श्रीमन्महाभारत तात्पर्य निर्णय

७ महत्त्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते ।
तथैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूप सुखादिकम् ॥ —ब्रह्मसूत्रभाष्य

कहा गया है कि महत् बुद्धि भक्ति है, जो स्नेह से परिपूरित होती है, तथा यही जीव को सुख देने वाली है। श्री जयतीर्थ मुनीन्द्र[1] ने भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा है कि—अपरिमित अनवद्य कल्याण गुणो के ज्ञान से उत्पन्न हुए अपने समस्त सम्बन्धी जनो तथा पदार्थों से ही क्या, प्राणो से भी कई गुना अधिक, हजारो विघ्न आने पर भी न टूटने वाले, अत्यधिक सुदृढ गंगा प्रवाह के समान अखण्ड प्रेम के प्रवाह को भक्ति कहते है।

भक्ति के नौ प्रकार माने गये है—(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवा, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्म-निवेदन। इस नौ प्रकार की भक्ति द्वारा साधक अपने इष्टदेव की अर्चना करता है।

भक्तियोग मे साधक की योग्यता तथा इष्ट में लीनता के आधार पर दो श्रेणी हो जाती है—पक्व भक्ति तथा अपक्व भक्ति। भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति के उपायो के रूप मे भक्तियोग में चार सोपानो की चर्चा की गई है। प्रारम्भ मे साधक अथवा भक्त की भक्ति अपक्व दशा मे होती है। उसमें आस्तिक्य बुद्धि होती है, वह गुरु के पास भी जाता है, गुरु सेवा-भक्ति भी करता है, गुरु-मुख से सामान्यतया तत्वो का श्रमण-मनन भी करता है, किन्तु इस दशा मे उसकी भक्ति अनन्य नही होती। दूसरे सोपान मे तत्वो के प्रति उसकी रुचि बढती है, वह तत्वो का निश्चय भी करता है, किन्तु भक्ति की अनन्यता में कमी रह जाती है। तीसरे सोपान पर पग रखते ही उसकी भक्ति अनन्य हो जाती है, वह इष्टदेव का ध्यान करने लगता है और उसे अपने इष्टदेव का साक्षात्कार भी हो जाता है। चौथे सोपान में उसकी अनन्यता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है और भगवद्कृपा से उसे मुक्ति अथवा भगवान का धाम प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार भक्तियोग मे योग के केवल एक ही अंग ध्यान के आश्रय से मुक्ति मानी गई है।

ज्ञानयोग

यह विशेष रूप से साख्यदर्शन द्वारा प्रतिपादित है। साख्यदर्शन की मान्यता यह है कि पुरुष सदैव शुद्ध है, यह संसार प्रकृति का खेल है। पुरुष

---

१ तत्र भक्तिर्नाम निरविधकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञानपूर्वक स्वस्वात्मात्मीय समस्त वस्तुभ्योऽनेकगुणाधिकोऽन्तराय सहस्रेणाप्य प्रतिवद्धो निरन्तर प्रेम प्रवाह। —श्रीमन्न्यायसुधा

प्रकृति के इस खेल मे रस ले रहा है, इसीलिए वह अपने को बन्धनग्रस्त समझता है। यदि वह रस लेना छोड दे तो मुक्त हो जाय। इसके लिए उसे अपने और प्रकृति के स्वभाव का ज्ञान करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त होते ही वह प्रकृति के खेल मे रस लेना बन्द कर देगा और मुक्त हो जायगा। इसी-लिए साख्यकारिका माठरवृत्ति मे कहा गया है—

पचविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र सशयः ॥

ज्ञानयोग योग के अन्य किसी अग पर जोर नही देता। इसका अभि-प्राय तो सिर्फ 'आत्मानं विद्धि' ही है। इसी से ज्ञानयोगी आत्मा की मुक्ति मानता है।

ज्ञानयोग तीव्र बुद्धि द्वारा अविद्या को नाश करना आवश्यक मानता है और कहता है कि अविद्या के नाश होने पर आत्मा का स्वरूप परिलक्षित हो जाता है।

कर्मयोग

कर्मयोग का अभिप्राय गीता के अनुसार कर्म करने का कौशल है—'योगः कर्मसु कौशल'। यहाँ कर्म की कुशलता का अभिप्राय ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्तव्य किये जाना है। ईश्वरार्पण बुद्धि के कारण मनुष्य मे कर्म करने का अर्थात्—'मैंने यह कार्य किया है', 'मैंने सफलता प्राप्त की है', या 'मैं विफल हो गया हूँ' ऐसा हर्ष-विषाद तथा अहकार नही होता, फलस्वरूप कर्म करते हुए भी मनुष्य समत्व भाव मे रहता है और इस समत्व के कारण वह मुक्त हो जाता है।

लययोग

लययोग की चर्चा नादविन्दु, ब्रह्मविन्दु, ध्यानविन्दु, तेजोविन्दु आदि उपनिपदो मे प्राप्त होती है। वहाँ इसका काफी महत्व दिखाया गया है। लययोग का अभिप्राय यह है कि मनोविन्दु, प्राणविन्दु, अहंविन्दु आदि विन्दु मात्र का और विन्दु के वीजक रूप स्थूल, सूक्ष्म और अति स्थूल शब्द मात्र का स्वस्वरूपानुसन्धानपूर्वक संहार कर अर्थात् नादमय सारी भूमिकाओं को त्याग कर स्वरूप मे स्थितिकर उसी मे लीन हो जाना।

यह मार्ग हठयोग की अपेक्षा सहज और सरल है।

नाद का अभिप्राय शब्द है। ऐसा माना जाता है कि सूक्ष्म शरीर के अन्दर स्थित अनाहत चक्र मे अत्यन्त मधुर ध्वनि तरंगें सतत उठती रहती

है, उस ध्वनि को अनहद नाद कहा जाता है। योगी सिद्धासन से बैठकर और आँखो को अर्द्धोन्मीलित करके दृष्टि का अन्तर्मुखी रखे तथा दायें कान से सदैव अन्तर्गत नाद को सुने।

लययोग का मूलाधार प्रणव अथवा ॐ है। ॐ शब्द की रचना 'अ, उ, म्' इन तीन अक्षरो से हुई है। 'अ' मनोबिन्दु का सूचक है, 'उ' प्राणबिन्दु का और 'म्' अहंबिन्दु का।

योगी क्रमश. इन तीनो प्रकार के बिन्दुओ को गोपन करके तथा नाद सुनते-सुनते अपने स्वरूप मे अवस्थित और लय हो जाता है, यही लययोग है। इस अवस्था मे उसे अतीन्द्रिय और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव होता है।

अस्पर्शयोग

अस्पर्शयोग का अभिप्राय है—पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म आदि सभी सांसारिक प्रवृत्तियो से अलिप्त रहना। आनन्दगिरि ने अस्पर्शयोग को विशुद्ध अद्वैत बताया है।

अस्पर्शयोग की चर्चा गौडपाद ने की है। वे ही इस योग के आविष्कर्ता माने जा सकते है।

अस्पर्शयोग बहुत कुछ अशो मे गीताकार द्वारा प्रतिपादित अनासक्ति-योग ही है। अनासक्तियोग मे भी कर्म और उसके फल के प्रति आसक्ति नही रखी जाती। आसक्ति के अभाव मे आशा-तृष्णा का क्षय हो जाता है और फिर मुक्ति सुलभ हो जाती है।

किन्तु स्वयं गौडपाद के शब्दो में ही अस्पर्शयोग योगियो के लिए भी दुर्दर्श है—

> **अस्पर्शयोगो वै नाम, दुर्दर्श. सर्वयोगिभि ।**
>
> —गौडपादीय कारिका ३९

इस दुर्दर्शता का कारण यह है कि अनादिकालीन अविद्या, मोह तथा आशा-तृष्णा के संस्कार बड़ी कठिनाई से छूटते है।

अस्पर्शयोग वस्तुतः मन का सासारिक प्रवृत्तियो में निर्लिप्त होने का नाम है। साधक सासारिक प्रवृत्तियाँ तो करता है किन्तु उनमे लिप्त नही होता, उनके प्रति उसकी तनिक भी आसक्ति नही होती।

सिद्धयोग

सिद्धयोग, हठयोग से मिलता-जुलता है। इस योग में कुण्डलिनी को विशेष महत्त्व प्राप्त है। कुण्डलिनी के पास ही मूलाधार चक्र के समीप शक्ति

सर्पिणी के रूप मे सुषुप्ति अवस्था मे है। साधक इसे प्राणायाम द्वारा जाग्रत करता है। जाग्रत होकर यह ऊपर को चढती है और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शिव के साथ मिल जाती है। साधक सिद्ध हो जाता है।

इसमे आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान—योग के इन अंगो को विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण साधना इन्ही अंगो पर आधारित है।

जन अनुश्रुति के अनुसार इस सम्प्रदाय के लूहिया आदि ८४ सिद्ध हुए है।

तन्त्रयोग

तन्त्रयोग काफी प्राचीन है। योगदर्शन जिस समय महर्षि पतजलि द्वारा सकलित, मग्रहीत और लिपिबद्ध हुआ था उस समय भी तन्त्रयोग की प्रक्रियाएँ योगियो मे प्रचलित थी।

तन्त्रयोग मे योग-साधना के आठ अग माने जाते है। वे ही अग पतजलि द्वारा अष्टागयोग रूप मे प्रचलित हुए हैं। वे अग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

तन्त्रयोग मे यम १० माने गये है—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) कृपा, (६) आर्जव, (७) क्षमा, (८) धृति, (९) मिताहार और (१०) शौच। इसी प्रकार नियम भी १० है—(१) तप, (२) सन्तोष, (३) आस्तिक्य, (४) दान, (५) देव पूजा, (६) सिद्धान्त श्रवण (७) ह्री, (८) मति (९) जप और (१०) होम। यहाँ ह्री का अभिप्राय कुत्सित आचरण से मन मे होने वाला कष्ट है।

इन यम-नियमो के पालन से पहले साधक को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छ. शत्रुओ को वश मे करना अनिवार्य है।

शेष छह अग वही हैं, जो पतजलि द्वारा प्रतिपादित है।

मध्य युग तक आते-आते और विशेष रूप से बगाल प्रान्त मे, इस तन्त्र में 'वाम' और 'कौल' शब्द और जुड गये। वाममार्ग चूँकि गुरु-परम्परा से गुप्त रखा गया[1] अत· जनता मे वाम-कौल तन्त्रयोग के बारे मे भाँति-भाँति

---

१ प्रकाशात् सिद्धहानि स्याद् वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वाम पथ देवि, गोपायेत् मातृजारवत् ॥ —विश्वसार

अर्थात्—हे देवि! वामाचार मे साधन को प्रकाशित करने से सिद्धि की हानि होती है अत वाममार्ग को माता के जार के समान गुप्त रखना चाहिए।

के भ्रम फैल गये; किन्तु सत्य स्थिति ऐसी नही है। इसके लिए पहले 'वाम' और 'कौल' शब्दो का अर्थ समझ लेना उपयुक्त होगा कि ये शब्द वहाँ किस रूप मे प्रयुक्त किये जाते है और इनका अभिप्राय क्या है ?

'वाम' शब्द का आशय बताते हुए दुर्गाचार्य ने कहा है—

य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि प्रशस्या भवन्ति ।

—जो प्रज्ञावान (बुद्धिमान) हैं वे ही प्रशस्य हैं। प्रशस्य शब्द का अर्थ है प्रज्ञावान। प्रज्ञावान प्रशस्य योगी का नाम ही 'वाम' है।

'कौल' शब्द का अभिप्राय स्वच्छन्द शास्त्र में इस श्लोक द्वारा सूचित किया गया है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ।
कुलाकुलस्य सम्बन्ध कौलमित्यभिधीयते ।।

—'कुल' शब्द शक्ति का वाचक है और 'अकुल' शब्द शिव का, तथा कुल और अकुल के सम्बन्ध को कौल कहा जाता है।

वाममार्ग पर चलने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त नही, इसके लिए साधक में कुछ विशिष्ट गुणो का होना आवश्यक माना है।

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः ।
परापवादे यो मूक सर्वदा विजितेन्द्रिय. ।।
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता ।

—मेरुतन्त्र

—जो पर द्रव्य के लिए अन्धा है, परस्त्री के लिए नपुंसक है, दूसरो की निन्दा के लिए मूक यानी गूँगा है और इन्द्रियों को अपने वश में रखता है—ऐसा ब्राह्मण वाममार्ग का अधिकारी होता है।

तन्त्रयोग में मुख्य साधन दो माने गये है—भावना और कुल या कुण्डलिनी का ऊर्ध्व संचालन।

भावना का महत्व प्रदर्शित करते हुए कहा गया है—

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनं ।
भावेन परम ज्ञानं, तस्माद् भावावलम्बन ।।

—रुद्रयामल

बहु जापात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः ।
न भावेन विना देवो यन्त्रमन्त्रफलप्रदः ।।

—भाव चूडामणि

—भाव से सब कुछ प्राप्त होता है, भाव से ही देवदर्शन होता है और भाव से ही श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए भाव का आलम्बन लेना चाहिए।

—कितना ही जप किया जाय, होम किये जायें और शरीर को कितना ही कष्ट दिया जाय, किन्तु भाव के बिना देव-यन्त्र-मन्त्र फल नही देते।

अतः इस भाव सिद्धान्त के अनुसार ही तमोगुणी के लिए पशु-भाव की, रजोगुणी के लिए वीर-भाव की तथा सतोगुणी साधक के लिए दिव्य-भाव की साधना तन्त्रयोग (वाममार्ग) में बताई गई है।

तन्त्रयोग (वाममार्ग) का दूसरा साधन है—कुण्डलिनी। कुण्डलिनी क्या है, यह बताते हुए श्री जॉन वुडरफ ने कहा है—

Shortly stated Energy (Shakti) polarises itself into two forms, viz., Static or Potential (Kundalini) and Dynamic (Prana) the working forces of the body.

—Sir John Woodraffe—Shakti & Shakta

अर्थात्—संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शक्ति दो रूपो मे प्रकट होती है; यथा—(१) स्थिर रूप में कुण्डलिनी और (२) चल अथवा गत्यात्मक रूप में प्राण (श्वासोच्छ्वास)।

श्री आर्थर एवलन के शब्दो मे—

'Kundalini is the static *shakti* It is the individual bodily representive of the great Cosmic Power, which creates and sustains the universe.

—Arthur Avalon—The Serpent Power

अर्थात्—कुण्डलिनी स्थिर शक्ति है। यह उस महान विश्वव्यापिनी शक्ति का व्यष्टि शरीरस्थित रूप है, जो विश्व की रचना करती है और उसे धारण करती है।

आगे तन्त्रयोग (वाममार्ग) की साधना हठयोग के समान ही है। वाममार्ग भी यही मानता है कि सर्पिणी के आकार की शक्ति मूलाधार चक्र मे सोई पडी है और जब साधक विभिन्न यौगिक प्रक्रियाओ द्वारा इसे जाग्रत कर देता है तो यह ऊर्ध्व दिशा की ओर गति करती हुई ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार चक्र स्थित शिव से मिलन कर लेती है। यही साधक की सिद्धि है।

यम-नियम आदि इस सम्प्रदाय के वही है जो तन्त्रयोग और हठयोग

के हैं। हाँ, वाममार्ग ने एक विशेष बात यह कही है कि आधीरात का समय ध्यान और जप के लिए श्रेष्ठ होता है।

तारकयोग

तारकयोग का प्रचार निजानन्द सम्प्रदाय (प्रणामी धर्म) के आदि-संस्थापक श्री देवचन्द्रजी तथा प्राणनाथ ने किया है।

तारकयोग एक मन्त्रविशेष द्वारा प्राप्त ज्ञान को कहा गया है जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कार का भेद बताया गया है। इसका मुख्य आधार प्रेम है। जहाँ तक सच्चा प्रेम उत्पन्न नही होता वहाँ तक तारकयोग सिद्ध नही होता।

इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि सच्चे प्रेम से ही मनुष्य बन्धन-मुक्त हो जाता है।

ऋजुयोग

ऋजुयोग भक्तियोग के अन्तर्गत ही है। इसमे (ऋजुयोग में) मृदुता एव सरलता अति आवश्यक है।

ऋजुयोग के चार अंग हैं—(१) सत्सग, (२) भगवत् कथाश्रवण, (३) कीर्तन और (४) जप। ऋजुयोग की मान्यता है कि इन चारो अंगो अथवा इनमे से किसी भी एक अंग का सच्चे हृदय से पालन करने से ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।

वस्तुतः ऋजुयोग सरल मार्ग है। इस पर ज्ञानी-अज्ञानी सभी चल सकते हैं, दुर्बल शरीर वालो को भी इस पथ पर चलने में कठिनाई नही होती। हठयोग एवं तन्त्रयोग के समान इसमे कोई जटिल यौगिक प्रक्रिया तथा विधि-विधान नही है।

जपयोग

जपयोग एक अत्यन्त ही सरल और सिद्धिप्रद विद्या है। इसके बारे में यह उक्ति सर्वत्र प्रचलित है—

जपात्सिद्धिः जपात्सिद्धि' जपात्सिद्धिः न संशयः

इसीलिए गीताकार ने गीता (१०/२५) मे जप (यज्ञ) को अपनी विभूति बताया है।

वैदिक युग में ऋषिगण वेदमन्त्रो का बार-बार—अनेक बार उच्चारण करते रहते थे, उनको इस क्रिया को जप की संज्ञा दी जा सकती है। वेदोक्त गायत्री मन्त्र का प्रातः, संध्या और मध्यान्ह के समय जप किया ही जाता था। अत' कहा जा सकता है कि वैदिक युग में भी जप प्रचलित था।

उपनिषद, स्मृति और पुराण युग मे जप अथवा जपयोग के अनेक प्रमाण मिलते है। विभिन्न प्रकार के मन्त्रो का जप किया जाता था।

जप का महत्व प्रदर्शित करते हुए मनुस्मृति मे कहा गया है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुण साहस्रो मानस स्मृतः॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विता।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।

—मनुस्मृति २/८५-८६

अर्थात्—दशपौर्णमासरूप कर्मयज्ञो की अपेक्षा जप यज्ञ दस-गुना श्रेष्ठ है, उपांशुजप सौ गुना और मानसजप सहस्रगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दश-पौर्णमास) ये जो चार पाकयज्ञ हैं—वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्य श्राद्ध और अतिथि-सत्कार—ये जपयज्ञ की सोलहवी कला (अंश) के बराबर भी नही है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि नामस्मरण और जपयोग मे बहुत बडा अन्तर है। नामस्मरण में तो केवल अपने इष्टदेव के नाम का रटनमात्र ही होता है किन्तु जपयोग मे किसी मन्त्र का विधिपूर्वक तल्लीनता के साथ जप किया जाता है। जपयोग मे आसनशुद्धि, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, स्थानशुद्धि आदि कई प्रकार की शुद्धियाँ करने के बाद स्थिर आसन और स्थिर मन से जप किया जाता है।

जप के कई प्रकार है—

(१) **नित्यजप**—यह जप का वह प्रकार है जो प्रतिदिन किया जाता है। प्रातः अथवा सन्ध्या या मध्यान्ह अथवा तीनो समय किसी इष्ट मन्त्र का जप, बिना किसी प्रकार की इच्छा या कामना के किया जाता है। जप-योगी की यह दैनिक चर्या का एक अग ही होता है।

(२) **नैमित्तिकजप**—यह जप किसी देव को प्रसन्न करने के लिए अथवा किसी प्रकार की कामनापूर्ति के लिए किया जाता है। इसी प्रकार से **काम्यजप** भी किया जाता है।

(३) **प्रायश्चित्तजप**—प्रमादवश या अनजान में कोई पाप-दोष हो जाय तो उसकी शुद्धि अथवा दोष-परिहार के लिये किया जाने वाला जप प्रायश्चित्त जप कहलाता है।

(४) **अचलजप**—यह एक आसन पर बैठकर स्थिर मन एव स्थिर काय

से किया जाता है, इसमे जप सख्या भी निश्चित होती है जिसका अतिक्रमण नही किया जाता; साथ ही वह जप-साधना निश्चित समय मे की जाती है।

(५) **चलजप**—वामन पण्डित के अनुसार—आते-जाते, उठते-बैठते, खाते-पीते, करते-धरते, सोते-जागते जो मन्त्र-जप किया जाता है, वह चलजप कहलाता है। यह जप कोई भी व्यक्ति कर सकता है। इसमें कोई नियम अथवा बन्धन नही है। ऐसे जप से मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है और उसे ऊर्ध्व गति की प्राप्ति होती है।

(६) **वाचिकजप**—इस जप मे मन्त्र का उच्चारण सस्वर किया जाता है, स्वर इतना उच्च होता है कि दूसरे भी सुन सकें।

जपयोगी के लिए प्रारम्भिक अवस्था मे यही जप सुगम होता है। आगे के जप श्रमसाध्य और अभ्याससाध्य है।

मानव के सूक्ष्म शरीर मे षट्चक्र अवस्थित है, उनमे सस्वर-जप से ध्वनियन्त्रो की टकराहट द्वारा वर्णबीज शक्तियाँ जागृत हो उठती है। इससे जपयोगी को वाक्सिद्धि भी प्राप्त हो सकती है। वाक्शक्ति संसार की समूची शक्ति का तीसरा भाग है। इससे बडे-बडे काम हो सकते है।

(७) **उपाशुजप**—इसे **भ्रमर-जप** भी कहा जाता है। भ्रमर के समान गुजारव करते हुए यह जप होता है। इसीलिए कुछ लोग इसे भ्रमर-जप कहते है।

उपाशु-जप मे जीभ एव होठ नही चलते। आँखें झपी हुई रखते हुए जपयोगी श्वासोच्छ्वास के—प्राणवायु के सचार के सहारे मन्त्र की आवृत्ति करता रहता है। इससे प्राण-गति धीमी होने लगती है, दीर्घश्वास का अभ्यास हो जाता है। प्राण सूक्ष्म हो जाता है और स्वाभाविक कुम्भक होने लगता है, पूरक जल्दी होता है और रेचक धीरे-धीरे होता है। कुछ काल के अभ्यास के वाद साधक को पूरक के साथ ही वशी की-सी ध्वनि सुनाई पडने लगती है, यही अनहद नाद है।

उपाशुजप के द्वारा मूलाधार चक्र से लेकर भ्रूमध्य स्थित आज्ञा चक्र के सभी चक्र स्वयमेव जाग्रत हो उठते है। इसका परिणाम आज्ञा चक्र पर विशेप रूप से दिखाई देता है। मस्तिष्क में भारीपन नही रहता। स्मरण शक्ति बढती है। चित्त प्रफुल्लित रहता है। तैजस् शरीर एवं तैजस् परमाणु शक्तिशाली हो जाते है। आन्तरिक तेज वढ़ता है। सासारिक कामनाओ और इच्छाओ का विनाश हो जाता है। देव दर्शन होता है और दिव्य जगत प्रत्यक्ष होने लगता है।

उपाशु-जप जपयोग मे अत्यधिक महावपूर्ण है ।

(८) **मानसजप**—यह जपयोग का प्राण ही है। जपयोग में इसका सर्वाधिक महत्व है ।

जिस प्रकार उपाशु-जप प्राण (श्वासोच्छ्वास) के सहारे किया जाता है उसी प्रकार मानस जप मन के सहारे होता है । स्थूल और सूक्ष्म शरीर तो क्या जपयोगी इस जप मे प्राण का आश्रय भी छोड़ देता है, वह मन के द्वारा ही जप करता है । इस क्रिया से मन आनन्दमय हो जाता है। साधक को अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है ।

जपयोग मे मानस-जप सर्वश्रेष्ठ है ।

इनके अतिरिक्त भी जप के अनेक भेद है, यथा—**अखण्डजप**—इसे साधक निरन्तर करता रहता है । **अजपाजप**, यह सहज जप है। श्वासोच्छ्वास के साथ ही यह जप होता रहता है। इसका एक उदाहरण 'सोऽहं' का जप है। श्वास लेते समय 'सो' की आवृत्ति होती है और छोडते समय 'ऽहं' की। इस रीति से दिन-रात मे हजारो की संख्या मे जप हो जाता है ।

जपयोग एक सरल योग है, जिसे सभी प्रकार के साधक कर सकते है, इसमे किसी भी प्रकार की बाधा नही है और न कोई क्रियाकाण्ड ही करना पडता है। योग की विशेष क्रियाओ और विधियो के ज्ञान तथा अभ्यास की भी कोई विशेष आवश्यकता नही होती । अतः यह सर्वजनसुलभ है ।

मन्त्रयोग

संसार के सभी साहित्यो मे मन्त्रो की बहुत महिमा बताई गई है। आदिम कबीलो से लेकर सभ्यता के चरम शिखर पर पहुँचे हुए मानव भी मन्त्र-शक्ति से प्रभावित हैं। जन सामान्य से लेकर वैज्ञानिको और मनोवैज्ञानिको तथा परामनोवैज्ञानिको ने भी मन्त्र शक्ति का लोहा माना है। मनोवैज्ञानिक मन्त्र को auto suggestion कहते हैं तथा वे भी यह मानते हैं कि इससे मनुष्य को अतीव शक्ति प्राप्त होती है। जन-साधारण मे तो यह धारणा व्याप्त ही है कि मन्त्रो मे गुह्य शक्ति होती है और इस शक्ति से असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है ।

यद्यपि यह सत्य है कि मन्त्रो मे बहुत शक्ति होती है किन्तु उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए मन्त्रो की विधि तथा उनके अंगो का ज्ञान अति आवश्यक है। मन्त्रयोग के १६ अग है ।

(१) **भक्ति**—यह मन्त्रयोग का प्रथम अंग है। इसमे मन्त्र के प्रति

साधक की पूर्ण भक्ति होनी चाहिये। भक्ति के दो भेद हैं—(१) वैधी और (२) रागात्मिका।

वैधी भक्ति वह होती है जिसकी विधिपूर्वक साधना की जाती है। इसके नौ भेद है, जिसे नवधा भक्ति[1] कहा जाता है।

रागात्मिका भक्ति रस का अनुभव कराने वाली तथा आनन्द और शान्ति देने वाली होती है। ऐसी भक्ति करने वाला साधक लोक लाज आदि से निरपेक्ष हो जाता है। मीरा की भक्ति ऐसी थी।

(२) **शुद्धि**—मन्त्रयोग का दूसरा अग शुद्धि है। शुद्धि दो प्रकार की होती है—(१) बाह्य शुद्धि और (२) आन्तरिक शुद्धि।

बाह्य शुद्धि में साधक शरीर, स्थान और दिशा—इन तीन वस्तुओ की शुद्धि करता है। शरीर की शुद्धि स्नान से, भूमि की शुद्धि भूमि को झाड-पौछकर साफ करने से और दिशा की शुद्धि दिन मे पूर्व या उत्तर दिशा मे मुख करके बैठने तथा रात्रि को उत्तर-मुख बैठकर पूजा-अर्चा करने से होती है।

आन्तरिक शुद्धि का अभिप्राय मन की शुद्धि से है। मन मे से क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो को निकालकर उसे शुद्ध किया जाता है तथा उसमे भगवद् भक्ति आदि शुभ भाव ग्रहण किये जाते है।

(३) **आसन**—यह मन्त्रयोग का तीसरा अग है। पद्मासन, सिद्धासन, पर्यंकासन किसी भी आसन से साधक बैठे, किन्तु आवश्यक यह है कि आसन स्थिर और ऐसा होना चाहिए जिससे अधिक देर तक निराकुलतापूर्वक बैठा जा सके।

(४) **पंचांग सेवन**—मन्त्रयोग का यह चौथा अग है। प्रत्येक मन्त्र के पाँच अग होते है। (१) बीज—इसमे सम्पूर्ण मन्त्र का सार निहित होता है किन्तु यह सस्वर उच्चारणीय नही होता। (२) मन्त्र—मन्त्र के अक्षर—यह सस्वर उच्चारणीय होता है। (३) ऋद्धि—यह मन्त्र का हार्द होता है। (४) यन्त्र—अंक-अक्षर समन्वित ज्यामितीय रेखामय आलेखन। (५) कवच—इन चारो अंगो को समन्वित करते हुए स्तोत्र, स्तव आदि। इन पाँचो अंगो का मन्त्रयोगी साधक को विधिवत् सेवन करना चाहिए।

(५) **आचार**—मन्त्रयोगी साधक को अपना सम्पूर्ण आचार और साथ ही विचार भी शुद्ध और सात्त्विक रखने चाहिए।

---

१ नवधा भक्ति के नौ भेदो का वर्णन भक्तियोग मे किया जा चुका है।

—सम्पादक

(६) **धारणा** (Concentration)—यह दो प्रकार की होती है—(१) वहिर्धारणा और (२) आन्तर् धारणा।

वाहरी पदार्थों जैसे—मृत्तिका पिण्ड, चित्र आदि मे धारणा करना, वहिर्धारणा कहलाता है।

अन्तर्जगत् अथवा मनोमय जगत् मे धारणा करने को आन्तर् धारणा कहते है। पार्थिवी, आग्नेयी, वारुणी, वायवी आदि धारणाएँ आन्तर् धारणा के ही अन्तर्गत मानी जाती हैं।

(७) **दिव्य देश सेवन**—धारणा की सिद्धि होने पर साधक का चित्त एकाग्रता की ओर उन्मुख होने लगता है, चित्तवृत्तियाँ शुद्ध होने लगती हैं।

(८) **प्राणक्रिया**—इस अग मे मन्त्रयोगी प्राण (कुम्भक, पूरक, रेचक) के सहारे मन्त्र जाप करता है।

(९) **मुद्रा**—यह ध्येय है। इसमे साधक अपने इष्टदेव अथवा गुरुदेव का कल्पना मे चित्र बनाकर इनका ध्यान करता है।

(१०) **तर्पण**—इस अग मे मन्त्रयोगी साधक कल्पना चित्र रूप इष्टदेव अथवा गुरु को श्रद्धाभक्तिपूर्वक कल्पना मे ही वन्दन करता है।

(११) **हवन**—इसमे मन्त्रयोगी साधक अपनी दुष्प्रवृत्तियो—काम-क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष आदि की आहुति देता है।

(१२) **बलि**—मन्त्रयोगी साधक अपने विकारो का विसर्जन करके उनकी बलि देता है।

(१३) **याग**—याग का अभिप्राय मानसिक अर्चा-पूजा है।

(१४) **जप**—यह तीन प्रकार का है—(१) वाचिक, (२) उपाशु और (३) मानसिक। ये तीनो प्रकार के जप उत्तरोत्तर अधिक प्रभावशाली है। जप कर-माला अथवा नवकरवाली (माला) दोनो से किया जा सकता है। माला तुलसी, रुद्राक्ष, सूत अथवा मणियो की हो सकती है। कर-माला जप के भी ह्रीं आवर्त, ॐ आवर्त आदि अनेक प्रकार हैं।

(१५) **ध्यान**—यह मन्त्र योग का पन्द्रहवाँ अंग है। इसमे साधक अपने इष्टदेव का ध्यान करता है। देव का रूप उसके दृष्टि पटल पर प्रत्यक्ष हो जाता है। मन को एकाग्र करने का एकमात्र उपाय ध्यान हो है। ध्यान ही मोक्ष—कर्मबन्धन से मुक्ति कारण है।

(१६) **समाधि**—यह मन्त्र योग का सोलहवाँ तथा अन्तिम अग है। जब साधक को अपने मन, जप मन्त्र तथा इष्टदेव का स्वतन्त्र वोध नही रहता

अर्थात् मन पूर्ण रूप से जप तथा इष्टदेव में लय हो जाता है, ध्याता, ध्येय और ध्यान एक रूप हो जाता है, इस अवस्था का नाम समाधि है। समाधि मन्त्र योग की उच्चतम स्थिति है। समाधि-प्राप्त मन्त्रयोगी साधक कृतकृत्य हो जाता है।

इस प्रकार मन्त्रयोग के इन सोलह अंगो की पूर्णता से साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

ध्यानयोग

योगमार्ग मे ध्यान का महत्व सर्वविदित है। ऐसा कोई भी योग का मार्ग नही जिसमें ध्यान की चर्चा और वह भी विशेष रूप से न हो। लेकिन ध्यानयोग में सिर्फ ध्यान का ही वर्णन हुआ है और इसी से मुक्ति मानी गई है।

ध्यानयोग के अनुसार ध्यान के दो प्रकार है—(१) भेद ध्यान और (२) अभेद ध्यान।

भेद ध्यान के उत्तरभेद अनेक है।

(१) **इष्टदेव का ध्यान**—इस प्रकार के ध्यान मे साधक अपने माने हुए इष्टदेव अथवा गुरु की मुद्रा का ध्यान करता है।

(२) **स्थूल ध्यान**—इस ध्यान मे भी साधक अपने इष्ट के स्थूल रूप का ध्यान करता है।

(३) **ज्योतिर्ध्यान**—भृकुटि के मध्य मे और मन के ऊर्ध्व भाग मे (अर्थात् सोमचक्र में) जो ज्योति विराजमान है उस ज्योति अथवा तेज का ध्यान करना। इस ध्यान से योगसिद्धि और आत्म-प्रत्यक्षता की शक्ति प्राप्त होती है।

(४) **सूक्ष्मध्यान**—यह ध्यान शाम्भवी मुद्रा द्वारा किया जाता है। शाम्भवी मुद्रा मे ध्यानयोगी भृकुटि के मध्य दृष्टि को स्थिर करके एकाग्र चित्त से परमात्मा के दर्शन करता है। सूक्ष्म ध्यान में योगी की चित्तवृत्तियाँ अपने ध्येय पर स्थिर हो जाती है।

अभेद ध्यान—इस ध्यान में साधक किसी प्रकार का वाह्य आलंवन नही लेता। अर्द्धनिमीलित आँखें रखकर वह दृष्टि नासाग्र पर जमाता है तथा अपनी चित्तवृत्तियो को निष्पक्ष रूप से द्रष्टा मात्र होकर देखता है, दूसरे शब्दो मे प्रेक्षाध्यान करता है। इस समय चित्त मे जो भी काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि के विकार तथा अन्य किसी प्रकार के विभाव दृष्टिगोचर हो, उन्हे

हटाता जाता है। इस प्रक्रिया के वाद जो कुछ भी भी वचता है, वह आत्मा का शुद्ध भाव है, उसी पर योगी अपना ध्यान केन्द्रित करता है। प्रारम्भ मे उसके ध्यान मे कुछ चंचलता रहती है, किन्तु दृढ अभ्यास से वह चंचलता भी मिट जाती है, मन स्थिर हो जाता है, मन और आत्मा का अभेद स्थापित हो जाता है और यह अभेद स्थापित होते ही अभेद ध्यान सिद्ध हो जाता है तथा योगी कृतकृत्य हो जाता है।

सुरतशब्दयोग

'सुरतशब्दयोग' राधास्वामी सम्प्रदाय मे प्रचलित योग साधना का पारिभाषिक नाम है। यहाँ सुरत शब्द आत्मा का प्रतीक है। राधास्वामी मत का ऐसा मन्तव्य है कि आत्मा की जो धारा प्रवाहित होती है, उसमे शब्द भी होता है, उस शब्द का आनन्द लेने का नाम ही सुरतशब्दयोग है।

इस सम्प्रदाय मे शब्द दो प्रकार के माने गये है—(१) आहत—जो दो वस्तुओ की टकराहट से उत्पन्न होते है, अर्थात् व्याघात से उत्पन्न होते हैं, और (२) अनाहत—जो विना व्याघात के स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। अनाहत शब्दो मे सुरत अर्थात् ध्यान जोडने को ही सुरत-शब्द-योग कहा जाता है।

हठयोग के समान ही इस सम्प्रदाय मे भी मानव-शरीर के अन्दर षट् चक्र माने जाते हैं। साथ ही कमल और पद्मो की भी मान्यता है। सुरत-शब्द-योग द्वारा इन चक्रो, पद्मो और कमलो को जाग्रत किया जाता है। इसके लिए वे सुमिरन और ध्यान को आवश्यक मानते है। सुमिरन से अभिप्राय एक विशेष बीजमन्त्र का अन्तर् मे जप या उच्चारण है और ध्यान से अभिप्राय अन्तर् मे चेतन स्वरूप का चिन्तन है।

इनकी साधना करते-करते साधक शनै. शनै राधास्वामी दयाल के स्थान को प्राप्त कर लेता है, दूसरे शब्दो मे कृतकृत्य हो जाता है।

अरविन्द का पूर्णयोग

श्री अरविन्द घोष वर्तमान शताब्दी के प्रतिष्ठित योगी थे। उनके 'पूर्ण योग' का सार यह है कि मनुष्य जाति मे ही भगवान को पाना और प्रगट करना है।' यही अरविन्द की दृष्टि मे योग द्वारा मानव जाति की सेवा है।

इसके लिए साधक को कुछ विशेष नही करना है—सिर्फ उसे मौन और शान्त रहकर भगवत् प्राप्ति के लिए उत्कंठ होना, भगवान की ओर उन्मुख होना, भगवदनुकूल होना और भगवान की दया को ग्रहण करना हैं। भगवान ही मार्गदर्शक हैं और वे ही सब कुछ करते है।

अरविन्द के अनुसार मानव को अपने मानस (Mind) को शुद्ध और विकसित करके अतिमानस (Super mind) बनाना चाहिए जिससे वह भगवत्-दया को अच्छी तरह ग्रहण कर सके।

अरविन्द के योग और प्राचीन योगो मे मूल अन्तर यह है कि प्राचीन योग तो मनुष्य की आत्मा को शुद्ध बनाकर ईश्वर में लय होने की प्रेरणा देते थे। दूसरे शब्दो में वे व्यक्तिवादी थे; जबकि अरविन्द समष्टिवादी है। उनका योग दिव्य जीवन (Divine Life) का योग है। इनके पूर्णयोग के अनुसार मानवजाति विकास करके भगवद् अवतरण के प्रभाव से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम बने। पूर्णयोग द्वारा मानव जाति की यही सेवा उनका लक्ष्य है।

श्री अरविन्द का योग, इसीलिए योग-मार्ग की लीक से हटकर, भगवद्-प्राप्ति—सही शब्दो में भगवद्-कृपा प्राप्ति का योग है। पूर्ण योग से उनका अभिप्राय अतिमानस (Super mind) दशा को प्राप्त करना है।

एक शब्द में कहा जाय तो अरविन्द का पूर्णयोग प्राचीन भक्तियोग का ही आधुनिकीकरण है—आधुनिक मनोविज्ञान और विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे नये शब्दों मे संसार के समक्ष रखा गया आध्यात्मिक योग और भक्तियोग का सम्मिश्रण है।

योग-मार्ग : पिपीलिकामार्ग और विहंगममार्ग

साधना जगत् में साधक को मुक्ति प्राप्त कराने वाले दो योग मार्ग मान्य है—(१) पिपीलिकामार्ग और विहंगममार्ग। पिपीलिका मार्ग के उपदेष्टा है—वामदेव, और विहगममार्ग का उपदेश दिया है शुकदेव ने।

श्रीमद्‌भागवत् के अनुसार शुकदेव जी महाज्ञानी और विरागी महापुरुष थे। अतः उन्होने ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया। उनके ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाला साधक सांख्ययोग समाधि द्वारा हृदय कमल के रक्तदल में ज्योतिष्मान् स्वरूप को जानकर अनायास ही चिर सुख शान्तिमय ब्रह्मानन्द सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं।

एक शब्द मे शुकदेव द्वारा उपदिष्ट विहंगम मार्ग ज्ञानमार्ग है।

वामदेव महान योगी थे। अतः उन्होने योगमार्ग का उपदेश दिया। यम-नियम-प्राणायाम आदि अष्टाग योगमार्ग बताया। उनके मार्ग के अनुसार निर्विकल्प समाधि दशा प्राप्त करके साधक मुक्त होता है।

वेदान्त विज्ञो के मतानुसार योगमार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है,

हटाता जाता है। इस प्रक्रिया के बाद जो कुछ भी भी बचता है, वह आत्मा का शुद्ध भाव है, उसी पर योगी अपना ध्यान केन्द्रित करता है। प्रारम्भ मे उसके ध्यान में कुछ चंचलता रहती हैं, किन्तु दृढ अभ्यास से वह चंचलता भी मिट जाती है, मन स्थिर हो जाता है, मन और आत्मा का अभेद स्थापित हो जाता है और यह अभेद स्थापित होते ही अभेद ध्यान सिद्ध हो जाता है तथा योगी कृतकृत्य हो जाता है।

सुरतशब्दयोग

'सुरतशब्दयोग' राधास्वामी सम्प्रदाय मे प्रचलित योग साधना का पारिभाषिक नाम है। यहाँ सुरत शब्द आत्मा का प्रतीक है। राधास्वामी मत का ऐसा मन्तव्य है कि आत्मा की जो धारा प्रवाहित होती है, उसमे शब्द भी होता है, उस शब्द का आनन्द लेने का नाम ही सुरतशब्दयोग है।

इस सम्प्रदाय मे शब्द दो प्रकार के माने गये है—(१) आहत—जो दो वस्तुओ की टकराहट से उत्पन्न होते है, अर्थात् व्याघात से उत्पन्न होते है, और (२) अनाहत—जो विना व्याघात के स्वत. ही उत्पन्न होते है। अनाहत शब्दो मे सुरत अर्थात् ध्यान जोडने को ही सुरत-शब्द-योग कहा जाता है।

हठयोग के समान ही इस सम्प्रदाय मे भी मानव-शरीर के अन्दर षट् चक्र माने जाते हैं। साथ ही कमल और पद्मों की भी मान्यता है। सुरत-शब्द-योग द्वारा इन चक्रो, पद्मो और कमलो को जाग्रत किया जाता है। इसके लिए वे सुमिरन और ध्यान को आवश्यक मानते है। सुमिरन से अभिप्राय एक विशेष बीजमन्त्र का अन्तर् मे जप या उच्चारण है और ध्यान से अभिप्राय अन्तर् में चेतन स्वरूप का चिन्तन है।

इनकी साधना करते-करते साधक शनैः शनैः राधास्वामी दयाल के स्थान को प्राप्त कर लेता है, दूसरे शब्दो मे कृतकृत्य हो जाता है।

अरविन्द का पूर्णयोग

श्री अरविन्द घोष वर्तमान शताब्दी के प्रतिष्ठित योगी थे। उनके 'पूर्ण योग' का सार यह है कि मनुष्य जाति में ही भगवान को पाना और प्रगट करना है।' यही अरविन्द की दृष्टि मे योग द्वारा मानव जाति की सेवा है।

इसके लिए साधक को कुछ विशेष नही करना है—सिर्फ उसे मौन और शान्त रहकर भगवत् प्राप्ति के लिए उत्कंठ होना, भगवान की ओर उन्मुख होना, भगवदनुकूल होना और भगवान की दया को ग्रहण करना है। भगवान ही मार्गदर्शक हैं और वे ही सब कुछ करते हैं।

अरविन्द के अनुसार मानव को अपने मानस (Mind) को शुद्ध और विकसित करके अतिमानस (Super mind) बनाना चाहिए जिससे वह भगवत्-दया को अच्छी तरह ग्रहण कर सके।

अरविन्द के योग और प्राचीन योगो मे मूल अन्तर यह है कि प्राचीन योग तो मनुष्य की आत्मा को शुद्ध बनाकर ईश्वर मे लय होने की प्रेरणा देते थे। दूसरे शब्दो में वे व्यक्तिवादी थे; जबकि अरविन्द समष्टिवादी हैं। उनका योग दिव्य जीवन (Divine Life) का योग है। इनके पूर्णयोग के अनुसार मानवजाति विकास करके भगवद् अवतरण के प्रभाव से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम बने। पूर्णयोग द्वारा मानव जाति की यही सेवा उनका लक्ष्य है।

श्री अरविन्द का योग, इसीलिए योग-मार्ग की लीक से हटकर, भगवद्-प्राप्ति—सही शब्दो मे भगवद्-कृपा प्राप्ति का योग है। पूर्ण योग से उनका अभिप्राय अतिमानस (Super mind) दशा को प्राप्त करना है।

एक शब्द में कहा जाय तो अरविन्द का पूर्णयोग प्राचीन भक्तियोग का ही आधुनिकीकरण है—आधुनिक मनोविज्ञान और विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे नये शब्दों मे ससार के समक्ष रखा गया आध्यात्मिक योग और भक्तियोग का सम्मिश्रण है।

योग-मार्ग : पिपीलिकामार्ग और विहंगममार्ग

साधना जगत् मे साधक को मुक्ति प्राप्त कराने वाले दो योग मार्ग मान्य है—(१) पिपीलिकामार्ग और विहंगममार्ग। पिपीलिका मार्ग के उपदेष्टा है—वामदेव, और विहगममार्ग का उपदेश दिया है शुकदेव ने।

श्रीमद्भागवत् के अनुसार शुकदेव जी महाज्ञानी और विरागी महापुरुष थे। अतः उन्होने ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया। उनके ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाला साधक सांख्ययोग समाधि द्वारा हृदय कमल के रक्तदल मे ज्योतिष्मान् स्वरूप को जानकर अनायास ही चिर सुख शान्तिमय ब्रह्मानन्द सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

एक शब्द मे शुकदेव द्वारा उपदिष्ट विहगम मार्ग ज्ञानमार्ग है।

वामदेव महान योगी थे। अतः उन्होने योगमार्ग का उपदेश दिया। यम-नियम-प्राणायाम आदि अष्टाग योगमार्ग बताया। उनके मार्ग के अनुसार निर्विकल्प समाधि दशा प्राप्त करके साधक मुक्त होता है।

वेदान्त विज्ञो के मतानुसार योगमार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है;

क्योकि इसमें पतन होने की सम्भावना नही है, जबकि योगी के पतित होने की सम्भावनाएँ है। दूसरी विशेषता यह है कि ज्ञानमार्ग द्वारा मुक्ति शीघ्र प्राप्त हो सकती है, जबकि योगमार्ग द्वारा अनेक जन्म भी लग सकते है। तीसरी विशेषता यह है कि ज्ञानमार्ग सरल है और योगमार्ग कठिन, क्योकि यौगिक प्रक्रियाएँ काफी पेचीदी है।

इन सब कारणो से योगमार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ माना जाता है।

बौद्ध-योग

योग की परम्परा और आकर्षण से बौद्धधर्म-दर्शन भी अछूता नही रहा। इस दर्शन के भी अनेको ग्रन्थो मे योग सम्बन्धी वर्णन मिलता है।

स्वयं तथागत बुद्ध ने भी ध्यान किया था। वे ज्ञान प्राप्ति के लिए वैदिक सन्यासियो के आश्रम में रहे और उन्होने तीर्थंकर पार्श्व की परम्परा का अनुसरण करते हुए ध्यान साधना की। ध्यानयोग द्वारा ही उन्हे बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ था।

बौद्धग्रन्थ 'ब्रह्मजाल सुत्त' तथा 'आटानटीय सुत्त' मे भी इस विषय का कुछ वर्णन है। इनके अतिरिक्त 'मञ्जुश्री मूलकल्प', 'गुह्य समाजतन्त्र', 'साधनमाला', श्रीचक्रसवर', 'सद्धर्म पुण्डरीक', 'सुखावतीव्यूहसूत्र', 'शमथयानं अर्थात् 'समाधि' आदि अनेक ग्रन्थो मे योग और यौगिक क्रियाओ का वर्णन हुआ है। इन ग्रन्थो मे 'गुह्यसमाज' यौगिक वर्णन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ के अठारहवे अध्याय में बौद्धधर्म मे प्रचलित योग साधनाओ तथा उनके उद्देश्य और प्रयोजन का वास्तविक परिचय दिया गया है। साथ ही इसी अध्याय मे बौद्ध तन्त्र के पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या भी की गई है, जो बौद्धतन्त्र मे सर्वाधिक प्रचलित हैं।

'उपाय' शब्द की व्याख्या करते हुए उसके चार भेद बताये गये हैं—

(१) सेवा, (२) उपसाधन, (३) साधन और (४) महासाधन।

इसमे सेवा के दो अवान्तर भेद है—(१) सामान्य सेवा और (२) उत्तम सेवा। सामान्य सेवा का दूसरा नाम 'वज्रचतुष्टय' दिया गया है और उत्तम सेवा को 'ज्ञान सुधा' कहा गया है।

वज्र चतुष्टय किसी देवता के साक्षात्कार की प्रक्रिया है। इसके चार सोपान हैं—(१) शून्यता प्रत्यय, (२) शून्यता का बीजमन्त्र के रूप से परिणाम, (३) बीजमन्त्र का देवता के आकार का बन जाना और (४) देवता का विग्रह रूप मे प्रकट होना।

'उत्तम सेवा' में सिद्धि प्राप्त करने के लिए षडंगयोग का साधन किया जाता है। इन छह अंगो के नाम हैं—(१) प्रत्याहार, (२) ध्यान, (३) प्राणायाम, (४) धारणा, (५) अनुस्मृति और (६) समाधि।

स्पष्ट ही यह अष्टांग योग मे उल्लिखित शब्द है, सिर्फ अनुस्मृति ही नया है तथा यम, नियम, आसन—अष्टाग योग के ये तीन अग छोड दिये गये है।

प्रत्याहार द्वारा द्वारा इन्द्रियो का निग्रह किया जाता है।

रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञान पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है।

प्राणायाम का स्वरूप बौद्ध योग मे भी लगभग वैसा ही है जैसा अष्टाग योग मे बताया गया है—अर्थात् प्राणवायु का निरोध एवं नियमन।

धारणा मे साधक अपने इष्ट मन्त्र का हृदय कमल पर जाप करता है। धारणा के स्थिर होने पर साधक को निरभ्र आकाश के सदृश स्थिर प्रकाश का चिह्न दिखाई देता है।

अनुस्मृति उस पदार्थ के अनवच्छिन्न ध्यान को कहा जाता है, जिसके निमित्त योग साधना का प्रारम्भ किया गया है। इसका चिरकाल तक अभ्यास होने के बाद प्रतिभास (revelation) होने लगता है अर्थात् सृष्टि में स्थित समस्त पदार्थ एक पिंड के रूप में दिखाई देने लगते है। उस पिंड के समस्त बाह्य प्रपंचो पर ध्यान करने से समाधि रूप अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

सबसे विचित्र बात यह है कि साधक के लिए योग साधना करते हुए भी किसी प्रकार का खान-पान सम्बन्धी बन्धन नही बताया गया है।

योग-वियोग-अयोग

योग और योगमार्ग का एक अन्य अपेक्षा से भी वर्गीकरण किया गया है, वह है—योग-वियोग-अयोग।

योग और वियोग (विवेक)-मार्ग में यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से कोई अन्तर नही है, फिर भी व्यावहारिक भूमिका मे इन दोनो में भेद है और उस भेद के अनुसार सिद्धि मे भी अन्तर आ जाता है।

अनादि काल से जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इस संसारी दशा में उसमें स्थूल और सूक्ष्मभाव परस्पर एक-दूसरे से नीर-क्षीर के समान

मिले रहते हैं; अथवा यो कहे कि तिलों में तेल रहता है उसी प्रकार स्थूल भावों के अन्दर सूक्ष्म भाव भी निहित रहते है। इन सूक्ष्मभावो को स्थूल भावो से पृथक् करने के लिए क्रिया विशेष की आवश्यकता होती है। इस पृथक्करण क्रिया का नाम ही वियोग है।

वियोग का अर्थ विवेक होता है। साख्यदर्शन द्वारा अनुमोदित साधन प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेक की ओर संकेत करती है। वेदान्त में जो पंचकोष (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोष) विवेक है वह भी यह वियोग मार्ग ही है।

साख्यदर्शन के अनुसार योग का लक्ष्य है 'पुरुष' का प्रकृति से वियोग होकर शुद्ध रूप में स्थिर होना और जैन दर्शन के अनुसार विभाव (विकारो) से मुक्त होकर स्वभाव मे स्थिर होना। यही योग से वियोग की ओर गमन है।

साधक इस वियोग मार्ग का अवलम्बन लेता हुआ, सूक्ष्म की ओर उन्मुख होता है और सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम स्थिति मे पहुँच जाता है। योगी को जो स्थूल शरीर को छोडकर सूक्ष्म शरीर द्वारा इधर-उधर भ्रमण की शक्ति प्राप्त होती है, वह इस वियोग के अवलम्बन के फलस्वरूप ही होती है।

जब योगी सूक्ष्मतम स्थिति से भी और गहराई मे पहुँच जाता है तो वह अयोग अवस्था में पहुँच जाता है। वहाँ वह आत्ममय हो जाता है, स्थूल और सूक्ष्म शरीर से भी अतीत हो जाता है। इस अवस्था को देहातीत अवस्था कहते हैं। इसका अभिप्राय यह नही है कि योगी के देह रहती ही नही है, वरन् इसका अभिप्राय यह है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर से जो उसकी सम्बद्धता थी, वह सयोग मात्र रह जाता है। वह देह के प्रति निर्मम (मोह रहित) हो जाता है। यही अयोग दशा है। ऐसा योगी पूर्ण रूप से निर्लिप्त और जीवन्मुक्त होता है।

जैन दर्शन के अनुसार योग साधक की यह अन्तिम स्थिति है और मुक्ति से पूर्व की। चतुर्दश गुणस्थानों में अन्तिम गुणस्थान 'अयोग गुणस्थान हैं'।

भारतीयेतर दर्शनों में योग

इसी प्रकार योग के संकेत जरथुस्त्र और ईसाई धर्म में भी प्राप्त होते है, यद्यपि इन धर्मों के ग्रन्थो मे स्पष्ट रूप से योग और यौगिक क्रियाओ का वर्णन नही हुआ किन्तु भगवत्भक्ति, आत्मस्वरूप का ज्ञान करने और सेवा आदि की प्रेरणा तो दी ही गई है और इस रूप में यह मानना उचित होगा कि ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग के सकेत इन धर्मों में भी हैं।

यह सत्य है कि वैदिक, बौद्ध तथा अन्य दर्शनो मे योग का अभिप्राय आत्मा का परमात्मा से मिलन अथवा साहचर्य ही है।

योग शब्द भारत में तो इतना अधिक प्रचलित हुआ कि आध्यात्मिक एव भौतिक उन्नति की सभी साधनाएँ एव क्रियाएँ योग नाम से अभिहित की गईं। प्रत्येक मत-सम्प्रदाय ने अपने नाम अथवा क्रियाओ के साथ योग शब्द जोड़ दिया। यही कारण है कि योग के अनेक भेद-प्रभेद हो गये और सभी ने अपनी मान्यता के अनुसार योग की परिभाषाएँ और लक्षण बना लिये। योग का उत्स सहस्र धाराओं मे बह निकला। यह स्थिति आज भी समाप्त नही हुई है।

आधुनिक पाश्चात्य जगत मे योग के प्रति बहुत दिलचस्पी है। पाश्चात्य भौतिकता-प्रधान संस्कृति के फलस्वरूप उत्पन्न हुए तनावो, चिन्ताओ और मानसिक आवेगो से त्रस्त, संतप्त पश्चिमी जगत योग से शान्ति पाने का प्रयास कर रहा है। यही कारण है कि सारे ससार मे योग शिविर खुल रहे है और वहाँ का मानव इनका समुचित आदर कर रहा है, दिलचस्पी ले रहा है।

यह मानना भूल ही होगा कि इस बीसवी शताब्दी से पहले पाश्चात्य जगत योग से पूर्णतया अनभिज्ञ ही था। भारत के अनेक धर्म प्रचारक प्राचीन काल में बाहर जाते रहे थे और वहाँ के लोग भी यहाँ आते रहे थे। बर्नियर, ट्रैवर्नियर आदि यात्री १६वी शताब्दी मे भारत आये और यहाँ के योगियों से उनका सम्पर्क भी हुआ तथा स्वयं उन्होने अपनी आँखो से योगियो के चमत्कार देखे। उन्होने अपने यात्रा सस्मरण भी लिखे और लोगो को जाकर सुनाये भी। उन वर्णनो को सुनकर यूरोपवासियो के हृदय में योग के प्रति दिलचस्पी होना स्वाभाविक था।

पाश्चात्य योग—मेस्मेरिज्म तथा हिप्नोटिज्म

मेस्मर नाम का एक व्यक्ति चिकित्साशास्त्र मे बहुत निपुण था। वह आस्ट्रिया (यूरोप) के वियना (Vienna) नगर का निवासी था। एक बार वह किसी व्यक्ति का उपचार कर रहा था। अचानक उस रोगी के अंग से रक्त निकलने लगा। उस समय मेस्मर के पास खून रोकने का कोई साधन न था। उसने उस व्यक्ति के अंग पर हाथ फिराया तो उसका रक्त बन्द हो गया। इससे मेस्मर ने यह सिद्धान्त खोज निकाला कि अँगुलियो के अग्रभाग से विद्युत प्रवाह—अदृश्य शक्ति निकलती है जो रोगी मे प्रविष्ट होकर रोग को दूर करती है। इस अदृश्य शक्ति का नाम उसने Animal Magnetism

(विद्युत प्रवाह) रखा। मेस्मर के नाम पर ही इस सिद्धान्त का नाम मेस्मेरिज्म पड़ गया।

इसके बाद सन् १८४१ में मैनचेस्टर के डाक्टर ब्रेड ने यह अनुभव किया कि किसी को प्रभावित करना या कृत्रिम निद्रा मे लाना, सूचना शक्ति (Suggestion) पर निर्भर है। उन्होंने इस कृत्रिम निद्रा को Hypnosis नाम दिया। इसी के आधार पर इस विद्या का नाम Hypnotism पड़ गया।

इन दोनो विधियो से अनेक रोगो के सफल उपचार हुए। फ्रान्स के प्रसिद्ध मनोविज्ञानशास्त्री फ्रायड (Freud) ने तो हिप्नोटिज्म के प्रयोग से अनेक विक्षिप्तो का उपचार कर दिया।

यद्यपि ये दोनो विद्याएँ उस अर्थ में योग नही कही जा सकती जिस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग भारत में हुआ है; किन्तु इन दोनो विद्याओ का सम्बन्ध सूक्ष्म अथवा तैजस् शरीर से है तथा इन शक्तियों के विकास के लिए चित्त की एकाग्रता आधारभूत है, इसलिए इन्हें आध्यात्मिक योग मे नही तो भौतिक योग मे तो परिगणित किया ही जा सकता है।

मेस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म दोनो मे ही प्रयोगकर्ता को अपनी आकर्षण शक्ति बढानी आवश्यक है। आकर्षण शक्ति बढाने की साधना एकान्त कमरे में की जाती है। वहाँ किसी बिन्दु पर टकटकी लगाकर दृष्टि साधना की जाती है। उस समय साधक मन में दृढतापूर्वक यह भावना करता है कि 'मेरी आँखो के ज्ञान-तन्तु बलवान हो रहे है। मेरे नेत्र आकर्षक और प्रभावशाली हो रहे हैं। मैं निर्भय हूँ। सिर ऊँचा करके सबके सामने देख सकता हूँ। मेरी मनःशक्ति प्रबल है।'

इस प्रकार की साधना का अभ्यास १५ मिनट से लेकर आधा घण्टे तक किया जाता है।

फिर किसी रोगी का उपचार करने के लिए उसे मार्जन (Pass) दिया जाता है। इसके लिए हाथ की अँगुलियो के अग्रभाग से निकालने वाले विद्युत प्रवाह को तीव्र किया जाता है। वह भी मन की दृढ़ता, एकाग्रता तथा 'मेरी अँगुलियो के अग्र भागो से तीव्र विद्युत प्रवाह बाहर निकल रहा है' इस भावना से होता है। इसे आजकल के योगियो की भाषा मे शक्तिपात भी कहा जाता है।

अतः स्पष्ट है कि हिप्नोटिज्म और मेस्मेरिज्म मे प्रवीण होने के लिए प्रयोक्ता को लगभग उसी प्रकार की साधना करनी पडती है, जैसी कि योगियो को। हाँ, यह बात अवश्य है कि हिप्नोटिज्म और मेस्मेरिज्म का उद्देश्य न

आत्मिक शुद्धि है, न आध्यात्मिक उन्नति, इसका लक्ष्य केवल भौतिकता है, शारीरिक एव मानसिक स्वस्थता है। इसलिए इसे 'योग' मानने में आपत्ति हो सकती है।

इस प्रकार योग के अनगिनत प्रकार है और विभिन्न रूपो में यह सर्वत्र प्रचलित हैं।

योगमार्ग की इन विविध साधना पद्धतियो पर दृष्टिपात करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जब तक मानव अपने अन्तःकरण में सुप्त शक्तियो को पहचानता नही है तब तक वह योगमार्ग में गति नही कर सकता। योग साधना की पृष्ठभूमि तभी बनती है जब सकल्प बल सुदृढ होता है, मानसिक एकाग्रता बढती है और मनुष्य एक लक्ष्य व ध्येय के प्रति समर्पित हो जाता है। □

५ जैन योग का स्वरूप

जैन मनीषियो ने योग पर बहुत ही गहराई और विशद दृष्टिकोण से चिन्तन किया है। न उन्होंने योग को वाम-कौल तन्त्र की तरह गुह्य बनाया और न हठयोग के समान देह-दण्ड एव प्राणायाम को ही अत्यधिक महत्व दिया वरन् योग को एक सहज स्वभाव परिणति की क्रिया के रूप में स्वीकारा है।

जैन धर्म मूलतः निवृत्तिप्रधान धर्म है, मुक्ति उसका लक्ष्य है और मुक्ति-प्राप्ति के लिए ध्यान को आवश्यक क्रिया मानता है। विना धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के मुक्ति सम्भव ही नही है। और ध्यान मे चित्त की एकाग्रता तथा शरीर की स्थिरता आवश्यक ही है। इसीलिए ध्यान की विवेचना करते हुए योग पर भी विचार किया गया। दूसरे शब्दो में योग को ध्यान के अन्तर्गत माना गया है तथा इसे आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक स्वीकार किया गया है।

जैन धर्म मे योग की परम्परा अति प्राचीन है। इसके प्रमाण वेद[1] और उपनिषदो[2] मे भी मिलते है। अन्य ऐतिहासिक तथा पुरातात्विक शोधो[3] से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

योग का लक्षण

योगदर्शनकार पतजलि ने सिर्फ चित्तवृत्तियों के निरोध[4] को ही योग की संज्ञा दी है; जबकि जैन मनीषियों ने योग की विविध दृष्टियो से व्याख्या की हैं। पंचसंग्रह[5] में कहा गया है—समाधि, तप, ध्यान आदि

---

१ ऋग्वेद १०/१३६/२

२ वृहदारण्यक उपनिषद् ४/३/२२

३ (क) Modern Review, August 1932, pp. 155-56

(ख) जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, प्राक्कथन, पृ० १०

४ पातजल योग सूत्र १/२

५ जोगो विरिय थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सति सामत्थ चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया॥ —पचसग्रह, भाग २, ४

शब्दो का उपयोग 'योग' के समान अर्थ में हुआ है और वीर्य, स्थान, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति एव सामर्थ्य शब्द प्रकारान्तर से योग के पर्याय-वाची अथवा योग के अर्थ को व्यजित करने वाले है।

भगवती आराधना[1] में योग को वीर्य गुण की पर्याय माना गया है। वहाँ उसका आशय यही है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला आत्म-परिणामविशेष योग है। अर्थात् संसारी दशा में आत्मा के उत्साह आदि योग है। आत्म-प्रदेशो की चंचलता तथा उनके सकोच-विस्तार को भी योग कहा है।[2]

जैन पारिभाषिक शब्द 'संवर'[3] योग के समकक्ष आता है, क्योकि योग में भी चित्तवृत्तियो का निरोध होता है और 'सवर' आत्मा के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि आस्रवो का निरोध है अर्थात् इन आस्रव रूप आत्म-परिणतियो के रोकने को सवर कहा है।

योग का समाधि और ध्यान के अर्थ मे प्रयोग तो जैन-ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर हुआ है। नियमसार[4], सर्वार्थसिद्धि[5], राजवार्तिक[6] आदि दिगम्बर ग्रन्थो में तो समाधि और ध्यान के अर्थ मे योग का व्यवहार हुआ ही है;

---

१ योगस्य वीर्यं परिणामस्य....। —भगवती आराधना, ११७८/११८७,४

२ (क) विशेषावश्यक भाष्य ३५८

(ख) जीव पदेसाण परिफन्दो सकोच विकोचब्भमणसरूवओ।

—धवला १०/४,२,४, १७५/४३७/७

३ झाणसवर जोगे य। —अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ४, पृ० १६५०

४ विवरीयाभिणिवेस परिचत्ता जोण्ह कहिय तच्चेसु।

जो जुजदि अप्पाण णियभावो सो हवे जोगो॥

—नियमसार, गाथा १३९

(विपरीत अभिनिवेश का त्याग करके जो जिनकथित तत्त्वों मे आत्मा को लगाता है, उसका वह निजभाव, योग है।)

५ सर्वार्थसिद्धि ६/१२/३३१/३ तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०१/९८०/१३

६ निरवद्यस्य क्रियाविशेषस्यानुष्ठान योग. समाधि सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थं।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६/१२/८/५२२/३१

किन्तु प्राचीनतम जैन आगमो सूत्रकृतांग[1], उत्तराध्ययन[2], समवायांग, ठाणाग[3] आदि अंग-आगम ग्रन्थो मे भी ऐसे ही उल्लेख पाये जाते है।

साथ ही जैनाचार्यों ने योग का निरुक्तिपरक अर्थ 'युजिर् योगे' भी स्वीकार करते हुए कहा है कि जो आत्मा को केवलज्ञान आदि परम सात्त्विक तथा ज्ञान चेतना के साथ जोडता है, वह योग है।[4] आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि योग आत्मा को मोक्ष से जोडता है, अर्थात् मोक्ष तक पहुँचाता है और योगी के सभी धर्म व्यापार योग के अन्तर्गत हैं।[5] इसी लक्षण को और विस्तृत करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है—

समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योजनम् ।

—योगदर्शनवृति

तथा इसीलिए वे समिति-गुप्तिरूप योग को उत्तम मानते हैं—

यत समितिगुप्तिना प्रपचो योग उत्तम ।

—योगभेद द्वात्रिंशिका, ३०

क्योकि समिति-गुप्ति से संयम की वृद्धि और चेतना की शुद्धि होती है और योग भी आत्मा को उसकी शुद्ध दशा को प्राप्त कराने वाला मार्ग है। अतः समिति-गुप्तिरूप योग से आत्मा को सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

वस्तु स्थिति यह है कि जहाँ योग समाधि[6] के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, वहाँ वह साध्यरूप से निर्दिष्ट है; और जहाँ योजन, सयोजन अथवा सयोग अर्थ मे योग का प्रयोग किया गया है, वहाँ वह साधन रूप निर्दिष्ट किया गया है। यह तथ्य सर्वविदित है कि बिना साधन के साध्य की प्राप्ति नही होती।

---

१ सूत्रकृताग १/२/१/११

२ उत्तराध्ययन ११/१४, २९/२ तथा देखिए उत्तरा० ११/१४ की बृहद् वृति—
योग समाधि, सोऽस्यास्ति इति योगवान् ।

३ स्थानाग, १०

४ युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योग ।
—हरिभद्रसूरिकृत—ध्यान शतक की वृत्ति

५ मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो । —योगविंशिका १

६ तदेतद् ध्यानमेव चाभ्यस्यमान कालक्रमेण परिपाकदशापन्न समाधिरित्यभिधीयते—'ध्यानादस्पन्दनं बुद्धे समाधिरभिधीयते' इति स्कन्धाचार्योक्ति. ।
—पातंजल योगदर्शन की टिप्पणी—स्वामी बालकराम

समाधि आत्मा की विक्षेपरहित समभाव परिणति रूप समाहित अवस्था है, जिसमें चित्त की एक विशिष्ट प्रकार की एकाग्रता अपेक्षित होती है और यह चित्त की एकाग्रता ध्यान-साध्य है, ध्यान के बिना सम्भव ही नही है। इसीलिए जैन आचार्यों ने योग को मुख्यतः ध्यान के अन्तर्गत ही परिगणित किया है।

ध्यान-योग मे प्रणिधान रूप मनःसमिति से चित्त की एकाग्रता का सम्पादन होता है और समाधियोग में मनोगुप्ति द्वारा उसकी स्थिरता सम्पन्न होती है।

(वास्तव में, ध्यान की परिपक्वता और ध्यानाभ्यास से प्राप्त होने वाला चित्तवृत्ति का अस्पन्दन मात्र ही समाधि है।)

यदि योग शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य समाधि और संयोग—दोनो अर्थों पर सूक्ष्म दृष्टि से गहराईपूर्वक विचार किया जाय तो इसमे अभेद और भेद दोनो ही दृष्टिगोचर होते है। किन्तु इन दोनो विरोधी तत्वो भेद और अभेद के सम्यक् समन्वय से योग का अर्थ और भी स्पष्ट हो जायेगा।

समाधि और संयोग—ये दोनो ही योग रूप एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। समाधि में समाधान प्रधान है; और संयोग मे सयोजन मुख्य है। समाधान आत्मा की समाहित अवस्था—समभाव परिणति का परिचायक है; और संयोग—साधक को अपने साध्य से मिलाता है। समाधान अथवा समता में अभेद दृष्टि का ही प्राधान्य है जबकि संयोग में भेदप्रधान विचारो का अनुसरण है।

किन्तु संयोगरूप भेद अवस्था न शाश्वत है और न चिरस्थायी, ज्यो-ज्यो साधक अपने लक्ष्य अथवा सिद्धि के समीप पहुँचता जाता है, त्यो-त्यो भेद भी समाप्त होता जाता है, और लक्ष्य प्राप्ति होने पर तो पूर्णतया समाप्त हो ही जाता है।

इस भेद और अभेद—संयोग और समाधि—योग के इन दोनो अर्थों का समन्वय करते हुए जैन आचार्यों ने योग की परिभाषा अथवा लक्षण निश्चित करते हुए कहा है—

("मोक्ष प्राप्ति के मुख्य और गौण, अन्तरंग तथा बहिरंग, ज्ञानदृष्टि और आचार दृष्टि से जितने भी अध्यात्मनिर्दिष्ट साधन हैं (जो साक्षात या परम्परा से मोक्ष के उपाय हैं) उनका यथाविधि सम्यग् अनुष्ठान और उससे प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक विकास की पूर्णता का नाम योग है।")

वैदिक विद्वानो ने भी योग के संयोग और समाधि दोनो अर्थों का समन्वय करते हुए जो सारगर्भित व्याख्या[1] की है, उससे भी इसी तथ्य का समर्थन होता है ।

मोक्ष के साधन के रूप मे जैन धर्म-दर्शन ने रत्नत्रय को ही सर्वोत्तम उपाय (योग) स्वीकार किया है। यह रत्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्ररूप है ।[2] यह योग (उपाय) अथवा साधन शास्त्रो का उपनिषद् है, मोक्ष को देने वाला है, तथा समस्त विघ्न-बाधाओ का उपशमन करने वाला है, अतः कल्याणकारी है ।[3] यह (योग) इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति कराने वाला कल्पवृक्ष एव चिन्तामणि है। धर्मो मे प्रधान यह योग सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का अनन्य हेतु है ।[4]

इस प्रकार जैन आचार्यो ने योग के लक्षण मे साध्य अर्थात् समाधि और उस समाधि को प्राप्त कराने वाले साधन—दोनो का समन्वय किया है ।

मन की अचंचलता आवश्यक

योगसिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि मन स्थिर रहे, एकाग्र हो, चचल न रहे, उसकी चचलता मिट जाय । अतः सर्वप्रथम मन को नियन्त्रण मे करना आवश्यक है । मन के कारण ही इन्द्रियाँ चचल होती है । इस प्रकार मन और इन्द्रियो की चंचलता एकोन्मुखता के मार्ग में भटकाव उत्पन्न करती

---

१ समाधिमेव च महर्षयो योग व्यपदिशन्ति—यदाहु योगियाज्ञवल्क्या —'समाधि' समतावस्था, जीवात्म-परमात्मनो । सयोगो योग इत्युक्त, जीवात्म-परमात्मनो' इति । अतएव स्कन्धादिषु—'यत्समत्व द्वयोरत्र, जीवात्म परमात्मनो, समष्टसर्व-सकल्प समाधिरभिधीयते ।' 'परमात्मात्मानोर्योऽयमविभाग परन्तप ! स एव तु परो योग समासात् कथितस्तव ।' इत्यादिषु वाक्येषु योग समाध्यो समानलक्षणत्वेन निर्देश सगच्छते । —स्वामि बालकरामकृत— योगभाष्य भूमिका

२ (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग । —तत्वार्थ सूत्र १/१

(ख) ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयात्मक ।
योगोमुक्तिपदप्राप्तानुपाय परिकीर्तित ।। —योगप्रदीप ११३

३ शास्त्रस्योपनिपद्योगो योगो मोक्षस्य वर्तनी ।
अपायशमनो योगो, योगकल्याणकारकम् ।। — योगमाहात्म्य द्वात्रिंशिका, १

४ योग कल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणि पर ।
योग प्रधान धर्माणा योग सिद्धे स्वयग्रह ।। —योगविन्दु ३७

है और आत्मा के अपने स्वरूप की उपलब्धि में बाधक बनती है इसलिए चंचल मन को स्थिर करना योग की पहली शर्त है।

मन के बारे में अध्यात्म कल्पद्रुम में कहा गया है—मन की समाधि योग का हेतु तथा तप का निदान है, और मन को केन्द्रित करने के लिए तप आवश्यक है, अतः तप शिवशर्म का—मोक्ष का मूल कारण है।[1]

मन के प्रकार

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने मन के चार प्रकार बताये है—(१) विक्षिप्त मन (२) यातायात मन (३) श्लिष्ट मन और (४) सुलीन मन।[2] इसी प्रकार पातंजल योग के भाष्यकार ने भी चित्त की पाँच भूमिकाएँ स्वीकार की हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध।[3] ये भूमिकाएँ चित्त की अवस्थाएँ ही है।

विक्षिप्त मन तो चंचल होता ही है, किन्तु यातायात मन विक्षिप्त मन की अपेक्षा कम चचल होता है। क्योंकि चंचलता योग मे विघ्न रूप होती है, इसलिए योगी को इन दोनो प्रकार के मन पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए।[4] श्लिष्ट नाम का तीसरा मन स्थिरतायुक्त और आनन्द-मय होता है तथा जब यह मन स्थिर हो जाता है तो चौथा सुलीन मन होता है।[5]

इसी प्रकार का वर्णन चित्त की भूमिकाओ का किया गया है। क्षिप्त मन रजोगुण प्रधान और चचल होता है। मूढ चित्त तमोगुणप्रधान और आलसी

---

१ योगस्य हेतुर्मनस समाधि पर निदान तपसश्च योग ।
तपश्च मूल शिवशर्म आहुः मन समाधिं भज तत्कथचित् ॥

—अध्यात्म कल्पद्रुम ६/१५

२ इह विक्षिप्त यातायात श्लिष्ट तथा सुलीन च ।
चेतश्चतु प्रकार तज्ज्ञ—चमत्कारि भवेत् ॥ —योगशास्त्र १२/२

३ क्षिप्त मूढ विक्षिप्त एकाग्र निरुद्ध चित्तस्य भूमय चित्तस्य अवस्था विशेषा.।

—भोजवृत्ति १/२ तथा योगभाष्य

४ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) १२/३

५ वही १२/४

तथा विवेकशून्य होता है। विक्षिप्त मन कभी-कभी स्थिर[1] भी हो जाता है। ये तीनो अवस्थाएँ योग-समाधि के लिए अनुपयोगी है। एकाग्रचित्त मे स्थिर होने का गुण विकसित हो जाता है और निरुद्ध मन मे सभी बाह्य वृत्तियो का अभाव हो जाता है।[2] इसलिए अन्तिम दो अवस्थाएँ योग साधना के लिए अनुकूल है।

इसी प्रकार भागवत[3] मे भी मन की चार अवस्थाए मानी गई हैं। प्रश्नोपनिषद्[4] मे भी इन अवस्थाओ का वर्णन किया गया है।

योग सग्रह

चारित्र-विकास के लिए तथा योग साधना हेतु साधको के लिए कुछ आवश्यक नियम-उपनियम तथा क्रियाओ को करने का विधान है, इन्हे जैन पारिभाषिक शब्दावली मे योग सग्रह कहा गया है। इनका उल्लेख समवायाग सूत्र मे मिलता है। ये योग संग्रह बत्तीस है।[5]

(१) आलोचना—गुरु के समक्ष अपने दोषो को स्वीकार करना।

(२) निरपलाप—शिष्य के दोष दूसरो के सामने प्रगट नही करना।

(३) व्रतो में स्थिरता—अगीकृत व्रत-नियमो का आपत्तिकाल मे भी परित्याग नही करना।

(४) अनिरपेक्ष तपोपधान—अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा न करके तप करना।

(५) शिक्षा—शास्त्रो का पठन-पाठन करना।

(६) निष्प्रतिकर्मता—शरीर की सजावट तथा श्रृंगार न करना।

(७) अज्ञातता—अपने द्वारा किए गये तप को गुप्त रखना।

(८) अलोभता—लोभ न रखना।

(९) तितिक्षा—परीषहो को समभावपूर्वक सहना।

(१०) ऋजुभाव—भावो मे सरलता रखना।

---

१ तत्व वैशा० टीका—वाचस्पति मिश्र १/१

२ भोजवृत्ति १/२

३ श्रीमद्भागवतं ११/१३/२७

४ प्रश्नोपनिषद् ५/६

५ समवायाग सूत्र, ३२वां समवाय

(११) शुचि—सत्य तथा संयम में वृद्धि करते रहना ।

(१२) सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दृष्टि होना ।

(१३) समाधि—चित्त की एकाग्रता तथा समताभाव ।

(१४) आचार—आचार पर दृढ रहना ।

(१५) विनय—आत्म-परिणामो में विनम्रता रखना ।

(१६) धृतिमति—धैर्यपूर्ण मति ।

(१७) संवेग—मोक्ष विषयक तीव्र अभिलाषा ।

(१८) प्रणिधि—माया अथवा कपट रहितता ।

(१९) सुविधि—सदनुष्ठान ।

(२०) संवर—कर्मों के आगमन को रोकना ।

(२१) आत्मदोषोपसहार—अपने दोषों का निरोध करना ।

(२२) सर्वकामविरति—सभी प्रकार की इच्छाओ से विरति रखना ।

(२३) मूलगुणसम्बन्धी प्रत्याख्यान ।

(२४) उत्तरगुणसम्बन्धी प्रत्याख्यान ।

(२५) व्युत्सर्ग—त्याग ।

(२६) अप्रमाद—प्रमाद न करना । (प्रमाद १५ प्रकार का है, उन सब प्रकार के प्रमादों का त्याग करना ।)

(२७) लवालव-क्षण-प्रतिक्षण अपने स्वीकृत आचार का पालन करना ।

(२८) ध्यान—संवर योग तथा धर्म और शुक्ल ध्यान अर्थात् शुभ ध्यान करना ।

(२९) मारणातिक उदय—मारणांतिक परीषह आने पर भी दु:ख एवं क्षोभ नही करना ।

(३०) सग-त्याग—मन में असंग भाव रखना ।

(३१) प्रायश्चित्त करना ।

(३२) मारणान्तिक आराधना—जीवन के अन्तिम समय की साधना—काय और कषाय को कम करते हुए समभाव से निर्भय होकर मृत्यु का वरण करना ।

ये योग-संग्रह के बत्तीस सूत्र जैन योग की आधार-भूमि माने गये हैं। इनके पालन और सुदृढतापूर्वक सफल बनाने का उपदेश श्रमण और श्रावक

दोनो को दिया गया है। इन आधार-भूमिकाओ के स्थिर हो जाने के उपरान्त श्रावक भी श्रमण के समान साधना कर सकता है।

योग-सग्रह को ही प्रकारान्तर से आचार्य हरिभद्र ने योगबिन्दु मे पूर्वसेवा,[1] योग दृष्टिसमुच्चय मे योग बीज[2] और योगशतक मे लौकिक धर्म[3] पालन कहा है तथा स्पष्ट शब्दो मे इनका पालन साधक के लिए आवश्यक बताया है।

गुरु का महत्व

साधक के लिए आवश्यक है कि वह पूर्वसेवा आदि प्रारम्भिक क्रियाओ के साथ-साथ गुरु का सत्संग भी करे।

योगमार्ग मे गुरु का महत्व सर्वाधिक है। क्योकि सद्गुरु के अभाव मे विषय तथा कषायो मे वृद्धि होती है।[4] गुरु द्वारा ही साधक को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति तथा शास्त्रो का मर्म हृदयंगम होता है। इससे उसका आत्म-विकास होता है।

अत. सयम के पालन तथा उसमे उत्तरोत्तर उन्नति के लिए तथा तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति हेतु गुरु की समीपता अति आवश्यक है। उन्ही के उपदेश और प्रेरणा से योग साधना मे सफलता प्राप्त होती है। गुरु सेवा आदि कृत्यो से लोकोत्तर तत्त्व की प्राप्ति होती है।[5] यहाँ तक कि गुरु भक्ति मोक्ष का अमोघ साधन है।[6]

अत. गुरु का महत्व एव स्थान जैन योग मे अति उच्च माना गया है।

योगाधिकारी के भेद

आचार्य हरिभद्र ने योगबिन्दु मे योग के अधिकारी साधको की दो कोटियाँ बताई है—(१) अचरमावर्ती और (२) चरमावर्ती।

---

१ योगबिन्दु १०९-११७

२ योगदृष्टिसमुच्चय २२-२३, २७-२८

३ योगशतक २५-२६

४ तावद् गुरुवच शास्त्र तावत् तावच्च भावना।
कषायविषयैर्यावद् न मनस्तरली भवेत्॥ —योगसार ११६

५ एव गुरुसेवादि च काले सद्योगविघ्नवर्जनया।
इत्यादिकृत्यकरण लोकोत्तर तत्त्वसम्प्राप्ति॥ —षोडशक ५/१६

६ गुरुभक्ति प्रभावेन तीर्थकृद्दर्शन मतम्।
समापत्त्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम्॥ —योगदृष्टिसमुच्चय ६४

इनमें से अचरमावर्ती साधक पर तो मोह का गहन परदा छाया रहता है। उसकी प्रवृत्ति संसाराभिमुखी रहती है। वह धर्म-क्रियाएँ भी लौकिक-सुख एवं यश की कामना से करता है। इसीलिए वह लोकपक्तिकृतादर कहा गया है। ऐसा व्यक्ति क्षुद्रवृत्ति वाला, भयभीत, ईर्ष्यालु और कपटी होता है।[1] ऐसे लोग चाहे यम-नियम आदि का पालन भी करें; किन्तु अंतःशुद्धि के अभाव मे वे योगी नही हो सकते। जो लोग लौकिक हेतु अथवा आकर्षण के भाव से योग साधना एवं धार्मिक अनुष्ठान करते है, वे अध्यात्मयोगी कभी नही हो सकते।

दूसरी कोटि के साधक चरमावर्ती है। वस्तुतः योग-साधना अथवा योगदृष्टि का प्रारम्भ यही से होता है।[2] चरमावर्ती जीव स्वभाव से मृदु, शुद्ध तथा निर्मल होते है।[3]

चरम का अर्थ है—अन्तिम और आवर्त का अर्थ है—पुद्गलावर्त। पुद्गलावर्त एक जैन पारिभाषिक शब्द है जो समय की गणना के काम आता है; अर्थात् पुद्गलावर्त समय का एक विशेष परिमाण है।

चरमावर्ती जीवो पर मोह का गाढ़ा पर्दा नही होता। मिथ्यात्व की मलिनता भी अत्यल्प रहती है। वे शुक्लपाक्षिक होते है, उनका ग्रन्थिभेद भी हो चुका होता है।[4] उनका बिन्दु मात्र ससार अवशिष्ट रहता है।[5] चरमावर्ती जीव सम्पूर्ण आन्तरिक भावो से परिशुद्ध होकर जिन धार्मिक क्रियाओं को करता है, उन साधनो को जैन दृष्टि से योग माना गया है।[6]

आत्म-विकास के क्रम मे जीव की स्थितियाँ

चरमावर्ती जीव आत्मोन्नति के मार्ग पर बढ़ते हुए जिन स्थितियों से

---

१ देखिए—योगबिन्दु ७३, ८६-८७-८८, ९३ तथा योगसार प्राभृत ८/१८-२१

२ आत्मस्वरूप विचार १७३-७४

३ नवनीताविकल्पस्तच्चरमावर्त इष्यते।
अत्रैव विमलो भावो गोपेन्द्रोऽपि यदभ्यद्यात्॥ —योगलक्षण द्वात्रिंशिका, १८

४ योगबिन्दु ७२, ९९

५ चरमावर्तिनो जन्तो सिद्धेरासन्नता ध्रुवम्।
भूयासोऽमी व्यतिक्रान्तास्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ॥
—मुक्त्यद्वेषप्राधान्य द्वात्रिंशिका २८

६ योगलक्षणद्वात्रिंशिका, २२

गुजरता है, वे चार हैं—(१) अपुनर्बन्धक, (२) सम्यग्दृष्टि, (३) देशविरति और (४) सर्वविरति ।[1]

अपुनर्बन्धक स्थिति में मिथ्यात्व दशा में रहते हुए भी साधक विनय, दया, वैराग्य आदि सद्गुणो की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है ।[2] इस स्थिति मे वह ग्रन्थि-भेद करने में सक्षम होता है । यह ग्रन्थि मिथ्यात्व की होती है, जिसका वह भेदन करता है ।

ग्रन्थि-भेद के अनन्तर सम्यग्दृष्टि की स्थिति प्रारम्भ होती है । इसमें साधक सांसारिक प्रपंचो मे रहता हुआ भी मोक्षाभिमुख होता है । दूसरे शब्दो में वह जीव संसार में रहते हुए भी अन्तरग से मुक्ति के उपायो के विषय मे विचार किया करता है । यथार्थ तत्त्वो और देव-गुरु-धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा निश्चल होती है, उसकी दृष्टि शुद्ध और यथार्थग्राहिनी होती है । इसीलिए उसे भावयोगी भी कहा जाता है ।[3]

जब वह सम्यग्दृष्टि जीव अथवा भावयोगी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदारसन्तोष और परिग्रहपरिमाण रूप अणुव्रत; दिशा-परिमाण, उपभोग-परिभोग-परिमाण और अनर्थदण्डविरत रूप गुणव्रत, तथा सामायिक, देशाव-काशिक, प्रोषधोपवास और अतिथि-सविभाग रूप शिक्षाव्रत ग्रहण कर लेता है तब उसकी स्थिति देशविरति की हो जाती है, वह मोक्ष मार्ग की ओर एक कदम और आगे बढ़ा देता है ।

इसके उपरान्त वह और आगे बढकर सर्वविरति[4] की भूमिका पर पहुँचता है । वहाँ वह हिंसा आदि सभी पापो का पूर्ण रूप से त्याग कर देता है और आत्मा मे लीन रहता है ।

आत्म-साधना करते हुए वह कर्मों की निर्जरा करके सर्वज्ञ-सर्वदर्शी

---

१ योगशतक १३-१६, योगविन्दु १०२, १७७-७८, २५३,३५१-५२

२ भवाभिनन्दि दोषाणा प्रतिपक्षगुणैर्युत ।
वर्द्धमान गुणप्रायो, ह्यपुनर्वन्धको मत ॥ —योगविन्दु १७८

३ भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो मोक्षे चित्त भवे तनु ।
तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावत ॥
न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाकुलस्यापि तत्र चित्त न जायते ॥ —योगविन्दु २०३,२०५

४ योगविन्दु ३५२-३५५

बन जाता है। यहाँ उसकी योग साधना पूर्ण हो जाती है। आगे अयोग अवस्था प्राप्त कर वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

चित्त-शुद्धि के प्रकार

जैन योग के अन्तर्गत धर्म-व्यापार के रूप में अष्टांग योग[1] का वर्णन भी हुआ है। इसके क्रम में पाँच प्रकार की चित्त-शुद्धि का विवरण भी दिया गया है। इससे क्रिया शुद्धि होती है और इनको सही ढंग से पालन करने से साधक की प्रवृत्ति धार्मिक अनुष्ठानो की ओर हो जाती है। चित्त-शुद्धि के पाँच प्रकार है—

(१) प्रणिधान, (२) प्रवृत्ति (३) विघ्नजय, (४) सिद्धि और (५) विनियोग।[2]

(१) **प्रणिधान**—अपने आचार-विचार मे अविचलित रहते हुए सभी जीवो के प्रति राग-द्वेष न रखना, प्रणिधान नामक चित्त-शुद्धि है। स्वार्थी, दम्भी, दुराग्रही लोगो के प्रति भी साधक को दुर्भावना नही रखनी चाहिए।

(२) **प्रवृत्ति**—इसमें साधक निर्दिष्ट योग साधनाओ मे मन को प्रवृत्त करता है। दूसरे शब्दो मे वह विहित अथवा गृहीत व्रत-नियमो तथा अनुष्ठानो का सम्यक्तया पालन करता है।

(३) **विघ्नजय**—व्रत-नियमों का पालन करते समय अथवा योग साधना के दौरान आने वाले विघ्नो, कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करना विघ्नजय क्रिया शुद्धि कहलाता है।

(४) **सिद्धि**—सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के साथ ही साधक को आत्मानुभव होने लगता है। समताभाव आ जाने से साधक का चित्त चन्दन के समान शीतल हो जाता है, कषायजन्य चंचलता अल्प रह जाती है। इसी को सिद्धि रूप चित्त-शुद्धि के नाम से अभिहित किया गया है।

(५) **विनियोग**—सिद्धि के उपरान्त साधक का उत्तरोत्तर आत्म-विकास होता जाता है, उसकी धार्मिक वृत्तियो मे दृढता, क्षमता, ओज और तेज आ जाता है, उसको साधना ऊर्जस्वी हो जाती है। धार्मिक वृत्तियो में चित्त का

---

१ योगप्रदीप ५१-५२।

२ प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिविनियोग भेदत प्राय.।
धर्मज्ञैराख्यात. शुभाशय पचधाऽत्र विधौ ॥ —षोडशक ३/६

लगना ही विनियोग चित्त-शुद्धि कहा जाता है। कल्याण भावनाओ की वृद्धि का प्रयत्न ही विनियोग है।[1]

योग के अनुष्ठान

योग-साधना की सिद्धि के लिए अनुष्ठान (क्रियाएँ) आवश्यक हैं, क्योकि क्रिया के विना सिद्धि की प्राप्ति सम्भव हा नही है। अनुष्ठान के पाँच[2] प्रकार है—(१) विषानुष्ठान, (२) गरानुष्ठान, (३) अननुष्ठान, (४) तद्धेतु अनुष्ठान, (५) अमृतानुष्ठान।

इनमे से प्रथम तीन अनुष्ठान राग, मोह आदि भावो से युक्त होने के कारण लौकिक हैं, अतः मोक्षमार्ग की अपेक्षा असदनुष्ठान हैं। अन्तिम दो अनुष्ठानो मे रागादि भावो का अल्प-अंश होता है तथा इन अनुष्ठानो मे साधक की इच्छा ससार-सूखो की प्राप्ति की नही होती, अतः इन्हे सदनुष्ठान कहा जाता है।

(१) **विष-अनुष्ठान**—इस अनुष्ठान को करते समय साधक की इच्छा सासारिक सुखों को प्राप्त करने की होती है। यश, कीर्ति, इन्द्रिय-सुख, धन आदि की प्राप्ति उसका लक्ष्य होता है। राग आदि भावो की अधिकता के कारण यह अनुष्ठान विष-अनुष्ठान है, क्योकि सासारिक सुखो की इच्छा मोक्ष-प्राप्ति मे विषतुल्य मानी गई है।

(२) **गरानुष्ठान**—'गर' शनैः-शनैः मारने वाला विष होता है। जब साधक के हृदय मे स्वर्ग-सुखो की अभिलाषा रहती है, तो उसके द्वारा किया जाने वाला अनुष्ठान गरानुष्ठान कहलाता है; क्योकि स्वर्ग-सुखो की इच्छा भी स्वर्ग-सुख भोगने के बाद निम्न गतियो का कारण बनती है।

(३) **अननुष्ठान**—जो धार्मिक क्रियाएँ अथवा अनुष्ठान बिना उपयोग के, विवेकहीन होकर गतानुगतिक रूप मे, लोक- परम्परा का पालन करते हुए, लोगो की देखा-देखी की जाती है, वे अननुष्ठान हैं। दूसरे शब्दो मे इन्हें भावशून्य द्रव्य अनुष्ठान भी कहा जा सकता है।

(४) **तद्धेतु अनुष्ठान**—मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से जो शुभ क्रियाएँ—धार्मिक व्रत-नियम आदि की जाती हैं, वे तद्धेतु अनुष्ठान कहलाती हैं।

---

१ षोडशक ३/७-११

२ विष गरोऽननुष्ठान तद्धेतुरमृत परम्।
गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानत ॥ —योगविन्दु १५५

यद्यपि राग का अश यहाँ भी विद्यमान रहता है; किन्तु प्रशस्त राग होने से वह परम्परा से मोक्ष का कारण है, इसलिए यह अनुष्ठान सदनुष्ठान है।

(५) **अमृतानुष्ठान**—साधक की जो क्रिगाएँ आत्म-भावपूरित और वैराग्य भाव से की जाती है, वे अमृतानुष्ठान है। इस अनुष्ठान साधक की वृत्ति-प्रवृत्ति मोक्षोन्मुखी होती है।[1]

योग के पाँच भेद

जैन योग में योग साधना के लिए पाँच साधन स्वीकार किये गये है—(१) स्थान, (२) ऊर्ण, (३) अर्थ, (४) आलम्बन और (५) अनालम्बन। इन साधनो के आधार पर योग के भी पाँच भेद हो जाते हैं।[2]

(१) **स्थान**—स्थान का अभिप्राय आसन है। आसनो के विषय में जैन आचार्यों का कोई विशेष आग्रह नही रहा है। बस, इतना ही है कि जिस किसी भी आसन से साधक अधिक देर तक ध्यानस्थ रह सके, चित्त और शरीर को स्थिर रख सके, वही आसन उसके लिए उचित है। वह कोई भी आसन हो सकता है, यथा—पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन, खड्गासन आदि-आदि।

(२) **ऊर्ण**—योग-साधना के दौरान सूत्र—संक्षिप्त शब्द समवाय का पाठ किया जाता है तथा उनके स्वर, मात्रा, अक्षर, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि का ध्यान रखकर जो उपयोगपूर्वक उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण कहा जाता है। इस साधन को वर्ण योग भी कह सकते है।

(३) **अर्थ**—सूत्रो के अर्थ को समझना तथा उनका शुद्ध उच्चारण करना।

(४) **आलम्बन**—मन की एकाग्रता के लिए बाह्य प्रतीको का आलम्बन लेना।

(५) **अनावलम्बन**—जब साधक बाह्य आलम्बनों को छोड़कर सिर्फ आत्मचिन्तन में लोन हो जाता है, तब अनालम्बन योग कहलाता है। इस स्थिति मे साधक का मन एकाग्र हो जाता है और उसे आत्मस्वरूप की प्रतीति होने लगती है। अनावलम्बन योग की चरमावस्था में योग की प्रक्रिया सम्पूर्णता को प्राप्त हो जाती है।

---

१ योगबिन्दु १५६-१६०

२ योगविंशिका २

अन्य अपेक्षा से योग के तीन प्रकार

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अन्य अपेक्षा से योग के तीन प्रकार बताये है—(१) इच्छायोग, (२) शास्त्रयोग तथा (३) सामर्थ्ययोग ।[1]

(१) **इच्छायोग**—इस योग में साधक की इच्छा तो अनुष्ठान (धार्मिक क्रियाएँ) करने की जाग्रत हो जाती है, किन्तु प्रमाद (आलस) के कारण वह उन धार्मिक क्रियाओ को कर नही पाता। इसलिए इसे विकल—असम्पूर्ण धर्मयोग—इच्छायोग कहा जाता है ।[2]

(२) **शास्त्रयोग**—यथाशक्ति, प्रमादरहित, तीव्र बोधयुक्त पुरुष के आगम-वचन, शास्त्रज्ञान के कारण अविकल—(अखण्ड—काल आदि की अविकलता—अखण्डता के कारण अविकल) सम्पूर्णयोग शास्त्रयोग कहा जाता है।[3]

(३) **सामर्थ्य योग**—इस योग का विषय शास्त्रज्ञान की मर्यादा से ऊपर उठा हुआ होता है। यह योग प्रातिभज्ञान (असाधारण प्रतिभा) अथवा असाधारण आत्म-ज्योति से उत्पन्न ज्ञान-आत्मानुभव या स्वसवेदन के अद्भुत प्रकाश—अनन्य आत्मचिन्तन एवं तत्त्वचिन्तन से उत्पन्न होता है । यह योग आत्म-दीप्ति से युक्त होता है अतः यह सर्वज्ञता का साक्षात् कारण है। इसीलिए सामर्थ्ययोग को उत्तम योग कहा गया है ।[4]

सामर्थ्ययोग दो प्रकार का है—(१) धर्मसंन्यासयोग और (२) योग-संन्यासयोग ।[5]

धर्मसन्यासयोग मे क्षमा आदि क्षयोपशमजनित भाव होते है और साधक के मन में अत्यल्प रागभाव भी रहता है। इसमें आत्म-परिणामो मे यत्किंचित् चचलता भी रहती है । धर्मसंन्यासयोगी आत्मोन्नति करते-करते योगसन्यास-योग तक पहुँचता है । वहाँ वह काययोग का भी पूर्णरूप से निरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।[6] इसी का दूसरा नाम अयोग अवस्था अथवा सर्वसन्यासयोग अवस्था है । इसी को वृत्तिसक्षययोग भी कहा

---

१ योगदृष्टिसमुच्चय, २

२ वही, ३

३ वही, ४

४ वही, ८

५ वही, ९

६ वही, १०

है। इसी अवस्था में आत्मा मुक्ति प्राप्त करती है, आत्मा के सिवाय सब कुछ छूट जाता है। अतः यह अवस्था ही सर्वोत्तम योग है।[1]

योगदृष्टियाँ

इन तीनों योगो—इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग का सीधा आधार लिये बिना, किन्तु उन्ही से विशेष रूप से निःसृत, उसी भावधारा से उद्भूत दृष्टियाँ—योगदृष्टियाँ है। ये सामान्यतः आठ हैं—(१) मित्रा, (२) तारा, (३) बला, (४) दीप्रा, (५) स्थिरा, (६) कांता, (७) प्रभा और (८) परा।[2]

संसारपतित दृष्टि—सामान्य दृष्टि अथवा ओघदृष्टि से ऊपर उठकर साधक इन योगदृष्टियो मे पहुँचता है।

(१) **मित्रादृष्टि**[3]—यह प्रथम योगदृष्टि है। इस दृष्टि के फलस्वरूप साधक के हृदय में प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव बढ़ने लगता है। वह धार्मिक क्रियाओं को करता तो है किन्तु प्रथा के रूप मे करता है। अहिंसा आदि का पालन वह चित्त की मलिनता कम करने की दृष्टि से नही; वरन् शुभ कर्मों की दृष्टि से करता है। उसकी विचारधारा यह होती है कि अहिंसा आदि के पालन से पुण्योपार्जन तो होगा ही।

इसमें राग-द्वेष हल्के होते है। दु.खी प्राणियो के प्रति दया व मैत्री के भाव जगते है। इसमे जो बोध होता हे वह चिनगारी के समान क्षणिक होता है। वह इष्ट-अनिष्ट और हेय-उपादेय का निर्णय नही कर पाता।

मित्रादृष्टि मे स्थित साधक पातंजल योगसूत्र में निर्दिष्ट योग के प्रथम अंग यम[4] के प्रारम्भिक अभ्यास—इच्छादि यम (यम के अभ्यासगत भेद—इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम और सिद्धियम) को प्राप्त कर लेता है। अतः इस दृष्टि की तुलना पातजल योग के प्रथम अंग 'यम' से की जा सकती है।

साधक देवकार्य, गुरुकार्य, धर्मकार्य मे अखेद भाव से लगा रहता है।

---

१ योगदृष्टिसमुच्चय, ११ (अतस्त्वयोगो योगाना योग पर उदाहृत ।)
तथा अध्यात्मतत्त्वालोक ७/१२

२ योगदृष्टिसमुच्चय, १२-१३

३ वही, २१-४०

४ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमः। —पातंजल योगसूत्र २/३०

उसके खेद नाम का दोष टल जाता है। जो लोग देवकार्य आदि नही करते, उनके प्रति उसे मत्सर-द्वेष नही होता।

(२) **तारादृष्टि**[1]—तारादृष्टि मे मित्रादृष्टि की अपेक्षा बोध कुछ अधिक स्पष्ट होता है।

यहाँ पातजल योग द्वारा निर्दिष्ट योग का द्वितीय अंग नियम[2] सधता है—अर्थात् शौच, तप, सन्तोष, स्वाध्याय, तथा परमात्म-चिन्तन जीवन मे फलित होते है। अत. इस दृष्टि की तुलना अष्टांग योग के दूसरे अंग 'नियम' से की जा सकती है।

इस दृष्टि में स्थित साधक के हृदय में आत्महितकर प्रवृत्ति मे अनुद्वेग, उत्साह तथा तत्त्वोन्मुखी जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

(३) **बलादृष्टि**[3]—बलादृष्टि मे सुखासनयुक्त दृढ दर्शन—सद्बोध प्राप्त होता है, परम तत्त्व-श्रवण करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है तथा योग साधना में चित्त-विक्षेप-दोष समाप्त हो जाता है।

यहाँ पातंजल अष्टांग योग का तीसरा अंग 'आसन'[4] सधता है। सुखासन का अभिप्राय उस आसन से है, जिसमें योगी सुखपूर्वक शान्ति से बैठ सके, उसके ध्यान मे विक्षेप न हो और ध्यान मे चित्त स्थिर रहे।

बलादृष्टि के आजाने पर साधक की तृष्णा कम हो जाती है। उसके जीवन में उतावलापन कम होकर स्थिरता बढ जाती है। वह अपने शुभ समारम्भमय उपक्रम मे कुशलता प्राप्त करता जाता है; अपने अन्तर् हृदय मे उल्लास अनुभव करने लगता है और तत्त्वजिज्ञासा प्रबल होती है फलतः वह महान आत्मा अभ्युदय में सलग्न होता है।

(४) **दीप्रादृष्टि**[5]—यहाँ प्राणायाम[6] सधता है। यहाँ अन्तर्तम मे ऐसे प्रशात रस का सहज प्रवाह बहता रहता है कि साधक का चित्त उसी मे

---

१ योगदृष्टिसमुच्चय, ४१-४८
२ शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा.। —पातजल योगसूत्र २/३२
३ योगदृष्टिसमुच्चय, ४९-५६
४ स्थिरसुखमासनम्। —पातजल योगसूत्र २/४६
५ योगदृष्टिसमुच्चय, ५७-५८
६ तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम। —पातंजल योगसूत्र २/४९

निमग्न हो जाता है, वह योग से हटता नही, अन्यत्र जाता नही। दीप्राद्दष्टि मे स्थित साधक केवल कानो से सुनता ही नही, वरन् हृदयगम भी करता रहता है उसके अन्दर अन्तर्ग्राहिकता का भाव उदित हो जाता है; किन्तु सूक्ष्म बोध अधिगत करना अभी शेष रह जाता है।

वह साधक धर्म को अपने प्राणो से भी अधिक मानता है। वह सदाचार के प्रति निष्ठा ही नही रखना, वरन् उसको आचरण मे भी लाता है। उसके चित्त की शांति बढने लगती है।

दीप्राद्दष्टि में स्थित साधक को संसार के भोग खारे पानी के समान अप्रिय लगते है और तत्त्वश्रवण अमृत के समान।

(५) स्थिराद्दष्टि[1]—स्थिराद्दष्टि मे दर्शन (सम्यग्दर्शन) नही गिरने वाला अर्थात अप्रतिपाती हो जाता है। इसमें प्रत्याहार[2] सधता है अर्थात् स्व-स्व विषयो के सम्बन्ध से विरत होकर इन्द्रियाँ चित्तस्वरूपाकार हो जाती है तथा साधक जो भी क्रिया-कलाप करता है, वह भ्रान्तिरहित, निर्दोष एवं सूक्ष्म बोधयुक्त होते है।

विशेष—पातजल योगसूत्र के समान जैन आचार्यों ने प्राणायाम को केवल श्वास-प्रश्वास-नियमन तक ही सीमित नही रखा है, वरन् उस पर गहराई से चिन्तन किया है। श्वास-प्रश्वासनिरोध या नियमन तो प्राणायाम का केवल भौतिक रूप है, केवल मात्र वाहरी।

जैन आचार्यों ने प्राणायाम को केवल रेचक (श्वास को बाहर निकालना), पूरक (भीतर खीचना) और कुम्भक (अन्दर रोके रखना)—इतना नही माना, वरन् इसका अध्यात्मपरक रूप भी बताया है। रेचक (बाह्यभाव आत्म-विरोधी या परभावो को बाहर निकालना), पूरक (अन्तरात्मभाव—आत्मस्वरूपानुप्रत्यय को भीतर भरना) तथा कुम्भक (अन्तर्तम को आत्मचिन्तन, आत्मगुणो से आपूर्ण करना तथा उन भावो को स्थिर किये रहना)—यह भाव-प्राणायाम है।

इस अध्यात्मपरक भाव प्राणायाम का मोक्षमार्ग मे अत्यधिक महत्व है। इस भाव प्राणायाम के बिना मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। श्वासप्राणायाम से शरीर एव चित्त की स्थिरता बढती है और इस भाव-प्राणायाम से मन को निर्मलता तथा विशिष्ट आत्मानुभूति होती है।

१ योगद्दष्टि समुच्चय १५४-१६१

२ स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार:।

—पातंजल योगसूत्र २/५४

इस दृष्टि में स्थित साधक की मिथ्यात्व ग्रथि का भेदन हो जाता है, उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। परिणामस्वरूप उसे ससार के सभी सुख-भोग क्षणभंगुर मालूम होते है और वह आत्मा को ही उपादेय, अजर-अमर मानता है।

स्थिरादृष्टि रत्नप्रभा के तुल्य (सदा एक समान ज्योति) देदीप्यमान रहती है।

स्थिरादृष्टि दो प्रकार की होती है—(१) सातिचार और (२) निरतिचार। निरतिचार दृष्टि में अतिचार, दोष और विघ्न नही होते। उसमे होने वाला दर्शन (सम्यग्दर्शन) नित्य एक सा अवस्थित रहता है। जिस प्रकार निर्मल रत्नप्रभा सदा एक समान ही दीप्तिमयी रहती है, वैसी ही स्थिति इस निरतिचार स्थिरादृष्टि की होती है।

कर्मग्रंथ की भापा मे इसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

सातिचार स्थिरादृष्टि मे होने वाला दर्शन (सम्यग्दर्शन) अतिचार सहित होता है, वह एक-सा अवस्थित नही रहता, न्यूनाधिक भी होता रहता है। सातिचार स्थिरादृष्टि की स्थिति मलसहित रत्नप्रभा के समान होती है। जिस प्रकार मल के कारण रत्न की प्रभा कम-अधिक होती रहती है किन्तु मिटती नही, उसी प्रकार स्थिरादृष्टि मे भी छोटे-मोटे दोष लगते रहते है, किन्तु इसकी दर्शन सम्बन्धी स्थिरता का नाश नही होता।

कर्मग्रंथ की भाषा मे यह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है, जिसमे चल-मल-अगाढ दोष तो लगते रहते है, किन्तु सम्यक्त्व छूटता नही।

सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ इसी पाँचवी दृष्टि से होता है। जीव भेद-विज्ञानी होकर आत्मा के स्वभाव और पर-भावो को, शरीर, धन-सम्पत्ति, पुत्र-पुत्री आदि को स्वय से भिन्न मानने लगता है।

(६) कान्तादृष्टि[1]—कान्तादृष्टि मे साधक को अविच्छिन्न सम्यक् दर्शन रहता है। जिस प्रकार कान्ता (पतिव्रता स्त्री) घर के अन्य सभी काम करते हुए, उसका हृदय सदैव अपने पति मे लगा रहता है, उसी प्रकार कान्तादृष्टि वाला योगी ससार के अन्य सभी कार्य करता है किन्तु उसका हृदय सदैव अपनी आत्मा मे लगा रहता है, वह आत्मानुभव करता रहता है।

---

१ योगदृष्टिसमुच्चय १६२-१६९

इस सतत आत्मानुभव का परिणाम यह होता है कि उस योगी की आत्मभावना अत्यन्त दृढ हो जाती है, वह सहजरूप से सतत आत्मभाव में रमा रहता है। वह सांसारिक भोग-उपभोगो को अनासक्त भाव से भोगता है, इसलिए उसके भोग आगे बन्धन तथा भवभ्रमण के हेतु नही होते, उनसे प्रगाढ़ कर्मबन्धन नही होता। उसके राग-द्वेष अत्यल्प होते है, हृदय हिम के समान शीतल हो जाता है, वृत्तियाँ बहुत कुछ उपशान्त हो जाती है।

उपशम भाव से उसके व्यक्तित्व में ऐसी विशिष्टता उत्पन्न हो जाती है कि उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सदाचार का प्रभाव अन्य लोगो पर भी पडता है, उसके व्यक्तित्व की उत्कृष्टता अन्य लोगो के लिए भी प्रीतिकर होती है, वे लोग उसके प्रति द्वेष-भाव न रखकर प्रेम रखते है।

कान्तादृष्टियुक्त योगी के अष्टांग योग का छठा अग 'धारणा'[२] सधता है। धारणानिष्ठ हो जाने पर वह आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य विषयो में रस नही लेता।

सूक्ष्म बोध उसे स्थिरादृष्टि मे प्राप्त हो ही जाता है, अतः वह इस स्थिति मे (कान्तादृष्टि मे) आत्मतत्त्वविषयक चिन्तन, मनन, निदिध्यासन-मूलक मीमांसा करता है, आत्मविचारणा और सद्गुणविचारणा में तल्लीन रहता है। इसके फलस्वरूप उसको आत्मा उत्कर्ष को प्राप्त होती है। उसका आत्महित—श्रेयस् उत्तरोत्तर सधता जाता है।

(७) **प्रभादृष्टि**[३]—प्रभादृष्टि मे प्रायश. ध्यान की प्रमुखता है। इस दृष्टि से सम्पन्न योगी प्राय. ध्याननिरत रहता है अर्थात् इसमे अष्टाग योग का सातवाँ अंग ध्यान[४]—ध्येय मे एकतानता—चित्तवृत्ति का एकाग्र भाव सफल होता है। ध्यान-सोपानस्थित योगी यहाँ ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है कि राग, द्वेष, मोहरूप—त्रिदोषजन्य भावरोग यहाँ उसके लिए बाधक नही बन पाते। वह तत्त्वानुभूति का गहरा रस-अनुभव प्राप्त कर लेता है और सत्प्रवृत्तियो की ओर उसका सहज ही झुकाव हो जाता है।

इस दृष्टि मे स्थित साधक असंगानुष्ठान (सभी प्रकार के सग—आसक्ति या संस्पर्शरहित विशुद्ध आत्मानुचरण) को शीघ्र साध लेता है।

---

१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —पातजल योगसूत्र ३/१

२ योगदृष्टिसमुच्चय १७०,१७१,१७७

३ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —पातंजल योगसूत्र ३/२

यह दृष्टि परम वीतराग भाव रूप स्थिति को प्राप्त कराने वाली है। इस दृष्टि वाले योगी की अन्तर्वृत्तियाँ प्रशान्तरसवाही हो जाती हैं।

(८) परादृष्टि[1]—यह योग की आठवी और अन्तिम दृष्टि है। यह परा नाम की योगदृष्टि समाधिनिष्ठ होती है। यहाँ अष्टांग योग का आठवाँ अग 'समाधि'[2] (चित्त का ध्येयाकार रूप मे परिणमन) सध जाता है। इसमें आसग दोष (किसी एक ही योगक्रिया में आसक्ति) नही रहता।

इस दृष्टि मे संस्थित योगी शुद्ध आत्मतत्त्व, आत्मस्वरूप जिस प्रकार अनुभूति मे आए वैसी प्रवृत्ति या आचरण में सहज रूप से गतिमान रहता है। उसके चित्त मे किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करने की इच्छा, कामना या वासना नही रहती है। उसका चित्त प्रवृत्ति से ऊपर उठा हुआ होता है।

इस दृष्टि मे स्थित साधक आचार अथवा कल्प मर्यादा से भी ऊपर उठा हुआ होता है। किसी भी प्रकार के परम्परागत आचरण के अनुसरण का वहाँ प्रयोजन भी नही रहता।

वह महान् योगी धर्मसंन्यास—शुद्ध दृष्टि से तात्त्विक आचरणमूलक, नैश्चयिक शुद्ध व्यवहारमय विशिष्ट योग—योगसंन्यास द्वारा अपने को कृत-कृत्य कर लेता है।

इसके उपरान्त वह योगी अयोग अवस्था प्राप्त करके मुक्त हो जाता है, मोक्ष स्थान में जा विराजता है।

इन आठ योगदृष्टियो के विवेचन से स्पष्ट है कि पातंजल योग वर्णित समस्त अष्टांगयोग (योग के आठो अंग) इन योगदृष्टियो मे समाहित हो जाते हैं।

जैन योग की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र द्वारा निरूपित ये योगदृष्टियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण है। इनमे जैन मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सार निहित है। विस्तृत अध्ययन के जिज्ञासु उनके ग्रन्थो का परिशीलन करें।

योगियों के भेद

आचार्य हरिभद्र ने चार प्रकार के योगी बताये हैं—(१) कुलयोगी, (२) गोत्रयोगी, (३) प्रवृत्तचक्रयोगी और (४) निष्पन्नयोगी।[3]

---

१ योगदृष्टिसमुच्चय १७८-१८६

२ तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि। —पातजल योगसूत्र ३/३

३ योगदृष्टिसमुच्चय २०८

(१) **कुलयोगी**[1]—जो योगियों के कुल मे जन्मे हैं, जो प्रकृति से योग-धर्मा है—योगमार्ग का अनुसरण करने वाले है, वे कुलयोगी[2] कहलाते है।

वे कुलयोगी किसी से भी द्वेष नही रखते, देव-गुरु-धर्म उन्हे स्वभाव से ही प्रिय होते है तथा ये दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध और जितेन्द्रिय होते है।

(२) **गोत्रयोगी**[3]—आर्य क्षेत्र के अन्तर्गत भारत भूमि में जन्म लेने वाले मनुष्य भूमि भव्य कहे जाते है, इन्हे गोत्रयोगी भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि भारत भूमि में योग साधना के अनुकूल साधन, निमित्त आदि सहज ही उपलब्ध होते रहे है। किन्तु केवल भूमि की भव्यता और साधनो की सुलभता से ही योग साधना नही सधती, वह तो साधक की अपनी भव्यता, योग्यता और सुपात्रता से ही सिद्ध होती है।

गोत्रयोगी मे ऐसी सुपात्रता नही होती। साधन सहज ही प्राप्त होने पर भी वह यम-नियम का पालन नही करता, उसकी प्रवृत्ति ससाराभिमुखी होती है। अतः ऐसे मनुष्य को योग का अधिकारी नही माना गया है।

(३) **प्रवृत्तचक्रयोगी**[4]—जिस प्रकार चक्र के किसी भाग पर डडा सटा कर घुमा देने से वह पूरा का पूरा घूमने लगता है, उसी प्रकार जिन मनुष्यो के किसी भी अग से योग चक्र का स्पर्श होते ही, वे योग में प्रवृत्त हो जाते हैं, उन्हे प्रवृत्तचक्रयोगी कहा जाता है।

---

१ योगदृष्टिसमुच्चय २१०,२११

२ वस्तुत कुलयोगी शब्द विशिष्ट अर्थ लिये हुए है। साधारणतया ऐसा देखने मे नही आता कि योगी का पुत्र भी योगी हो अथवा किसी की कुल परम्परा ही योगियो की रही हो। अत कुलयोगी शब्द को साधनानिष्ठ, योगपरायण पुरुषों की परम्परा से सम्बद्ध माना जाना चाहिए। ऐसे साधक जन्म, वशानुगति, वश परम्परा से भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं।

कुलयोगी शब्द से गुरु-शिष्य परम्परा का आशय भी लिया जा सकता है कि योगी गुरु का शिष्य भी योगी होता है। लोक मे गुरु को पिता कहा भी जाता है। यद्यपि गुरु शिष्य का जनक (जन्म देने वाला पिता) नही होता किन्तु शिष्य के जीवन का निर्माण करने वाला, उसे सुसस्कारी बनाने वाला गुरु ही होता है। इस अपेक्षा से भी कुलयोगी शब्द का आशय समझा जा सकता है।

३ योगदृष्टि समुच्चय २१०

४ योगदृष्टिसमुच्चय २१२

वे यम के चार भेदों[1] में से इच्छायम और प्रवृत्तियम को साध चुके होते हैं तथा स्थिरयम और सिद्धियम को साधने में प्रयत्नशील रहते हैं।

प्रवृत्तचक्रयोगी आठ गुणों से युक्त होता है। आठ गुण ये हैं—

(१) शुश्रूषा—सत् तत्त्व सुनने की तीव्र उत्कंठा।

(२) श्रवण—अर्थ का मनन-अनुसंधान करते हुए सावधानीपूर्वक तत्त्व सुनना।

(३) सुने हुए को ग्रहण करना—अधिगृहीत करना।

(४) धारण—ग्रहण किये हुए का संस्कार चित्त में जमाना।

(५) विज्ञान—अवधारण करने के उपरान्त उसका विशिष्ट ज्ञान (विज्ञान) करना, प्राप्त बोध का दृढ संस्कार जमाना।

(६) ईहा—चिन्तन, विमर्श, तर्क-वितर्क, शंका-समाधान करना।

(७) अपोह—तर्क-वितर्क, शंका-समाधान तथा चिन्तन मनन के उपरान्त बाधक अंश का निराकरण करना।

(८) तत्त्वाभिनिवेश—अन्तःकरण मे तत्त्व का निर्धारण करना।

प्रवृत्तचक्रयोगी को तीनो अवंचक[2] स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। तीन अवंचक ये हैं—(१) योगावचक (२) क्रियाऽवंचक और (३) फलावंचक।

जिसके दर्शन से कल्याण एव पुण्य की प्राप्ति होती है, ऐसे सद्गुरुओं का सुयोग योगावंचक है। उनका वंदन-सत्कार-सेवा आदि क्रियाऽवंचक है। इन समस्त शुभ क्रियाओ का फल जो अमोघ होता है, उसकी प्राप्ति फलावंचक है।[3]

इन तीनो अवचको मे सर्वप्रथम प्रवृत्त योगी योगावंचक प्राप्त करता है और फिर उसे शेष दोनो अवंचक भी प्राप्त हो जाते हैं।[4]

---

१ यमाश्चतुर्विधा इच्छाप्रवृत्तिस्थैर्यसिद्धय । —योगभेद द्वात्रिंशिका २५

२ अवचक का अभिप्राय सरलता (वचकतारहितता) है। जो कभी वचना—प्रवंचना न करे, उलटा तिरछा न जाय, कभी न चूके, बाण की तरह सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचे, उसे अवचक कहा गया है।

३ योगदृष्टिसमुच्चय ३४

४ आद्यावचकयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिन ।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विद ॥ —योगदृष्टिसमुच्चय २१३

प्रवृत्तचक्रयोगी अपनी आत्मा की उन्नति के लिए यम-नियमों का पालन करता है तथा राग-द्वेष पर विजय-प्राप्ति के सोपानो को एक के बाद एक पार करता जाता है।

(४) **निष्पन्नयोगी**—जिसका योग निष्पन्न हो चुका होता है अर्थात् पूर्ण हो गया होता है, वह निष्पन्नयोगी कहलाता है। ऐसा योगी सिद्धि के अति निकट होता है, इसलिए उसे धर्म-व्यापार की भी कोई जरूरत नही रहती। उसकी प्रवृत्ति सहज रूप में धर्ममय ही रहती है।

जैन योग और कुण्डलिनी

जहाँ तक कुण्डलिनी (The Primal Power or Serpent Power) का संबंध है, इसका उल्लेख प्राचीन जैन शास्त्रो मे नही मिलता। आगमों में तो इसकी चर्चा है ही नही, आचार्य हरिभद्र सूरि के योग ग्रन्थो मे भी इसका उल्लेख नही है, जब कि हठयोग और तंत्रयोग का यह मुख्य विषय रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र और शुभचन्द्राचार्य के ज्ञानार्णव में कुछ ऐसी यौगिक क्रियाओ और साधनाओ का वर्णन अवश्य प्राप्त होता है जिनका सम्बन्ध कुण्डलिनी से है।

कुण्डलिनी का सर्वप्रथम उल्लेख मत्रराजरहस्य[1] नामक ग्रथ में मिलता है। नमस्कार स्वाध्याय में कुण्डलिनी के नवचक्र[2] बताये गये है—(१) गुदा के मध्यभाग में आधार चक्र (२) लिग मूल के पास स्वाधिष्ठान चक्र, (३) नाभि के पास मणिपूर चक्र, (४) हृदय के पास अनाहत चक्र, (५) कण्ठ के पास विशुद्धि चक्र, (६) घण्टिका के पास ललना चक्र, (७) भ्रू चक्र के मध्य स्थित आज्ञा चक्र, (८) मूर्ध्वा—तालु रंध्र मे स्थित सहस्रार चक्र, (९) ब्रह्मरध्र अथवा ऊर्ध्व भाग में स्थित सुषुम्ना चक्र।

यद्यपि इन चक्रो का तथा कुण्डलिनी का उल्लेख परवर्ती जैन शास्त्रो में मिलता अवश्य है किन्तु ऐसा मालूम होता है कि कुण्डलिनी का जैन योग मे कोई विशेष महत्व नही रहा। उसका कारण यह है कि जैन योग का

---

१ यह ग्रथ वि० स० १३३३ मे रचा गया है।—देखिए—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पृष्ठ ३१०

२ गुदमध्य लिगमूले नाभौ हृदि कण्ठघटिका भाले।
मूर्धन्यमूर्ध्वे नवषटक (चक्र) ठान्ता पंच भाले युता ॥
—नमस्कार स्वाध्याय (सस्कृत) पृ० १२१

लक्ष्य साधना में चमत्कार या प्रभाव पैदा करना नही होकर कर्म-मुक्तदशा को प्राप्त करना है। यहाँ साधना की चरम परिणति मोक्ष है।

प्राचीन जैन योग प्रक्रिया का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट कह सकते है कि 'कुण्डलिनी योग', जैन योग मे 'तेजोलेश्या'[1] के नाम से व्यवहृत हुआ है। क्योकि जैसा स्वरूप जैन आगमो मे तेजोलेश्या का बताया गया है, वैसा ही स्वरूप कुण्डलिनी शक्ति का हठयोग के ग्रन्थो मे है।

जैन आगमो मे भगवान महावीर के जीवन का एक प्रसग वर्णित है।

गोशालक ने भगवान महावीर से पूछा—भगवन् ! तेजोलेश्या की उपलब्धि कैसे हो सकती है ?

भगवान महावीर ने बताया—जो साधक निरन्तर दो-दो उपवास करता है, पारणे के दिन मुट्ठी भर उडद खाता है और चुल्लू भर जल पीता है तथा भुजा ऊपर उठाकर सूर्य की आतापना लेता है, उसे छह महीने मे तेजोलेश्या की प्राप्ति हो जाती है।[2]

तेजोलेश्या की प्राप्ति के दो साधन है—(१) जल और अन्न को अति सीमित मात्रा लेकर तपस्या करना तथा (२) सूर्य की आतापना लेना—सूर्य से शक्ति ग्रहण करना।

वस्तुतः तेजोलेश्या का स्थान तैजस् शरीर है। हठयोग विशारदो ने भी कुण्डलिनी का स्थान सूक्ष्म शरीर (Etheric body) माना है।

जिस प्रकार तेजोलेश्या-सिद्ध योगी मे अनुग्रह और निग्रह की शक्ति होती है, शाप और वरदान की असीम सामर्थ्य होती है वैसी कुण्डलिनी-सिद्ध योगी मे भी होती है। तेजोलेश्या भी प्रचण्डशक्ति है और कुण्डलिनी-शक्ति भी ऐसी ही है। तेजोलेश्या योगी के शरीर से निकलती है तो सूर्य का सा तीव्र प्रकाश और अग्नि-सी दाह उत्पन्न करती है, वैसा ही प्रभाव कुण्डलिनी शक्ति का है—योगी कोटि सूर्यप्रभा के समान प्रकाश देखता है।

तेजोलेश्या का एक दूसरा रूप भी है, वह है शीतल-लेश्या। जैन परम्परा के अनुसार वह उसी योगी को प्राप्त होती है जिसकी वासनाएँ (कषाय) क्षीण हो चुकी है। इसका प्रभाव शीतलतादायक होता है।

हठयोग के ग्रन्थो के अनुसार भी जब वासना-मुक्त (passion proof) योगी की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर सहस्रार चक्र मे पहुँचती है और

---

१ तेजोलेश्या का अभिप्राय यहाँ तेजोलब्धि है। —सम्पादक

२ भगवती सूत्र, शतक १५, सूत्र ७६ (अंगसुत्ताणि)।

शिव से उसका मिलन होता है तो वहाँ स्थित चन्द्र (शिवजी के मस्तक पर तथा सोमचक्र में चन्द्रमा स्थित माना गया है) से अमृत पाकर योगी को अनिर्वचनीय शीतलता और आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है जैन योग में वर्णित तेजोलेश्या, हठयोग-तन्त्रयोग आदि में कुण्डलिनी शक्ति के नाम से वर्णित हुई है।

कुण्डलिनी का हठयोग मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे उपनिषदो में 'नचिकेत अग्नि' कहा गया है। चैनिक योग दीपिका में इसे श्री I' lohin द्वारा spirit fire (आत्मिक अग्नि) कहा गया है। मैडम ब्लेवेट्स्की ने इसकी गति ३४५००० मील प्रति सैकिण्ड बताई है।

इसके बारे मे हठयोग के ग्रन्थो में अनेक प्रकार की सावधानियाँ रखने का निर्देश है, उनमें प्रमुख है कि जब तक साधक की वासना का क्षय न हो जाय, वह passion-proof न हो जाय तब तक कुण्डलिनी को जगाने का प्रयत्न उसे नही करना चाहिए, अन्यथा कुण्डलिनी शक्ति नीचे की ओर प्रवाहित होकर वासनाओ और कषायो के आवेग के अत्यधिक बढ़ा सकती है। यही बात योगविद्या (हठयोग) विशारद श्री हडसन (Hudson) ने अपनी पुस्तक Science of Seership मे कही है—

Note that the actual arising of the tremendous force of Kundalini may only be safely attempted under the expert guidance of a Master of occult science—otherwise Kundalini may act downwards and intensify both the desire-nature and activity of sexual organs.

यही कारण है कि प्राचीन जैन योग (आगम साहित्य तथा ईसा की दशवी शताब्दी तक रचे गये जैन साहित्य) मे कुण्डलिनी की कोई चर्चा प्राप्त नही होती। वास्तव मे जैन योगियो ने कुण्डलिनी जागरण को अपना लक्ष्य कभी नही बनाया।

इसका कारण यह है कि कुण्डलिनी-शक्ति की जागरणा अधिकांश योगी भौतिक शक्तियो के प्रदर्शन, यश आदि की प्राप्ति के लिए करते है, जैसा कि गोशालक ने किया था। यह भी सर्वविदित है कि हठयोग, वामकौल तन्त्रयोग के कारण ही बंगाल मे कितना व्यभिचार और भ्रष्टाचार फैला था।

तब दूरदर्शी और भूत-भविष्य के ज्ञाता जैन योगी, चिन्तक तथा

मनीषी कुण्डलिनी जागरण जैसी दुष्परिणामकारी (दुष्परिणामकारी इसलिए कि जिन साधकों की वासनाएँ क्षय नही हुई है, वे इस महाशक्ति का दुरुपयोग अपनी वासना तृप्ति और स्वार्थ सिद्धि के लिए करते है) शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न कैसे करते ? यद्यपि उन्हे तेजोलेश्या शक्ति के रूप मे कुण्डलिनी योग पूर्णतया ज्ञात था ।

आध्यात्मिक दृष्टि से जैन योग के भेद

आध्यात्मिक दृष्टि से योग के बीज तथा विचार प्राचीन जैन आगमो मे यत्र-तत्र प्राप्त होते है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने ग्रन्थ योगबिन्दु में आध्यात्मिक योग का बहुत ही सुन्दर तरीके से क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत किया है। वहाँ उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के अन्तरग साधन को धर्म-व्यापार कहा है तथा उस धर्म-व्यापार को योग बतला कर उसके पाँच भेद किये हैं—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसंक्षय ।[1] पातंजलयोग के संप्रज्ञात और असप्रज्ञात नाम के दो योग इन्ही पाँच भेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

(१) अध्यात्मयोग

जैन आगमो[2] में मोक्षाभिलाषी आत्मा को अध्यात्मयोगी बनने की—योग से युक्त होने की प्रेरणा बार-बार दी गई है। इसका कारण यह है कि चारित्र-शुद्धि के लिए मुमुक्षु आत्मा को अध्यात्मयोग अनुष्ठान की नितान्त आवश्यकता होती है। यही कारण है कि आचार्य ने सर्वप्रथम अध्यात्मयोग का निर्देश मुमुक्षु साधक को दिया है।

अध्यात्मयोग का लक्षण बताते हुए आचार्य ने कहा है—

उचित प्रवृत्ति से अणुव्रत-महाव्रत से युक्त होकर चारित्र का पालन करने के साथ-साथ मैत्री आदि भावनापूर्वक आगम वचनों के अनुसार तत्त्व-चिन्तन करना, अध्यात्मयोग है ।[3]

---

१ अध्यात्म भावना ध्यानं, समता वृत्तिसक्षय ।
मोक्षेण योजनाद् योग , एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ —योगबिन्दु ३१

२ (क) अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवदिट्ठिए ठिअप्पा । —सूत्रकृताग १/१६/३
(ख) अज्झप्पज्झाणजुत्ते (अध्यात्मध्यान युक्त) —प्रश्नव्याकरण ३, सवरद्वार
व्याख्याकार ने इस सूत्र की व्याख्या की है—
अध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मालवन ध्यान चित्तनिरोधस्तेन युक्त ।

३ औचित्यादवृत्तयुक्तस्य, वचनात् तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिभावसयुक्तमध्यात्मं तद्विदो विदु ॥ —योगबिन्दु ३५८

यहाँ अध्यात्मयोग के तत्त्वचिन्तनरूप लक्षण मे दिये गये चार विशेषण—(१) औचित्य (सम्यग्बोधपूर्वक), (२) वृतसमवेतत्व, (३) आगमानुसारित्व और (४) मैत्री आदि भावना संयुक्तत्व, बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन पर विचार करने से अध्यात्म का वास्तविक रहस्य भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

मैत्री आदि चार भावनाओ से भावित पुरुष अध्यात्मयोग की भावना को और भी अधिक दृढ करता है।

(१) मैत्री भावना द्वारा वह अपने से अधिक सुखी व्यक्तियो के प्रति ईर्ष्या भाव का त्याग करता है।

(२) करुणा भावना से वह दीन-दुःखी प्राणियो के प्रति उपेक्षा नही करता, वरन् उनको यथाशक्ति सहयोग देकर उनके कष्ट को मिटाने का प्रयास करता है, उनके साथ सहानुभूति रखता है।

(३) मुदिता अथवा प्रमोद भावना से उसका पुण्यशाली जीवो से द्वेष हट जाता है तथा गुणियो के प्रति उसके प्रशंसा भाव जागते हैं, बह गुणानुरागी बनता है, गुण ग्रहण करता है।

(४) उपेक्षा अथवा माध्यस्थ्य भावना द्वारा वह पापी, दुष्ट, दुराग्रही जीवो पर से राग-द्वेष हटा लेता है।

इन चार भावनाओं के अनुशीलन से अध्यात्मयोगी साधक की आत्मा में ईर्ष्या का नाश, दया का संचार, गुणानुराग तथा राग-द्वेष को निवृत्ति सम्पन्न होती है और वह अध्यात्मयोग का सम्यक् प्रकार से आचरण करने मे सक्षम बनता है।

इस प्रकार अध्यात्मयोग[1] के स्वरूप को समझकर जो व्यक्ति उसे आत्मसात् कर लेता है, उसके पापो का नाश, वीर्य का उत्कर्ष, चित्त की प्रसन्नता, वस्तुतत्त्व का बोध तथा आत्मानुभवरूप अमृत की प्राप्ति होती है।[2]

यह अध्यात्मयोग की फलश्रुति है।

---

१ (क) सुखीर्ष्या दुखितोपेक्षा पुण्यद्वेषमधर्मिषु।
रागद्वेषौ त्यजेन्नेता लब्ध्वाऽध्यात्म समाचरेत् ॥७॥ —योगभेदद्वात्रिंशिका

(ख) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणाभावनातश्चित्त प्रसादन।
—पातजल योगसूत्र १/३६

२ अत. पापक्षय सत्वं शील ज्ञान च शाश्वतम्।
तथानुभवससिद्धममृत ह्यदि एव तु ॥
—योगबिन्दु ३५९, तथा योगभेदद्वात्रिंशिका ८

(२) भावनायोग

भावना योग का माहात्म्य आगमों में भी वताया गया है। सूत्रकृताग सूत्र मे कहा गया है—जिस साधक की आत्मा भावनायोग से शुद्ध हो गई है, वह साधक जल मे नौका (नाव) के समान है; और जिस प्रकार नाव को तट पर विश्राम प्राप्त होता है उसी प्रकार उस साधक को भी सभी प्रकार के दुःखो एव कष्टो से छुटकारा प्राप्त हो जाता है तथा उसे परम शान्ति का का लाभ होता है।[1]

भावनायोग का लक्षण बताते हुए कहा गया है—प्राप्त हुए अध्यात्म-योग का बुद्धिसगत (विचारपूर्वक) बार-बार अभ्यास करना, चिन्तन करना—भावनायोग है।[2]

यह निश्चित है कि समझे हुए पदार्थ का जब बार-बार चिन्तन किया जाता है तभी वह मन-मस्तिष्क मे स्थिर रह सकता है। इसी प्रकार अध्यात्म-तत्त्व को भी हृदय में स्थिर रखने के लिए भावनाओ का चिन्तन अति आव-श्यक है। वस्तुत अध्यात्मयोग का बहुत कुछ तत्त्व भावनायोग पर ही निर्भर है।

जैन आगमो मे मोक्ष-प्राप्ति के चार मार्ग बताये गये है—दान, शील, तप और भाव। इन सब मे भी भाव ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भाव के बिना दान, शील और तप भी कार्यकारी नही हो पाते। सब क्रियाएँ फलहीन रह जाती है।

पतजलि ने भी समाधि-प्राप्ति के साधन रूप उपादेय अभ्यास[3] के बारे मे भी यही बात कही है।

भावना के लिए आगमो मे अणुवेक्खा (अनुप्रेक्षा) शब्द भी व्यवहृत हुआ है, जिसका अर्थ है बार-बार देखना—चिन्तन-मनन और अभ्यास करना।

अध्यात्मयोगी के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वैराग्य—ये पाँच विषय भावना के है। इन विषयो की भावना करने से वैभाविक संस्कारो (कर्मजन्य उपाधियो) का विलय, अध्यात्म तत्त्व की स्थिरता और आत्मगुणो का उत्कर्ष होता है।

---

१ भावणाजोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
णावा व तीर सम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई ॥ —सूत्रकृताग १/१५/५

२ अभ्यासो बुद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसगत । —योगभेदद्वात्रिंशिका ९

३ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि । —पातजल योगसूत्र १/१४

भावनायोग के सन्दर्भ में बारह भावनाओं का भी वर्णन जैन शास्त्रों में प्राप्त होता है। वे बारह भावना है—

(१) **अनित्य भावना**—इसमें जीवन की क्षणभंगुरता—अनित्यता का चिन्तन किया जाता है।

(२) **अशरण भावना**—इस भावना में साधक यह चिन्तन करता है कि संसार में धर्म के सिवाय अन्य कोई भी व्यक्ति या वस्तु प्राणी के लिए शरणभूत नही है।

(३) **संसार भावना**—इसमें संसार की स्थिति और उसके दुःखमय स्वरूप का चिन्तन साधक करता है।

(४) **एकत्व भावना**—इस भावना द्वारा साधक यह चिन्तन करता है कि वह अकेला ही जन्म ग्रहण करता है और अकेला ही मरता है, उसका कोई साथी नही है।

इस भावना का आधार है—**तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि!** हे आत्मन्! तुम्ही तुम्हारे मित्र हो, बाहर के किस मित्र को इच्छा करते हो, अर्थात् किसी भी मित्र या साथी की इच्छा मत करो।

(५) **अन्यत्व भावना**—यह भावना साधक के हृदय में भेद-विज्ञान जगाने वाली है। साधक यह चिन्तन करता है कि वह सबसे अलग है, जहाँ शरीर भी अपना नही, वहाँ अन्य परिजन स्त्री-पुत्र-धन आदि अपने कैसे हो सकते है।

(६) **अशुचि भावना**—इस भावना में साधक शरीर की अशुचिता का चिन्तन करता है। इसके परिणामस्वरूप उसका अपने शरीर पर से ममत्व-भाव छूट जाता है।

(७) **आस्रव भावना**—इस भावना द्वारा साधक कर्मों के आस्रव का चिन्तन करता है, फलस्वरूप वह कर्मास्रव को रोकने के लिए प्रयत्नशील होता है।

(८) **संवर भावना**—इस भावना द्वारा साधक कर्मों के आस्रव को रोकता है।

(९) **निर्जरा भावना**—साधक इस भावना द्वारा अपने पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करता है, उनका क्षय अथवा नाश करता है।

(१०) **लोक भावना**—इस भावना द्वारा साधक चिन्तन करता है कि मेरा आत्मा अनादि काल से इस लोक में भ्रमण कर रहा है, अब मुझे ऐसा

प्रयास करना चाहिए जिससे मेरा भवभ्रमण समाप्त हो जाय। वह अपनी आत्मा के भवभ्रमण को रोकने के लिए प्रयत्नशील होता है।

(११) बोधिदुर्लभ भावना—इस भावना का हार्द सम्यक्ज्ञान, आत्म-ज्ञान की प्रतिष्ठा करना है। साधक यथार्थ ज्ञान का बार-बार अनुचिन्तन करता है।

(१२) धर्म भावना—इस भावना द्वारा साधक धर्म के स्वरूप, उसके फल तथा माहात्म्य आदि के बारे मे चिन्तन करके धर्म पर दृढ़ होता है।

इन भावनाओ के बार-बार चिन्तन-मनन और अभ्यास से साधक का अध्यात्मयोग दृढ से दृढतर हो जाता है।[1]

इन बारह भावनाओ मे से अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व और लोक—ये पाँच भावनाएँ धर्मध्यान में परिगणित की गई है तथा अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर निर्जरा, बोधिदुर्लभ और धर्म—ये सात भावनाएँ शुक्लध्यान के अन्तर्गत परिगणित की गई है। इन भावनाओ के सतत चिन्तन से साधक को धर्मध्यान-शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है।

३ ध्यानयोग

ध्यान का वर्णन जैन आगमो मे अनेक स्थलो पर हुआ है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र मे ध्यान का लक्षण देते हुए कहा है—

स्थिर दीपशिखा के समान निश्चल—निष्कम्प तथा अन्य विषय के संचार से रहित केवल एक ही विषय का धारावाही प्रशस्त सूक्ष्म बोध जिसमे हो, उसे ध्यान कहते है।[2]

इसी का अनुसरण करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है—

शुभ प्रतीको के आलम्बन पर चित्त का स्थिरीकरण—ध्यान कहा जाता है। वह ध्यान दीपक की लौ के समान ज्योतिर्मान तथा सूक्ष्म और अन्त प्रविष्ट चिन्तन से समायुक्त होता है।[3]

---

१ भावनाओ के विस्तृत वर्णन के लिए 'भावना योग' (आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज) पुस्तक देखें।

२ निव्वायस रयणप्पदीपज्झाणमिव निप्पकम्पे। —प्रश्नव्याकरण, सवर द्वार ५

३ शुभैकालम्वन चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिण:।
स्थिर प्रदीपसदृश सूक्ष्माभोगसमन्वितम्॥ —योगबिन्दु ३६२

श्री शीलांकाचार्य ने 'झाणजोगं समाहट्टु'[1] इस गाथा की टीका करते हुए चित्तनिरोध लक्षण धर्मध्यानादि में मन-वचन-काया के विशिष्ट व्यापार को ही ध्यान योग कहा है।[2]

तत्त्वार्थ सूत्र मे बताया गया है—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एक ही विषय पर चित्त की सर्वथा एकाग्रता अर्थात् ध्येय विषय मे एकाकार वृत्ति का प्रवाहित होना ध्यान है।[3]

यही बात पतंजलि ने अपने योगसूत्र में कही है—जहाँ चित्त को लगाया जाय, उसी में वृत्ति का एक तार चलना ध्यान है।[4]

वस्तुतः ध्येय में चित्त का एकाकार हो जाना ही ध्यान है। इस ध्यान-योग में साधक की ध्येयवस्तुगत एकाग्रता इतनी बढ जाती है कि उसको (साधक को) उस समय ध्येय के अतिरिक्त अन्य का किसी भी वस्तु का विचार भी नही आता। जिस आत्मा में यह ध्यानरूप योगाग्नि प्रज्वलित होती है उसका कर्मरूप मल (जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपका हुआ है) भस्म हो जाता है।[5] उसके प्रकाश से रागादि का अन्धकार विनष्ट हो जाता है, चित्त सर्वथा निर्मल हो जाता है तथा मोक्ष मन्दिर का द्वार दिखाई देने लगता है।

ध्यानयोग आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रबलतम साधन है तथा आत्म-स्वातन्त्र्य, परिणामो की निश्चलता और जन्मान्तर से आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मों का विच्छेद—यह तीनो ध्यान-योग के फल हैं।

४. समतायोग

समतायोग ध्यान मे अत्यधिक उपयोगी होता है। अविद्या (मोह—

---

१ 'झाणजोगं समाहट्टु' की पूरी गाथा इस प्रकार है—

झाणजोगं समाहट्टु कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं नच्चा आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥ —सूत्रकृतांग १/८/२६

२ ध्यानम्—चित्तनिरोध लक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगम्।

३ ...एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। —तत्त्वार्थसूत्र ९/२७

४ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —पातञ्जल योगसूत्र ३/२

५ सज्झायसुज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जंसि मलं पुरे कडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥
—दशवैकालिक, ८/६३

मूढता) द्वारा कल्पित इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में विवेकपूर्वक तत्त्व निर्णय-बुद्धि से राग-द्वेष रहित होना अर्थात् पदार्थों मे की जाने वाली इष्ट-अनिष्ट की कल्पना को केवल अविद्या का प्रभाव समझकर उनमे उपेक्षा धारण करना समता है।[1] उसमें निविष्ट मन-वचन-काया के व्यापार का नाम समता-योग है।

वस्तुतः ससार का कोई भी पदार्थ न इष्टरूप है और न अनिष्टरूप, यह संसार तो अहेयोपादेय—न ग्रहण करने योग्य और न छोडने योग्य है। इसमे और इसके सभी पदार्थों मे जो जीव को हर्ष-शोक आदि की अनुभूति होती है, वह सब मोह का प्रभाव है, विभाव संस्कार हैं। ये सस्कार न तो आत्मा के गुण है और न ही आत्मा का इनके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध ही है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है। इस प्रकार के विवेक-ज्ञान से आत्मा मे विचार-वैषम्य का नाश और समभाव का परिणमन होने लगता है। इस सत् परिणाम द्वारा किये जाने वाले तत्त्व-चिन्तन का नाम ही समतायोग है। समत्व (राग-द्वेषरहितता) आत्मा का निज गुण है।

ध्यान और समता परस्पर सापेक्ष है। ध्यान के बिना समता की प्राप्ति नही हो सकती और समताभाव का प्रादुर्भाव हुए बिना ध्यान की सिद्धि नही हो सकती। ध्यानयोग के साधक को समतायोग अनिवार्य है और समतायोग के साधक को ध्यानयोग की आवश्यकता होती है। क्योंकि ध्यान मे प्राप्त चित्त की एकाग्रता समतायोग के अभाव में स्थिर नही रह सकती।

---

१ अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
सज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते ॥ —योगबिन्दु ३६४

इसीलिए आगमो मे साधु को आदेश दिया गया है कि वह जगत् के समस्त प्राणियो को समभाव से देखे और राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी भी प्राणी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे। यथा—

(क) सव्वं जग तु समयाणुपेही पियमप्पिय कस्सवि णो करेज्जा।
—सूयगडग १/१०/७

तथा—

(ख) पण्णसमत्ते सया जये, समताधम्ममुदाहरे मुणी। —सूयगडग १/२/२/६

अर्थात्—बुद्धिमान साधु (कषायो को) सदा जीते और समताधर्म का उपदेश दे।

समतायोग से सूक्ष्म कर्मों का अर्थात् विशिष्ट चारित्र—यथाख्यात चारित्र और केवल उपयोग (केवलज्ञान-दर्शन) को आवृत करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्मों का नाश तथा अपेक्षा-तन्तु का छेद हो हो जाता है। अपेक्षा-तन्तु (आशा-डोर) का विच्छेद हो जाने का तात्पर्य यह है कि समतायोगी को किसी भी प्रकार के सांसारिक सुखो की अपेक्षा—इच्छा नही रहती। इसीलिए वह प्राप्त लब्धियो का उपयोग भी नही करता, क्योंकि उसे यश-कामना भी नही रहती।

(१) लब्धियो मे अप्रवृत्ति, (२) सूक्ष्म कर्मों (ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि कर्म) का क्षय और (३) अपेक्षातन्तु का विच्छेद—ये तीन समतायोग के विशिष्ट फल है, जिनके आस्वादन से आत्मा को अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

५. वृत्तिसंक्षययोग

वृत्तिसंक्षययोग आध्यात्मिक योग का अन्तिम सोपान है। इसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है—

आत्मा में मन और शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृत्तियो का अपुनर्भावरूप से जो निरोध—आत्यन्तिक क्षय—समूल नाश होता है, उसका नाम वृत्तिसंक्षययोग है।[1]

आत्मा स्वभाव से निस्तरंग सागर के समान निश्चल है। जैसे वायु के सम्पर्क से उसमें तरंगें उठती है, उसी प्रकार आत्मा मे भी मन और शरीर के संयोग से संकल्प-विकल्प तथा अनेक प्रकार की चेष्टारूप वृत्तियाँ उठती रहती है। इनमें विकल्परूप वृत्तियाँ मनोद्रव्य के संयोग से उत्पन्न होती है और चेष्टारूप वृत्तियाँ शरीर-सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। इन विकल्प और चेष्टारूप वृत्तियो का समूल नाश ही वृत्तिसंक्षययोग है।[2]

यह वृत्तिसंक्षय नाम का योग आत्मा को कैवल्य (केवलज्ञान-दर्शन) की प्राप्ति के समय तथा निर्वाण प्राप्ति के समय प्राप्त होता है। यद्यपि वृत्ति-

---

१ (क) अन्यसयोगवृत्तीना, यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्सक्षयो मत ॥ —योगबिन्दु ३६६

(ख) विकल्पस्पन्दरूपाणां, वृत्तीनामन्यजन्मनाम्।
अपुनर्भावतो रोध प्रोच्यते वृत्तिसक्षय ॥
—उपाध्याय यशोविजयकृत योगभेदद्वात्रिंशिका २५

२ योगबिन्दु व्याख्या श्लोक ४३१।

निरोध अन्य ध्यान आदि की अवस्था मे भी आत्मा प्राप्त करता है, किन्तु वह आंशिक होता है; सम्पूर्ण वृत्ति-क्षय इसी योग मे प्राप्त होता है।

कैवल्य अवस्था में भी तेरहवें गुणस्थान (सयोगकेवली दशा) मे विकल्परूप वृत्तियों का समूल नाश हो जाता है और चौदहवें गुणस्थान (अयोगकेवली दशा) मे चेष्टारूप वृत्तियो का आत्यन्तिक क्षय होता है।

इस प्रकार वृत्तिसंक्षययोग के कैवल्य प्राप्ति, शैलेशीकरण[1] और मोक्ष लाभ—ये तीन फल है।

महर्षि पतजलि द्वारा वर्णित सम्प्रज्ञातयोग—जिसमें राजस एवं तामस वृत्तियों का सर्वथा निरोध होकर केवल सत्त्वप्रधान प्रज्ञा-प्रकर्षरूप वृत्ति का उदय होता है, इन चार भेदों (अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता) में सन्निहित है तथा असंप्रज्ञातयोग समाधि—जिसमें सम्पूर्ण वृत्तियों का क्षय होने पर आत्मानुभवरूप समाधि प्राप्त होती है—वृत्तिसंक्षययोग के अन्तर्गत आ जाती है।

इस प्रकार आध्यात्मिक योग द्वारा साधक शनैः शनैः आत्मोत्क्रान्ति करता हुआ मोक्ष अथवा निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है, चरम लक्ष्य उसे प्राप्त हो जाता है।

आध्यात्मिक योग के अतिरिक्त जैनधर्म-दर्शन में 'तपोयोग'[2] का भी विशिष्ट स्थान है। साधक अपनी कषायो (क्रोध, मान, माया, लोभ आदि), वासनाओ और कर्मों को क्षय करने के लिए तथा मन एव इन्द्रियों को वश में रखने के लिए विभिन्न प्रकार के तप करता है।

जैन धर्म मे तप का उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। विभिन्न प्रकार के तपों से कर्मों का क्षय होकर आत्मा की निर्मलता उत्तरोत्तर बढती जाती है और धीरे-धीरे पूर्ण निर्मलता की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

जैन धर्म मे योग के बीज प्राचीनतम आगमो मे प्राप्त होते हैं। यद्यपि कहा जा सकता है कि वहाँ योग का विशद विवेचन नही है। यह कुछ अंशो में

---

१ शैलेशो मेरुस्तस्येव स्थिरता सम्पाद्यावस्था सा शैलेशी।

—अभयदेवसूरि—औपपातिक सूत्र सिद्धाधिकार

अर्थात्—योगों—मन-वचन-काया के व्यापारो के निरोध से मेरु के समान प्राप्त होने वाली पूर्ण स्थिरता, शैलेशीकरण है।

२ तपोयोग का विशद वर्णन 'तपोयोग' नामक अध्याय मे किया गया है।

—सम्पादक

सत्य भी है। किन्तु योग के स्वरूप का निर्धारण तो बीज रूप में वहाँ हो ही चुका था। जैसा कि पिछले पृष्ठों के विवेचन से स्पष्ट है कि पातंजल योग-सूत्र भी जैन आगमो मे उल्लिखित योग सम्बन्धी वर्णन से काफी साम्य रखता है। इन योग-बीजो को ही बाद के जैन आचार्यों ने पल्लवित और विकसित किया है। जैन योग के स्पष्ट स्वरूप निर्धारण का श्रेय आचार्य हरिभद्र सूरि को है। इन्होने अपने योगविषयक ग्रन्थो में योग दृष्टियो, आध्यात्मिकयोग, इच्छायोग, सामर्थ्ययोग, शास्त्रयोग आदि योग के अनेक प्रकारो का विस्तृत और सारगर्भित विवेचन करके जैन योग को, अन्य प्रचलित योगों से विशिष्टता प्रदान की।

योग का महत्त्व

योग का महत्त्व जिस प्रकार योगदर्शन तथा भारत के अन्य दर्शनो—यथा वेदान्त आदि तथा गीता, उपनिषद्, पुराण आदि साहित्य मे स्वीकार गया हैं, उसी प्रकार जैन आचार्यों ने भी योग का महत्त्व स्वीकार किया है। इसे लौकिक और पारलौकिक तथा शारीरिक और आत्मिक उन्नति का प्रबल हेतु माना है। मन और इन्द्रियो की चंचलता को मिटाने तथा उन्हे वश मे रखने के लिए भी योग की उपयोगिता स्वीकार की गई है। वस्तुतः योग से चित्त की एकाग्रता सधती है और उससे ध्येय अथवा लक्ष्य मे सफलता प्राप्त होती है।

योग मानव-जीवन के लिए अत्यन्त ही उपकारी है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने इसकी प्रशंसा की है तथा इसका महत्त्व इन शब्दो में बताया है—

> योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः पर।
> योग. प्रधानं धर्माणां योग· सिद्धे स्वयं ग्रह ॥३७॥
> कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा।
> योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥३९॥
> अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः।
> गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥४०॥ —योगविन्दु

अर्थात्—योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है—यह कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि के समान साधक की समस्त इच्छाओ को पूर्ण करता है। योग सभी धर्मों में प्रमुख है तथा सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का अनन्य हेतु है।

योगरूपी कवच से जब चित्त (हृदय) आवृत (अच्छी प्रकार से सभी ओर से ढका हुआ) होता है तो काम (कामदेव) के जो तीक्ष्ण शस्त्र तप को

भी छिन्न-भिन्न कर देते हैं, वे योगाभ्यासी साधक में हस्तगत शक्तिवृन्द तथा निष्प्रभावी हो जाते हैं। भाव यह है कि योगी कामविजेता बन जाता है।

यथाविधि सुने हुए—आत्मसात् किये हुए 'योग' शब्द दो अक्षर भी सुनने वाले के पापों का नाश कर देते हैं।

योग का महत्त्व इन शब्दों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

मोक्ष अथवा निर्वाण प्राप्ति के जितने भी साधन अथवा उपाय भारत के सभी मोक्षवादी दर्शनों ने प्रस्तुत किये हैं, उनमें योग सबसे सरल और प्रबल साधन है। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं होगी कि चाहे ज्ञानमार्ग हो या भक्तिमार्ग अथवा कर्ममार्ग—सभी को मोक्ष-प्राप्ति के लिए योग की अतीव आवश्यकता होती है, मुक्ति के लिए योग एक प्रकार से अनिवार्य है। इसीलिए भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि शब्दों का प्रचलन हो गया।

भारत के परम मेधावी ऋषि-मुनियों ने स्वात्मानुभूति के लिए अपेक्षित प्रज्ञाप्रकर्ष अथवा अन्तर्दृष्टि के सर्वतोभावी उन्मेष के विकास के लिए अपेक्षित बल का इसी योग-साधना के द्वारा उपार्जन किया था।

वस्तुतः योग का ही दूसरा नाम अध्यात्म-मार्ग अथवा अध्यात्म-विद्या है। अध्यात्म-विद्या ही जैन धर्म में आध्यात्मिक योग के नाम से अभिहित हुई; और इस योग को मुक्ति-प्राप्ति का सफल उपाय बताया गया।

योग का महत्त्व इसी बात से परिलक्षित होता है कि सभी दर्शनों ने अपने नाम के साथ योग शब्द जोड़ लिया।

इसका महत्त्व एवं उपयोगिता असंदिग्ध है।

जैन योग का स्वरूप भी इसकी उपयोगिता पर आधारित है। इसी दृष्टि से अनेक प्रकार के योग आगमों में वर्णित किये गये हैं, जिनमें प्रथम मन-वचन-काय के व्यापार के अर्थ में तथा दूसरे संयम के अर्थ में 'योग' शब्द का उपयोग प्रमुख है। मन-वचन-काय के व्यापार का निरोध तथा संयम का पालन यही जैन योग का संक्षेप में स्वरूप है। इसी को विभिन्न प्रकार के योगो के नाम से कहा गया है। □□

७ योगजन्य लब्धियाँ

योगी साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, तप आदि की साधना द्वारा योग की सिद्धि करता है, मोक्ष प्राप्ति का उपक्रम करता है। इस साधना द्वारा वह चिरकाल के संचित कर्मों का क्षय कर देता है।[1] यही उसका अभीष्ट लक्ष्य होता है।

किन्तु इस कर्म-क्षय की आन्तरिक साधना के प्रभाव बाह्य भी होते है। योगी में अनेक विशिष्ट शक्तियाँ जाग्रत हो जाती है। ये विशिष्ट शक्तियाँ सामान्य जन के लिए दुर्लभ होती हैं इसलिए चमत्कारी प्रतीत होती है। अतः जन-साधारण इनकी ओर सरलता से आकृष्ट और प्रभावित हो जाता है।

इन विशिष्ट शक्तियो को जैन आगम (श्वेताम्बर ग्रन्थो) में लब्धि[2] कहा गया है और दिगम्बर ग्रन्थो में ऋद्धि। पातंजल योगदर्शन में इन्ही को विभूति[3] कहा गया है और वैदिक पुराणो में सिद्धि[4]।

ये लब्धियाँ अलौकिक (मानसिक) शक्तियो से सम्पन्न और सामान्य मानवो को चकित करने वाली होती है। साधक इन लब्धियों द्वारा असम्भव कार्यो को भी सहज रूप से करने मे सक्षम हो जाता है। ये सभी लब्धियाँ साधक को योग साधना के कारण प्राप्त होती है और योग साधना भारत की तीनो परम्पराओ—जैन, वैदिक और बौद्ध में मान्य है। अतः यौगिक लब्धियों का वर्णन जैन, बौद्ध, वैदिक तीनो परम्पराओ में प्राप्त होता है।

वैदिक योग मे लब्धियाँ

वैदिक धर्म परम्परा में आध्यात्मिक ज्ञान और अध्यात्म साधना मे उपनिषदो का महत्त्व सर्वोपरि है। श्वेताश्वतर उपनिषद मे उल्लेख है कि

---

१ क्षिणोति योग पापानि, चिरकालार्जितान्यति।
प्रचितानि यथैधासि, क्षणादेवाशुशुक्षणि ॥ —योगशास्त्र १/७

२ गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धि । —आव० मल० १ अ०

३ पातजल योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र ३

४ श्रीमद्भागवत् पुराण ११/१५/१

लब्धियो से नीरोगता, जरा-मरण का अभाव, शरीर का हल्कापन, आरोग्य, विषय-निवृत्ति, शरीर-कान्ति, स्वर-माधुर्य, मल-मूत्र की अल्पता आदि योग-प्रवृत्ति से उपलब्ध होती है।[1]

श्रीमद्भगवद् गीता में तो गीताकार ने एक पूरे अध्याय मे ही विभूतियो का वर्णन किया है।[2]

हठयोग के ग्रन्थों मे भी अनेक प्रकार की सिद्धियो का वर्णन है।

पौराणिक साहित्य में सिद्धियो के १८ प्रकार बताये है।[3] इनमें से (१) अणिमा, (२) महिमा, (३) लघिमा—ये तीन शारीरिक सिद्धियाँ है। इन्द्रिय सिद्धि को 'प्राप्ति' कहा गया है। 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि से साधक श्रुत और दृष्ट पदार्थों को इच्छानुसार अनुभव कर लेता है। 'ईषिता' सिद्धि से साधक माया के कार्यों को प्रेरित करता है। 'वशिता' सिद्धि का धारक साधक प्राप्त भोगो मे आसक्त नही होता। 'कामावसायिता' सिद्धि द्वारा साधक अपनी इच्छानुसार सुख की उपलब्धि करने में सक्षम हो जाता है।[4]

इनके अतिरिक्त (१) त्रिकालज्ञत्व, (२) अद्वन्द्वत्व (शीत-उष्ण, सुख-दु.ख आदि द्वन्द्वो से पराजित न होना), (३) परचित्त अभिज्ञान, (४) प्रतिष्टम्भ (अग्नि, सूर्य, जल, विष आदि की शक्ति को स्तम्भित कर देना, (५) अपराभव—ये पाँच सिद्धियाँ और है।[5]

ये सभी सिद्धियाँ योगियो को प्राप्त होती है।

योगदर्शनसम्मत लब्धियाँ

योगदर्शन मे जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योग के आठ अंग बताये गये हैं, उनके बारे में कहा गया है कि इनकी साधना से आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की सिद्धियाँ (लब्धियाँ) योगी को प्राप्त होती है।

अष्टांग योग के प्रथम अंग यम से प्राप्त लब्धियो के बारे मे उल्लेख है कि अहिंसाव्रत का पालन करने वाले योगी के सान्निध्य में व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक पशु भी अपनी क्रूर एवं हिंसक वृत्ति वैर-भाव को त्याग देते है। सत्यव्रती का वचन सदैव सत्य होता है, वह वरदान अथवा अभिशाप जो मुँह

---

१ श्वेताश्वतर उपनिषद् २/१२-१३

२ श्रीमद्भगवद्गीता, दशवाँ अध्याय

३ श्रीमद्भागवत महापुराण स्कन्ध ११, अ० १५, श्लोक ३-५

४ वही „ „ श्लोक ६-७

५ वही „ „ श्लोक ८

से कह देता है, सत्य होता है। अस्तेय व्रत की प्रतिष्ठा से योगी के समक्ष निधान प्रगट हो जाते है अर्थात् भूमि के अन्दर तथा गुप्त स्थानो के निधान भी प्रगट हो जाते है। अपरिग्रह व्रत की साधना से योगी को पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है।[1]

इसी प्रकार अन्य अनेक लब्धियाँ नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि योगांगों की साधना से प्राप्त हो जाती है। यहाँ तक कि सर्वज्ञता भी प्राप्त हो जाती है।[2]

योगदर्शन के विभूतिपाद में अनेक विभूतियों—लब्धियो का वर्णन हुआ है। उनमें कुछ ज्ञान विभूतियां है जिनका सम्बन्ध ज्ञान से है तथा कुछ शारीरिक विभूतियाँ शरीर सम्बन्धी है। उनमें से प्रमुख ये हैं—अतीतानागत ज्ञान, सर्वभूत-रुतज्ञान, परचित्त ज्ञान, पूर्वजाति ज्ञान, भुवन ज्ञान, तारा व्यूह ज्ञान, कायव्यूह ज्ञान, उपरान्त ज्ञान, और सिद्धदर्शन आदि ज्ञान-विभूतियाँ हैं तथा अन्तर्धान, परकाय प्रवेश, आकाशगमन, हस्तिबल, रूपलावण्य, काय-सम्पत, क्षुत्पिपासानिवृत्ति और अणिमा, महिमा आदि का प्रादुर्भाव शारीरिक विभूतियाँ है।[3]

इन विभूतियों के पांच प्रकार वताये हैं—(१) जन्म से होने वाली (२) औषधि से होने वाली, (३) मंत्र से होने वाली (४) तप से होने वाली और (५) समाधि से प्राप्त होने वाली।[4]

बौद्धदर्शन में लब्धियाँ

बौद्ध परम्परा में लब्धियो को 'अभिज्ञा' कहा गया है। अभिज्ञा (लब्धियो) के वहां दो भेद किये गये हैं—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर।[5]

वहाँ वर्णन है कि समाहित आत्मा से दस प्रकार के इद्धि-विध योग्य चित्त उत्पन्न होता है, उससे अर्हत्मार्ग की सिद्धि होती है। इसे प्रातिहार्य भी कहा गया है और अतिशय एवं उपाय-सम्पदा भी।

ये दश भेद इस प्रकार हैं—(१) अधिष्ठान—अनेक रूप बनाने की क्षमता (२) विकुर्वण—विविध प्रकार की सेनाओं की निर्माण क्षमता (३) मनोमया—

---

१ पातञ्जल योगसूत्र २/३५-३९

२ पातंजल योगसूत्र २/४०-४६,४९,५३,५४, ३/५,१६,१७,१८ आदि

३ पातंजल योगसूत्र, विभूतिपाद

४ पातंजल योगसूत्र ४/१

५ विसुद्धिमग्गो, भाग १

अन्य के मन मे उठने वाले भावो का ज्ञान (४) ज्ञान विस्फार—अनित्य भावना (५) समाधि विस्फार—ध्यान से विघ्नो का नाश (६) आर्य ऋद्धि—प्रतिकूल में अनुकूल सज्ञा (७) कर्म विपाकजा—आकाशगामिनी (८) पुण्यवती ऋद्धि—चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की ऋद्धि (९) विद्यामया ऋद्धि—विद्याधरो का आकाश गमन का रूप दर्शन (१०) इज्झनठेन ऋद्धि—सप्रयोग विधि, शिल्प कार्य आदि में कुशलता।

इनके अतिरिक्त अन्य अभिज्ञाओ का भी उल्लेख प्राप्त होता है। 'दिव्या सोत' से सभी प्रकार के शब्दो, पशु-पक्षियो की बोली आदि का परिज्ञान, 'परचित्त विज्ञानन' से दूसरे के मन का बोध, 'दिव्व चक्खु' से दिव्य दृष्टि की प्राप्ति; अधिक 'सयम' से लाघवता और आकाशगामिनी शक्ति की प्राप्ति; तथा 'पुव्वनिवासानुस्सती' से पूर्व जन्मो का ज्ञान प्राप्त हो हो जाता है।[1]

जैनयोग और लब्धियां

जैन योग मे लब्धियो विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। अंग ग्रंथो से लेकर योगशास्त्र और ज्ञानार्णव तक इन लब्धियो के वर्णन की एक सुदीर्घ परंपरा चली आई है तथा अनेक प्रकार की लब्धियों का वर्णन हुआ है। विभिन्न ग्रन्थो में इनकी सख्या भी भिन्न-भिन्न है।

भगवती सूत्र[2] मे अनेक स्थलो पर लब्धियो का वर्णन हुआ है। स्थानांग,[3] औपपातिक,[4] प्रज्ञापना[5] में भी लब्धियों का वर्णन है। इनमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सभी प्रकार की लब्धियाँ समाविष्ट है।

लब्धियों की संख्या तिलोयपण्णत्ति[6] में ६४, आवश्यक निर्युक्ति[7] में २८, षट्खण्डागम[8] मे ४४, विद्यानुशासन में ४८, मन्त्रराजरहस्य[9] मे ५०, प्रवचन-

---

१ द्रष्टव्य—विसुद्धिमग्गो का इद्धिविध निद्देसो, पृष्ठ २६१ से २६५

२ भगवती ८/२; ५/४/१८९, १४/७/५२१-५२२; ५/४/१९६, २/१०/१२०, ३/४/१६०, ३/५/१६१, १३/९/४९८

३ स्थानाग २/२

४ औपपातिक सूत्र २४

५ प्रज्ञापना पद ६, सूत्र १४४

६ तिलोयपण्णत्ति, भाग १/४/१०६७-९१

७ आवश्यकनिर्युक्ति ६९-७०

८ षट्खण्डागम, खण्ड ४, १/९

९ श्रमण, वर्ष १९६५, अक १-२, पृष्ठ ७३

सारोद्धार[1] में २८ और विशेषावश्यकभाष्य[2] में २८ है। इनके वर्गीकरण मे भी भिन्नता है।

इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र के योगशास्त्र[3] और शुभचन्द्र रचित ज्ञानार्णव[4] में अनेक लब्धियो का वर्णन है और उनका विवेचन भी विस्तार से हुआ है। इन दोनों ग्रन्थो में लब्धियो का वर्णन चमत्कारिक शक्तियो के रूप मे हुआ है; जैसे जन्म-मृत्यु का ज्ञान, शुभ-अशुभ शकुनो से भविष्य का ज्ञान अथवा होने वाली घटनाओ को जान लेना, काल ज्ञान, परकाय-प्रवेश आदि-आदि।

प्रवचनसारोद्धार मे निरूपित २८ लब्धियो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **आमोसहि**—इस लब्धि के प्रभाव से योगी के शरीर-स्पर्श मात्र से रोगी व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। तपस्वियो और योगियों के चरण-स्पर्श की परम्परा के पीछे यह भी एक कारण हो सकता है।

(२) **विप्पोसहि**—योगी के मल-मूत्र में औषधि की शक्ति आ जाना।

(३) **खेलोसहि**—योगी की श्लेष्मा में सुगन्धि तथा रोग-निवारण क्षमता।

(४) **जल्लोसहि**—योगी के कान, मुख, नाक आदि के मैल का औषधि रूप में परिणमित हो जाना।

(५) **सव्वोसहि**—योगी के मल-मूत्र, नख-केश आदि सभी अंगो में सुगन्धि और रोग उपशमन की शक्ति।

---

१ प्रवचनसारोद्धार २७०/१४९२-१५०८

२ आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लोसहि चेव।
सव्वोसहि सभिन्ने ओहि रिउ विउलमइ लद्धी ॥१५०६॥
चारण आसीविस केवलियगणहारिणो य पुव्वधरा।
अरहंत चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा य ॥१५०७॥
खीरमहुसप्पि आसव, कोट्ठय बुद्धि पयाणुसारी य।
तह बीयबुद्धि तेयग आहारग सीयलेसा य ॥१५०८॥
वेउव्वदेहलद्धी अक्खीण महाणसी पुलाया य।
परिणाम तववसेण एमाई हुंति लद्धीओ ॥१५०९॥ —विशेषावश्यकभाष्य

३ योगशास्त्र, प्रकाश ५ और ६

४ ज्ञानार्णव, प्रकरण २६

(६) संभिन्नश्रोत—सम्पूर्ण शरीर से सुनने की क्षमता तथा सभी इन्द्रियों द्वारा एक-दूसरी इन्द्रिय का कार्य करने का सामर्थ्य।

(७) अवधिलब्धि—अवधिज्ञान—रूपी (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाले) पदार्थों के भूत-भविष्य और वर्तमान तीनो कालो की पर्यायों को जानने की क्षमता।

(८) ऋजुमतिलब्धि—दूसरे के मनोगत विचारो को सामान्य रूप से जानने की योग्यता। यह लब्धि मनःपर्यवज्ञानी को प्राप्त होती है।

(९) विपुलमतिलब्धि—यह लब्धि भी मनःपर्यवज्ञानी को प्राप्त होती है। इस लब्धि द्वारा योगी साधक दूसरो के मनोगत सूक्ष्म भावो को भी जान लेता है।

(१०) चारणलब्धि—इस लब्धि के दो भेद हैं—(१) जंघा-चारण और (२) विद्याचारण। इस लब्धि वाले योगी को आकाश में गमनागमन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

(११) आशीविषलब्धि—इस लब्धिधारी योगी को शाप देने तथा अनुग्रह करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

(१२) केवललब्धि—यह सर्वोत्कृष्ट लब्धि है। यह योगी को चार घातिया कर्मों (दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय) के सर्वथा क्षय से प्राप्त होती है। इस लब्धि का धारक मनुष्य सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग हो जाता है। वह तीनो लोको और तीनो कालो की सब बातें जानता है। लोकालोक के सम्पूर्ण द्रव्य-पदार्थ-तत्त्व उसको हस्तामलकवत् हो जाते है। वह अनन्तवीर्य का धारक हो जाता है और अनन्त सुख मे रमण करता है।

(१३) गणधरलब्धि—इस लब्धि के धारक योगी को तीर्थंकर के प्रधान शिष्य गणधर पद की प्राप्ति होती है।

(१४) पूर्वधरलब्धि—इस लब्धि का धारक साधक चौदह पूर्वों का ज्ञान अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट से कम समय) मे प्राप्त कर लेता है।

(१५) अर्हत्लब्धि—इस लब्धि द्वारा साधक को अर्हत् पद की प्राप्ति होती है।

(१६) चक्रवर्ती लब्धि—इस लब्धि द्वारा मनुष्य को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है। चौदह रत्न, नव निधान और छह खण्ड पृथ्वी के स्वामी को चक्रवर्ती कहा जाता है।

(१७) बलदेवलब्धि—बलदेव लब्धि के द्वारा बलदेव पद की प्राप्ति होती है।

(१८) वासुदेवलब्धि—इस लब्धि द्वारा वासुदेव पद की प्राप्ति होती है। वासुदेव अर्द्ध चक्री होते हैं। उनका राज्य तीन खण्ड पृथ्वी पर होता है।

(१९) क्षीर-मधु-सर्पिरास्रवलब्धि—क्षीर का अर्थ है दूध, मधु का शहद और सर्पि का घी। इस लब्धि के धारक योगी के वचन दूध के समान मधुर, मधु के समान मीठे और घी के समान स्निग्ध हो जाते है; अर्थात् सुनने वालों को बहुत ही प्रिय लगते है।

(२०) कोष्ठकलब्धि—जिस प्रकार कोष्ठागार में भरा अनाज सुरक्षित रहता है उसी प्रकार इस लब्धि के धारक साधक की स्मृति में गुरुमुख से निकले वचन संचित एवं सुरक्षित रहते है, वह उन वचनों को दीर्घकाल में भी नही भूलता।

(२१) पदानुसारिणीलब्धि—इस लब्धि से सम्पन्न योगी श्लोक का एक ही पद सुनकर उसके आगे या पीछे के पदो को अर्थात् सम्पूर्ण श्लोक को जान लेता है।

(२२) बीजबुद्धिलब्धि—इस लब्धि का धारक साधक किसी भी ग्रन्थ (शास्त्र), मन्त्र आदि का बीजाक्षर मात्र सुनकर अश्रुत पदो एवं अर्थो को भी जान लेता है।

(२३) तेजोलब्धि—तेजोलब्धिसम्पन्न साधक का तैजस् शरीर इतना तीव्र और बलशाली होता हैं कि वह अपने शरीर से तेजोलेश्या निकाल सकता है। तेजोलेश्या के पुद्गल अत्यधिक प्रकाशयुक्त और ज्वलनशील होते है। वे जिस स्थान पर प्रक्षिप्त होते (गिरते) है, उसे भस्म कर देते है। उत्कृष्ट तेजोलेश्यालब्धिसम्पन्न साधक १६½ देशों (लगभग आधे से अधिक भारत देश) को भस्म कर सकता है।

(२४) आहारकलब्धि—यह लब्धि पूर्वधर साधको को प्राप्त होती है। जब उन्हें किसी तत्त्व के विषय में शंका हो जाती है और समीप ही उनके गुरु, श्रुतकेवली अथवा तीर्थंकर नही होते, तब वे इस लब्धि का प्रयोग करते है।

इस लब्धि के प्रयोग से साधक आहारक समुद्घात करके अपने शरीर के दाँयें कन्धे से एक हाथ लम्बा पुतला निकालते है। वह पुतला तीर्थंकर भगवान के पास जाता है। तीर्थंकर के दर्शन करके लौट आता है और पुनः साधक के शरीर में समा जाता है। इस क्रिया से साधक की शंका का समाधान हो जाता है।

(२५) **शीतललेश्यालब्धि**—यह लब्धि तेजोलब्धि से विपरीत स्वभाव की होती है। तेजोलब्धि ज्वलनशील और भस्मक होती है; जबकि यह शीतलतादायक है।

इस लब्धि से सम्पन्न साधक किसी आर्तप्राणी अथवा तेजोलेश्या के कारण जलते हुए प्राणियों के प्रति करुणाशील होकर, इस लब्धि का प्रयोग करता है, भस्म होने से उनकी रक्षा करता है।

यह लब्धि भी तैजस् शरीर से ही उत्पन्न होती है। किन्तु इसके परमाणु गोशीर्ष चन्दन अथवा हिम के समान शीतलतादायक और प्राणियो के लिए सुखदायी होते है।

(२६) **वैक्रियलब्धि**—इस लब्धि के प्रभाव से साधक अपने अनेक रूप बना सकता है, तथा एक ही समय पर विभिन्न स्थानो पर दिखाई दे सकता है, एवं अन्य लोगो को विभिन्न प्रकार के दृश्य भी दिखा सकता है।

(२७) **अक्षीणमहानसलब्धि**—इस लब्धि के प्रभाव से साधक सैकड़ों-हजारो व्यक्तियों को एक ही पात्र से भोजन कराके उनकी क्षुधा-तृप्ति कर सकता है; फिर भी उस पात्र में भोजन उतना का उतना ही रहता है; वह भोजन तभी समाप्त होता है, जब साधक स्वयं भोजन करके तृप्त हो जाता है।

(२८) **पुलाकलब्धि**—इस लब्धि से सम्पन्न साधक चक्रवर्ती की सेना को भी पराजित करने में सक्षम होता है।

लब्धियाँ अनेक है और उनके विभिन्न रूप-स्वरूप तथा शक्ति-सामर्थ्य है। ये २८ लब्धियाँ तो लब्धियों का संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र है। वर्गीकरण की दृष्टि से इन लब्धियों के तीन वर्ग किये जा सकते है—(१) ज्ञानलब्धियाँ, (२) शरीरलब्धियाँ तथा (३) पदलब्धियाँ।

इनमे क्रमश:—७, ८, ९, १२, २०, २१, २२ ये ज्ञानलब्धियाँ हैं।

शरीरलब्धियाँ है—१, २, ३, ४, ५, ६, १०, ११, १९, २३, २४, २५, २६, २७, २८।

पदलब्धियाँ हैं—१३, १४, १५, १६, १७, १८।

किन्तु इतना सत्य है कि ये सभी लब्धियाँ साधक को संयम और तपःसाधना से प्राप्त होती हैं। लब्धियो की शक्तिरूप अवस्थिति साधक योगी के तैजस् शरीर में होती है और इनको अभिव्यक्ति बाहर होती है। वह अभिव्यक्ति ही अन्य लोगो को दिखाई देती है। जब भी योगी इन लब्धियो

का प्रयोग करता है तभी लोगों को उन लब्धियो और योगी की लब्धिसम्पन्नता का ज्ञान हो पाता है।

लेकिन लब्धियों के प्रयोग के बारे में साधक को जैन शास्त्रो का स्पष्ट आदेश है कि वह इन लब्धियो का प्रयोग न करे। यदि कभी विवशतावश, अन्य प्राणियो के कष्ट निवारण हेतु अथवा संघ-रक्षा के लिए लब्धि का प्रयोग करना ही पड़े तो लब्धि-प्रयोग के बाद प्रायश्चित्त ग्रहण करना आवश्यक है, अन्यथा साधक विराधक बन जाता है।

वस्तुस्थिति यह है कि यद्यपि साधक मोक्ष साधना के लिए संयम-तप की आराधना करता है और ऐसा ही आदेश उसे शास्त्रो में दिया गया है कि तपःकर्म की साधना केवल कर्मनिर्जरा के लिए करनी चाहिए, किसी भी लौकिक कामना से नही;[1] फिर भी तपःसाधना के लौकिक फलस्वरूप साधक को ये लब्धियाँ प्राप्त हो ही जाती हैं।

जैन दर्शन के अनुसार साधक को लब्धि प्राप्त करने के लिए कुछ भी करने की आवश्यकता नही, वे तो प्रासंगिक फल के रूप में स्वतः प्राप्त हो जाती है।

किन्तु इन आनुषंगिक फलों—लब्धियों का व्यामोह साधक की मोक्ष साधना में बाधक ही बनता है।[2] अतः साधक को इस व्यामोह से दूर रहकर कर्मनिर्जरा एवं मोक्ष साधना में ही लीन रहना चाहिए। यही मत महर्षि पतजलि[3] का भी है, वे भी लब्धियो को मोक्ष साधना में व्यवधान मानते हैं।

वस्तुतः लब्धियाँ योग साधना का बाह्य अंग है और जैन योग के अनुसार समस्त बाह्य भाव मोक्ष के—आत्म-शुद्धि के बाधक है, अतः लब्धियाँ भी मोक्ष साधना में बाधक ही है, साधक नही। इसलिए न तो इनकी प्राप्ति के लिए साधना करनी चाहिए और न ही इनका प्रयोग। □□

---

१ दशवैकालिक सूत्र ९/४

२ योगशतक, गाथा ८३-८५

३ पातंजल योगसूत्र ३/३८—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थानेसिद्धयः।

असंयतात्मा योगो,

दुष्प्राप्य इति मे मति. ।

वश्यात्मना तु यतता,

शक्योऽवाप्तुमुपायत: ॥

—मन को वश मे न करने वाले पुरुष को योग की प्राप्ति होना वहुत कठिन है। उपाय से आत्मा को वश मे करने वाला (साधक) योग को प्राप्त हो सकता है।

जैन योग सिद्धान्त और साधना

अध्यात्म योग साधना

१ योग की आधारभूमि : श्रद्धा और शील [१]

[गृहस्थयोगी के साधना-सोपान]

श्रद्धा का महत्त्व

भव्यभवन के लिए जितना महत्त्व नीव का होता है, उतना ही महत्त्व कार्य में सफलता प्राप्ति के लिए श्रद्धा (अपने लक्ष्य के लिए आदरयुक्त आत्मविश्वास) का होता है। यदि किसी भव्य और उत्तुंग भवन में उच्चकोटि की कलाकारी की गई हो, उसका कंगूरा स्वर्णनिर्मित हो, उसमें रत्न जडे हो किन्तु उसकी नीव कमजोर हो, खोखली हो तो वह आकर्षक तो बहुत होगा किन्तु स्थायी न रह सकेगा। इसी प्रकार श्रद्धाविहीन आचार जन-जन को आकर्षित तो कर सकता है किन्तु होगा अन्दर से खोखला। वह स्थिर नहीं रह सकेगा, साधक को अपने लक्ष्य तक नही पहुँचा सकेगा, ध्येय पर पहुँचने से पहले ही साधक भटक जायेगा, पतित हो जायगा।

व्यावहारिक जीवन में जो स्थिति आत्मविश्वास की है, आध्यात्मिक जीवन में वही श्रद्धा की है। श्रद्धा का अभिप्राय अपने ध्येय के प्रति अविचल निष्ठा है। श्रद्धा को ही जैनदर्शन में सम्यक्‌दर्शन कहा गया है।

'सम्यग्दर्शन' शब्द का अर्थ

'दर्शन' शब्द जैन आगमो में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसका एक अर्थ है—'देखना' अर्थात् अनाकार ज्ञान[१]; और दूसरा अर्थ है—श्रद्धा[२]।

केवल श्रद्धा ही कार्यकारी नही होती; क्योकि यह मिथ्या भी हो सकती है। श्रद्धा सम्यक् होनी चाहिए। अर्थात् सम्यग्दर्शन ही धार्मिक क्षेत्र में अपेक्षित है। सम्यक् शब्द लगते ही 'दर्शन' मे एक विशेष प्रकार की चमक

---

१ साकार ज्ञानं अनाकार दर्शनं। —तत्त्वार्थ राजावार्तिक, पृष्ठ ८६

२ (क) उत्तराध्ययन सूत्र २८/१५;
(ख) तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) १/२,
(ग) स्थानाग वृत्ति (अभयदेव सूरि) स्थान १;
(घ) नियमसार—तात्पर्यवृत्ति ३।

—एक ज्योति आ जाती है, जिसके आलोक में साधक अपने पथ पर निर्बाध गति से बढता जाता है, न कही उलझता है और न कही भटकता है। श्रद्धा-युक्त दर्शन दिव्यदर्शन बन जाता है।

व्याकरण की दृष्टि से सम्यक् शब्द के तीन प्रमुख अर्थ हैं—प्रशस्त, संगत और शुद्ध। प्रशस्त विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। प्रशस्त का एक अर्थ मोक्ष भी है। अतः मोक्षलक्ष्यी दर्शन ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन : स्वरूप और महत्त्व

सम्यग्दर्शन—तत्त्वसाक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोधि, दृष्टि-कोण, श्रद्धा, भक्ति आदि लक्षणात्मक या स्वाभाविक अर्थों को अपने आप में समेटे हुए है।

यो सम्यग्दर्शन के अनेक लक्षण विभिन्न आचार्यों ने बताये हैं; किन्तु उनमें से प्रमुख हैं—

प्रथम—यथार्थ तत्त्वश्रद्धा

द्वितीय—देव-गुरु-धर्म पर दृढश्रद्धा

तृतीय—स्व-पर का भेद दर्शन (भेदविज्ञान)

चतुर्थ—शुद्ध आत्मा की रुचि—शुद्ध आत्मा का अनुभव।

वे सभी लक्षण परस्पर भिन्न नही, अपितु विभिन्न अपेक्षाएँ लिए हुए हैं, एक ही सम्यग्दर्शन को विभिन्न अपेक्षाओ से देखा गया है। ये परस्पर एक-दूसरे से सबंधित हैं।

जिसे यथार्थ तत्त्वश्रद्धा होगी, उसे स्व-पर का भेद-विज्ञान हो ही जायेगा और फिर उसे शुद्ध आत्मा की रुचि जगेगी तो उसे आत्मानुभव होगा ही, तथा आत्मा का अनुभव जब उसे अंतरंग में होगा तो बाह्यरूप से उसकी श्रद्धा सच्चे देव-धर्म-गुरु पर स्वयमेव ही जम जायेगी। अथवा यो भी कह सकते हैं कि जो तत्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेगा, उसे स्वय ही देव-गुरु-धर्म पर विश्वास जम जायेगा, फिर उसे स्व-पर का भेद-विज्ञान होकर आत्म-अनुभव भी होगा। इन दोनो कथनो कोई भिन्नता नही, सिर्फ अपेक्षाभेद है।

लेकिन आत्मिक उन्नति के लिए आत्मानुभवरूप सम्यग्दर्शन से बढकर अन्य कोई उत्तम पाथेय नही है। आत्मश्रद्धा; अपने निज के स्वरूप पर अटल विश्वास है। यह विश्वास, श्रद्धा अथवा सम्यग्दर्शन योग के साधक के लिए सर्वोत्तम साधन है।

सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) समस्त गुणो का बीज है। इस श्रद्धा का आश्रय

लेने वाले साधक को चित्तप्रसाद, वीर्य, उत्साह, स्मृति, एकाग्रता, समाधि और प्रज्ञाप्रकर्ष आदि साधन अपने आप ही प्राप्त होते चले जाते है।

इसका महत्त्व बताते हुए जैनागम आचारांग सूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है—

सम्यग्दर्शी साधक पापो का बंध नही करता।[1]

योगसूत्र के व्यास भाष्य मे इसे माता के समान रक्षिका बताते हुए कहा है—

माता के समान कल्याण करने वाली यह श्रद्धा साधक की रक्षा पुत्र के समान करती है,[2] अर्थात् जिस तरह माता अपने पुत्र की रक्षा करती है, उसी तरह श्रद्धा भी साधक की रक्षा करती है।

(यह श्रद्धा अन्तःकरण में विवेकपूर्वक वस्तु तत्त्व, ज्ञेय पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करने की तीव्र रुचि—तीव्र अभिलाषा रूप होती है।)

(सम्यग्दर्शन किसी आत्मा को स्वतः (जन्मान्तरीय उत्तम संस्कारो के प्रभाव से अपने आप ही) हो जाता है और किसी को परतः (सत्शास्त्रो के स्वाध्याय तथा सद्गुरुओं की सत्सगति से) प्राप्त होता है।) सम्यग्दर्शन का अकुरण होते ही व्यक्ति में आन्तरिक और बाह्य विशिष्ट लक्षणो का प्रादुर्भाव हो जाता है। अन्तरंग में उसकी रुचि तथा झुकाव आत्मा की ओर हो जाता है, परिणामस्वरूप उसे भौतिक सुख-साधन फीके व तुच्छ लगने लगते है; तथा बाह्य रूप से उसमें पाँच लक्षण प्रगट हो जाते है—(१) सम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य।[3]

(१) **सम (शम)**—उदय में आये क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय-भावों की उपशांति/शमन करना शम है।

(२) **संवेग**—मोक्षविषयक तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है।

(३) **निर्वेद**—सांसारिक विषय-भोगो के प्रति विरक्ति अर्थात् उनको हेय समझकर उनमें उपेक्षा का भाव जगना।

---

१ समत्तदसी ण करेइ पाव। —आचारांग १/३/२

२ सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। —योगसूत्र, व्यास भाष्य १/२०

३ कृपा-प्रशम-सवेगनिर्वेदास्तिक्य लक्षणा.।
गुणा भवन्तु यच्चित्ते स स्यात् सम्यक्त्वभूषित ॥
—गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक २१

(४) अनुकम्पा—दुःखी जीवो पर दया, निःस्वार्थ भाव से उनके दुःख दूर करने की इच्छा और तदनुसार प्रयास करना।

(५) आस्तिक्य—सर्वज्ञकथित तत्त्वो में किंचित् मात्र शंका न करके पूर्ण विश्वास रखना—अटल आस्था, अथवा आत्मा एवं लोक सत्ता में पूर्ण विश्वास करना।

आस्तिक्य गुण का धारी पुरुष आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी होता है[1]—अर्थात् इन सभी विषयों के बारे जैसा सर्वज्ञ ने कहा है, वैसा ही यथातथ्य विश्वास करता है।

इन पाँच लक्षणों से आत्मगत सम्यक्त्व की पहचान होती है अर्थात् ये पाँचो लक्षण सम्यग्दर्शन के परिचायक है। ये लक्षण व्यक्ति के लिए अपने सम्यक्त्व को परखने की कसौटी भी हैं। इस कसौटी पर कसकर साधक स्वय अपनी पहचान भी कर सकता है कि वह सम्यक्त्वी है भी या नही।

विशुद्ध सम्यग्दर्शन के लिए उसके २५ मल-दोषो का त्यागना आवश्यक है। ये पच्चीस दोष हैं—

मूढत्रय मदश्चाष्टौ, तथा अनायतानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः॥

—उपासकाध्ययन २१/२४१

अर्थात्—तीन मूढताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शका आदि दोष—ये सम्यग्दर्शन के २५ मल अथवा दोष हैं जो सम्यक्त्व को मलिन करते है।

(१) तीन मूढताएँ—(क) देवमूढ़ता—रागी-द्वेषी देवो की पूजा—उपासना करना।

(ख) गुरुमूढता—निन्द्य आचरण वाले तथाकथित ढोगी साधुओं, जिनमें परिग्रह आदि अनेक दोष हो, उन्हे गुरु मानना।

(ग) शास्त्रमूढ़ता—काम-क्रोध आदि कषाय बढाने वाले शास्त्रो को सत्-शास्त्र मानना। इसका दूसरा नाम लोकमूढ़ता भी है, इसका आशय है कि लोगो की देखा-देखी गलत परम्पराओ का अनुकरण करना।

(२) मद आठ हैं—(१) जातिमद, (२) कुलमद, (३) बलमद, (४)

---

१ से आयावई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई। —आचाराग २/१/५
इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—श्री जैन तत्व कलिका, (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), छठी कलिका, पृष्ठ १०५-२०२

लाभमद, (५) ज्ञानमद, (६) तपमद, (७) रूपमद, (८) ऐश्वर्यमद या प्रभुत्व-मद। इन मदों को करना सम्यक्त्व में दोष लगाना है।

(३) छह अनायतन—(१) मिथ्यादर्शन, (२) मिथ्याज्ञान, (३) मिथ्या-चारित्र, (४) मिथ्यादृष्टि, (५) मिथ्याज्ञानी, (५) मिथ्याचारित्री—ये छह अनायतन कहलाते हैं। इनको त्याग देना चाहिए।

(४) आठ दोष हैं—(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) मूढ़-दृष्टित्व, (५) अनुपगूहन, (६) अस्थिरीकरण, (७) अवात्सल्य और (८) अप्रभावना। इन दोषों से सम्यक्त्व को मुक्त रखना आवश्यक है।

इन दोषो के विपरीत सम्यक्त्व के आठ गुण हैं—(१) निःशंकित्व, (२) निष्कांक्षित्व, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टित्व, (५) उपबृंहण या उप-गूहन, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना। इन गुणो से सम्यक्त्व की चमक और बढ़ जाती है।

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्ति में शका बहुत बड़ी बाधा है। इससे व्यक्ति का मनोबल क्षीण हो जाता है और उसका पतन हो जाता है, इसी-लिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—

बितिगिंछा समावण्णेण अप्पाणेण णो लभति समाधिं।

—आचाराग अ० ५, उद्देशक ५

—अर्थात्—संशयग्रस्त आत्मा को समाधि प्राप्त नही होती।

इसलिए सम्यग्दर्शन को शुद्ध एवं दृढ़ बनाये रखने के हेतु इसके २५ मल-दोषो का टालना और गुणो को अपनाना अति आवश्यक है।

त्याग—योग के साधक के लिए शुद्ध श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) के अतिरिक्त दूसरा आवश्यक गुण त्याग है। जब तक साधक में त्यागवृत्ति का उदय नही होता वह योग के मार्ग पर आगे नही बढ सकता। त्यागवृत्ति—श्रद्धा का क्रियात्मक रूप है।

त्यागवृत्ति में एषणाओ[1] का त्याग ही प्रधान है।[2] एषणाएँ तीन है—(१) लोकैषणा, (२) पुत्रैषणा और (३) धनादि की एषणा। इन तीनो ही एषणाओ का त्याग आवश्यक है क्योंकि इनसे योगविघातक विषय-कषायो को पोषण मिलता है।

---

१ एषणा का अर्थ इच्छा, अभिलाषा है।

२ णो लोगस्सेसण चरे। —आचाराग अ० ४, उ०१, सूत्र २२६

भावशुद्धि—भाव शुद्धि के विना साधक की कोई भी क्रिया सफल नही हो सकती। इसीलिए योग प्राप्ति के लिए भावशुद्धि आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। क्रिया शरीर है और भाव आत्मा। जिस प्रकार आत्मा के अभाव मे शरीर निर्जीव और जडवत् रह जाता है उसी प्रकार भावहीन क्रिया भी शून्य और निष्फल रहती है। अन्तरग आशय का नाम ही भाव है और इसी अतरंग आशय की शुद्धि एव निर्मलता ही भावशुद्धि है। इसी को शुभ और शुद्ध अध्यवसाय भी कहते है।

इस प्रकार शुद्ध श्रद्धा, त्यागवृत्ति और भावशुद्धि—वे सद्गुण हैं, जिनके उपार्जन से व्यक्ति योग-मार्ग पर चलने का अधिकारी (पात्र) वन जाता है।

शुद्ध श्रद्धा अथवा सम्यग्दर्शन जैन योग का सर्वप्रथम और महत्त्वपूर्ण आधार है, नीव है, जिस पर जैन योग का समूचा महल खड़ा है। सम्पूर्ण आचार, योगाचार इसी मूलभित्ति पर आधारित है। इसलिए इसका पालन अतिचार रहित करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार ये हैं—(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) मिथ्यात्वियों की प्रशंसा और (५) मिथ्यात्वियो से अधिक सम्पर्क अथवा मिथ्यादृष्टियो का संस्तव।[1]

सम्यक्ज्ञान

सम्यग्दर्शन के लिए जिन तत्त्वो पर श्रद्धान/विश्वास करना अपेक्षित है, उनको विधिवत् सही ढग से जानना ही सम्यग्ज्ञान है।[2] दूसरे शब्दो मे, अनेक धर्मयुक्त 'स्व' तथा 'पर' पदार्थों को जानना ही सम्यग्ज्ञान है।[3] सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान का होना असम्भव है।[4] आत्मस्वरूप को जानना ही सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञान के तीन दोष है—(१) संशय, (२) विपर्यय तथा (३) अनध्यवसाय। अत. इन तीनो दोषो को दूर करके 'स्व' और 'पर' पदार्थों को जानना चाहिए।

---

१ योगशास्त्र २/१७

२ उत्तराध्ययन सूत्र २८/३५—नाणेण जाणइ भावे।

३ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्। —प्रमेयरत्नमाला १

४ सम्यग्ज्ञान कार्यं सम्यक्त्व कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥
कारणकार्यविधानं समकालं जायनोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम्॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३३,३४

योग-मार्ग के साधक के लिए जितना सम्यग्दर्शन आवश्यक है, उतना सम्यग्ज्ञान भी है। जब तक वह तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप नही जानेगा तब तक उसकी श्रद्धा शुद्ध कैसे हो सकती है। और जब तक श्रद्धा तथा ज्ञान शुद्ध नहीं होगे तब तक उसका चारित्र (आचरण) भी कैसे शुद्ध हो सकता है। इसीलिए साधक को प्रेरणा दी गई है कि पहले ज्ञान से तत्त्वो को जाने, फिर उन पर श्रद्धा करे और तब आचरण करे और तप से आत्मा को परिशुद्ध—निर्मल करे।[1]

सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शन-ज्ञान के अनन्तर यह (सम्यक्चारित्र) जैन योग का दूसरा आधार है।

सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) की उपलब्धि और सम्यग्ज्ञान की आराधना के अनन्तर साधक का चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टि परिशुद्ध और यथार्थग्राहिणी बन जाती है। उसका ज्ञान यथार्थ वस्तुतत्त्व और उसके वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। तब साधक जितनी भी योग-क्रियाएँ करता है, वे सब सम्यग्चारित्र बन जाती हैं।

चारित्र का लक्षण बताते हुए कहा गया है—

असुहादो विणिवित्ति सुहे पावित्ति य जाण चारित्तं।

अर्थात्—अशुभ से निवृत्ति और शुभ या शुद्ध मे प्रवृत्ति करना, चारित्र है।

ज्ञान को आचरण में लाना, यही चारित्रधर्म है तथा इसी का दूसरा नाम सम्यक्चारित्र है।

सम्यक्चारित्र के दो भेद

आगमो में श्रमण और श्रावक की अपेक्षा चारित्रधर्म अथवा सम्यक्चारित्र के दो भेद किये गये है—(१) अनगारधर्म और (२) आगारधर्म।[2] अनगारधर्म श्रमण अथवा साधु का चारित्र है और आगारधर्म गृहस्थ का।

---

१ नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई॥ —उत्तराध्ययन २८/३५

२ चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—अणगारचरित्तधम्मे, अगारचरित्तधम्मे चेव।
—स्थानाग, स्थान २

आगार-चारित्र

आगार-चारित्र के भी गृहस्थ की भूमिका की अपेक्षा से दो भेद है—(१) सामान्य गृहस्थधर्म और (२) विशेष गृहस्थधर्म।

विशेष गृहस्थधर्म की पूर्व पीठिका सामान्य गृहस्थधर्म है। जिस प्रकार विशाल भवन बनाने से पहले भूमि समतल की जाती है और गहरी नीव खोदी जाती है उसी प्रकार विशेष गृहस्थधर्म ग्रहण करने से पहले सामान्य गृहस्थधर्म का पालन करना आवश्यक है। सामान्य गृहस्थधर्म के पालन से व्यक्ति मार्गानुसारी (धर्म तथा योग के मार्ग को अनुसरण करने योग्य) बनता है। मार्गानुसारी के ३५ गुण[1] शास्त्रों में बताये गये हैं। वे ये हैं—

(१) न्यायनीति से धन का उपार्जन करने वाला हो।

(२) शिष्ट पुरुषो के आचार की प्रशंसा करने वाला हो।

(३) अपने कुल और शील मे समान; किन्तु भिन्न गोत्र मे विवाह सम्बन्ध करने वाला।

(४) पापो से डरने वाला—पापभीरु हो।

(५) प्रसिद्ध देशाचार का पालन करने वाला हो।

(६) निन्दक न हो—किसी भी और विशेष रूप से राजा तथा राज्य-कर्मचारियो की निन्दा न करे।

(७) एकदम खुले स्थान पर अथवा बिल्कुल ही गुप्त स्थान पर घर न बनाने वाला।

(८) घर में बाहर निकलने के अनेक द्वार न रखना।

(९) सदाचारी पुरुषो की संगति करना।

(१०) माता-पिता की सेवा-भक्ति करना।

(११) चित्त मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले अर्थात् झगडे-टटे के स्थान से दूर रहना।

(१२) कोई भी निन्दनीय कार्य न करना।

(१३) आय के अनुसार ही व्यय करना।

---

१ (क) आचार्य हरिभद्र—धर्मबिन्दु, प्रकरण १
(ख) आचार्य हेमचन्द्र—योगशास्त्र १/४७-५६

(१४) अपनी आर्थिक स्थिति के अनुकूल वस्त्र पहनना; आशय यह है कि विशेष तड़क-भड़क के वस्त्र न पहने, सामान्य किन्तु साफ वस्त्र पहने, वेश ऐसा हो कि गंभीरता की छाप पड़े।

(१५) बुद्धि के आठ गुणो से युक्त होकर धर्म श्रवण करना।

(१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करना।

(१७) नियत समय पर प्रसन्नचित्त होकर भोजन करना।

(१८) धर्म से मर्यादित होकर अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करे अर्थात् अर्थार्जन एवं काम-सेवन में धर्म की मर्यादा का ध्यान रखे।

(१९) दीन, असहाय, अतिथि और साधुजनो का यथायोग सत्कार करना।

(२०) कभी दुराग्रह के वश में न हो अर्थात् दुराग्रही न बने।

(२१) गुणग्राही हो, जहाँ से भी गुण मिलें, उन्हे ग्रहण करे।

(२२) देश-काल के प्रतिकूल आचरण न करे।

(२३) अपनी शक्ति और सामर्थ्य को समझे, शक्ति होने पर ही किसी में हाथ डाले।

(२४) सदाचारी तथा अपने से अधिक ज्ञानवान व्यक्तियो की विनय काम एवं भक्ति करे।

(२५) कर्तव्यपरायण हो अर्थात् जिनके पालन-पोषण का भार उसके ऊपर हो, उनका यथाविधि पालन-पोषण करे।

(२६) दीर्घदर्शी हो अर्थात् आगे-पीछे का विचार करके कार्य करे।

(२७) अपने हित-अहित एव भलाई-बुराई को समझे।

(२८) लोकप्रिय हो, अर्थात् अपने सदाचार और सेवाकार्य द्वारा जनता का प्रेम संपादन करे।

(२९) कृतज्ञ हो—अपने प्रति किये गये उपकार को नम्रतापूर्वक स्वीकार करे।

(३०) लज्जाशील हो—अनुचित कार्य करने मे लज्जा का अनुभव करे।

(३१) दयावान हो।

(३२) सौम्य हो—चेहरे पर शांति और सौम्यता झलकती हो।

(३३) परोपकार करने मे उद्यत रहे। दूसरो पर उपकार करने का अवसर आने पर पीछे न हटे।

(३४) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—इन छह् आन्तरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने वाला हो।

(३५) इन्द्रियो को अपने वश मे रखे।

यद्यपि इनमे से कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो सिर्फ लोक-जीवन से ही सम्बन्धित है, प्रत्यक्ष रूप से इनका धर्म व योगमार्ग से कोई सम्बन्ध नही दिखाई देता किन्तु विशेष श्रावक-धर्म की सुदृढ पृष्ठभूमि के लिए इनका पालन करना भी आवश्यक है। इसका कारण यह है कि जीवन एक अखण्ड वस्तु है। धर्मस्थानक में कुछ और घर तथा व्यापारिक सस्थान में कुछ—इस प्रकार का दोहरा आचरण तो ढोग और पाखण्ड का सेवन हो जायेगा। परिणामस्वरूप उसका समग्र आचरण पतित हो जायगा और पतित आचरण वाला मनुष्य कभी भी आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च श्रेणी पर नही चढ़ सकता। अतः श्रावक बनने के लिए, विशेष गृहस्थधर्म की भूमिका तक पहुँचने के लिए इन मार्गानुसारी के ३५ गुणो को धारण करना आवश्यक है। तभी योगमार्ग पर चलने की क्षमता आ सकती है।

गृहस्थ का विशेष धर्म

सामान्य गृहस्थधर्म का पालन करने के साथ-साथ सद्गृहस्थ को आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए विशेष गृहस्थधर्म की ओर उन्मुख हो जाना चाहिए। यह विशेष गृहस्थधर्म ही योग की आधारभूमि है।

विशेष गृहस्थधर्म श्रावक के बारह व्रत रूप है। उसे इन व्रतो का पालन निरतिचार रूप से करना चाहिए। उनका (व्रतो का) अतिक्रमण नही करना चाहिए। जैन आगमो मे चार प्रकार का अतिक्रमण बताया गया है—

(१) **अतिक्रम**—व्रत को उल्लघन करने का मन मे ज्ञात या अज्ञात रूप से विचार आना।

(२) **व्यतिक्रम**—व्रत का उल्लघन करने के लिए प्रवृत्ति करना।

(३) **अतिचार**—आशिक रूप से व्रत का उल्लंघन करना।

(४) **अनाचार**—व्रत का पूर्णरूप से छूट जाना।

इनमें अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार तो व्रतों के दोष है। अनाचार तो व्रत का सर्वथा उल्लघन है ही; यह तो श्रावक करता ही नही; किन्तु,

उसे अपने स्वीकृत व्रतों में तनिक भी दोष नही लगाना चाहिए, निर्दोष रूप से व्रतों का पालन करना चाहिए।

श्रावक के बारह व्रत ये है—(१) पाँच अणुव्रत, (२) तीन गुणव्रत और (३) चार शिक्षाव्रत।

श्रावक इन सभी व्रतो को दो करण और तीन योग से ग्रहण करता है। योग तीन है—मन, वचन और काया तथा करण भी तीन है—कृत, कारित, अनुमोदना। इनमें श्रावक अनुमोदना का त्यागी नही हो पाता।[1]

अणुव्रत

श्रावक के अणुव्रत पाँच है—(१) स्थूल प्राणातिपातविरमण, (२) स्थूल मृषावादविरमण, (३) स्थूल अदत्तादानविरमण, (४) स्वदार-सन्तोष व्रत (५) स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत अथवा इच्छा परिमाण व्रत।

(१) स्थूल प्राणातिपातविरमण

इसका दूसरा नाम अहिंसाणुव्रत है। इसमे श्रावक स्थूल अथवा त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है।

संसार मे स्थावर और त्रस अथवा सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के जीव हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय—ये पाँचो प्रकार के जीव स्थावर कहलाते है। गृहस्थ श्रावक इन स्थावरकाय के जीवो की हिंसा का त्याग नही कर पाता, क्योकि गार्हस्थिक तथा सामाजिक जीवन सुचारु रूप से बिताने के लिए वह इन जीवो की हिंसा से बच नही सकता है; फिर भी वह इनकी हिंसा भी कम से कम अर्थात् मर्यादित रूप से ही करता है।

श्रावक त्रस जीवो की हिंसा का त्यागी होता है। उसमे भी वह निरपराधी त्रस जीवो की हिंसा का ही त्याग कर पाता है, अपराधी जीवो की हिंसा का त्याग नही कर पाता।

हिंसा के प्रमुख रूप से दो भेद है—(१) भाव-हिंसा और (२) द्रव्य-हिंसा। मन-वचन-काय में राग-द्वेष आदि कषायो की वृत्ति भाव-हिंसा है और कषायो की तीव्रता के आवेश में बहकर अपने को अथवा दूसरे को कष्ट देना, पीड़ित करना द्रव्यहिंसा है। श्रावक इन दोनो प्रकार की हिंसाओ का यथाशक्ति त्याग करता है।

---

१ श्रावकधर्म के विशेष अध्ययन हेतु पढ़े—जैन तत्त्व कलिका . अष्टम कलिका (आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज)

श्रावकाचार की अपेक्षा से हिंसा के चार भेद किये गये हैं—(१) आरम्भी, (२) उद्योगी, (३) विरोधी और (४) सकल्पी।

गृहस्थ द्वारा घर-गृहस्थी के आरम्भ मे जो हिंसा हो जाती है, वह आरम्भी हिंसा है, तथा उद्योग, व्यापार-धन्धे में होने वाली हिंसा उद्योगी है। किसी विरोधी या अपराधी जीव को भी दण्ड देना गृहस्थ के लिए जरूरी है, यह विरोधी हिंसा है, किन्तु दण्ड भी वदले की भावना से नही देना चाहिए, सुधार की भावना रखनी चाहिए। ये तीन प्रकार की हिंसाएँ गृहस्थ के लिए मजबूरी है, करनी ही पड़ती है, इसलिए वह इन तीन प्रकार की हिंसाओ का त्याग नही कर सकता, सिर्फ सकल्पी हिंसा का त्याग करता है। सकल्पी हिंसा का आशय है—किसी भी निरपराधी त्रस जीव (द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय वाले जीव) की संकल्पपूर्वक, जान-बूझकर राग-द्वेष-कषायो के आवेश में आकर हिंसा करना। ऐसी हिंसा का त्याग श्रावक कर देता है।

यद्यपि श्रावक अपने अहिंसाणुव्रत का पालन यथाशक्ति शुद्ध रूप से करने का प्रयास करता है, फिर भी कुछ दोष अथवा अतिचार लगने की सम्भावना तो रहती ही है। अतः उन दोषो—अतिचारो से वचना चाहिए। अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार[1] ये है—

(१) **बन्ध**—इसका अर्थ वन्धन है। किसी प्राणी को रस्सी आदि से बाँधना, उसे उसके अभीष्ट स्थान पर जाने से रोकना, अपने अधीनस्थ कर्मचारी को निर्दिष्ट समय के बाद भी रोके रखना आदि। शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के अनुचित और दवावपूर्ण बन्धन इस अतिचार मे परिगणित होते हैं।

(२) **वध**—वध का अर्थ यहाँ प्राणघात नही है, क्योंकि अहिंसाणुव्रती श्रावक किसी को जान से तो मार नही ही सकता। वध का अभिप्राय है किसी त्रस प्राणी को चाबुक, डडे आदि से पीटना, उस पर अनावश्यक आर्थिक भार डालना, किसी की लाचारी का अनुचित लाभ उठाना, अनैतिक ढंग से शोषण करना आदि। ऐसी सभी प्रवृत्तियाँ जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से त्रस प्राणियो का दिल दुखता हो, उनकी हिंसा होती हो, वह वध नाम का अतिचार है।

(३) **छविच्छेद**—किसी भी त्रस प्राणी का अग-उपांग काट देना, आजी-

---

१ उपासकदशाग, अध्ययन १

विका का संपूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से नाश कर देना, धन्धा, रोजगार बन्द करा देना, उचित पारिश्रमिक से कम देना—सभी छविच्छेद नाम के अतिचार है।

(४) अतिभारारोपण—बैल, घोडा, ऊँट आदि पशुओ तथा कुली आदि पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना, उनकी शक्ति से अधिक काम लेना अतिभारारोपण है।

(५) भक्तपानविच्छेद—अपने अधीनस्थो को समय पर भोजन-पानी न देना, समय पर वेतन न देना आदि; जिससे अभावो के कारण उन्हे कष्ट हो।

(२) स्थूल मृषावादविरमण

इसका दूसरा नाम सत्याणुव्रत है। सत्य बात को अपने स्वार्थ या द्वेषवश बदल देना, कुछ का कुछ कह देना, ऐसी बात कहना जिससे किसी का दिल दुखे, उसकी हानि हो—यह सब असत्य है। ऐसा असत्य सत्याणुव्रती श्रावक नहीं बोलता।

इस व्रत में श्रावक पांच महान असत्यो का त्याग कर देता है—(१) कन्यालीक—कन्या अर्थात् मनुष्यो के सम्बन्ध मे झूठ बोलना, (२) गवालीक—पशुओं के बारे में झूठ बोलना, (३) भून्यालीक—भूमि, खेत, मकान आदि के बारे में झूठ बोलना (४) न्यासापहार—किसी की रखी हुई धरोहर को झूठ बोलकर हड़प जाना, (५) कूट साक्षी—झूठी गवाही देना।

इस व्रत के पाँच अतिचार है—(१) सहसाभ्याख्यान—बिना अच्छी तरह जाने-समझे तथा सोचे-विचारे किसी पर झूठा दोष लगा देना, (२) रहस्याख्यान—किसी की गुप्त बात प्रगट कर देना, (३) स्वदारमंत्रभेद—अपनी स्त्री की गुप्त बात प्रकट कर देना, (४) मृषोपदेश—किसी को अनाचार तथा झूठ बोलने की शिक्षा देना, गलत सलाह देना, (५) कूटसाक्षी—झूठी गवाही देना।

(३) स्थूल अदत्तादानविरमण

इसे अचौर्याणुव्रत भी कहा जाता है। श्रावक इसमें स्थूल चोरी का त्याग करता है। स्थूल चोरी के अनेक भेद हैं, यथा—सेंध लगाना, गाँठ काटना, डाँका, राहजनी आदि। जिस क्रिया में अनुचित उपायों से दूसरे का धन, जमीन आदि का अपहरण किया जाता है, यह सब स्थूल चोरी है। तस्करी आदि चोरी के ही रूप हैं।

इसके पाँच अतिचार है—(१) स्तेनाहृत—चोरी का माल खरीदना या रखना, (२) तस्कर प्रयोग—चोरो को चोरी करने के लिए उकसाना, उन्हें चोरी के नये-नये तरीके बताना, (३) विरुद्ध राज्यातिक्रम—राज्य के नियमो का उल्लघन करना, जैसे—कर-चोरी, चुंगी-चोरी आदि, (४) कूटतुला कूटमान तोल-माप के झूठे पैमाने रखना, कम तोलना, कम नापना आदि, (५) तत्प्रतिरूपक व्यवहार—अच्छी वस्तु मे बुरी वस्तु की अथवा अधिक कीमत वाली वस्तु मे कम कीमत की वस्तु मिला देना।

(४) स्वदारसन्तोषव्रत

इस व्रत मे श्रावक अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियो के साथ मैथुन (अब्रह्मचर्य) का त्याग कर देता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) इत्वरिकापरिग्रहीतागमन—काम-सेवन के अभिप्राय से किसी अन्य स्त्री (वेश्या, विधवा, *Society girl*, Call-girl, रखैल (Kept) आदि—जिनका कोई स्वामी अथवा पति न हो) को लोभ देना, (२) अपरिग्रहीतागमन—किसी अविवाहित अथवा कुमारी कन्या को काम-बुद्धि से प्रलोभित करना आदि,[1] (३) अनंगक्रीड़ा—काम-सेवन के अगो के अलावा अन्य अंगो से काम-तृप्ति करना, यथा—हस्तमैथुन, गुदामैथुन आदि, (४) परविवाहकरण—अपने पुत्र-पुत्रियो और आश्रितो का विवाह करना तो श्रावक का सामाजिक दायित्व माना जाता है, इसलिए करना ही पडता है किन्तु श्रावक को अन्य लोगो के विवाह के चक्कर मे नही पडना चाहिए, यह अतिचार है, (५) काम-भोगतीव्राभिलाषा—काम-भोग को अधिक लालसा रखना।[2]

(५) इच्छापरिमाण व्रत

परिग्रह का सर्वथा त्याग गृहस्थ के लिए सम्भव नही है, क्योकि उसे अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए, बच्चो की शिक्षा के लिए तथा समाज में अपनी मान-मर्यादा बनाये रखने के लिए और अतिथियो के सत्कार तथा साधुओ को दान देने के लिए आवश्यक साधन, धन तथा सामग्री जुटानी पडती है। इसलिए वह अपनी मर्यादा तथा स्थिति के अनुसार

---

१ इत्वरिकापरिग्रहीतागमन और अपरिगृहीतागमन—ये दोनो साधन जुटाने तक ही अतिचार रहते हैं, यदि व्यक्ति उनके साथ काम-सेवन कर लेता है, तब तो अनाचार हो जाता है और व्रत भंग हो जाता है।

२ काम-भोग से अभिप्राय पाँचो इन्द्रियो के भोग से है।

इच्छाओं को सीमित करता है और तदनुसार बाह्य परिग्रह का परिमाण करता है।

इच्छा को भाव-परिग्रह कहा गया है और धन-साधन आदि को द्रव्य-परिग्रह। श्रावक इन दोनों का ही परिमाण करता है।

परिग्रहपरिमाणव्रत के पांच अतिचार हैं—(१) क्षेत्रवास्तु परिमाणातिक्रम—क्षेत्र (खुली जमीन, यथा—खेत, बगीचे, भूमि आदि) और वास्तु (Covered area—मकान, दूकान आदि) इनका जितना परिमाण किया हो, उसे बढ़ा लेना—अधिक कर लेना, (२) हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम—सोने-चांदी (बने हुए जेवर, आभूषण, बर्तन, व अन्य उपकरण आदि) का जितना परिमाण किया हो, उसे बढ़ा लेना, (३) धन-धान्य परिमाणातिक्रम—धन (रुपया, पैसा, करैन्सी नोट, शेयर, बैंक में जमा राशि आदि) धान्य (अनाज, दाल आदि) के परिमाण को बढ़ा लेना, (४) द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रम—द्विपद (दास-दासी; दो पैर वाले पक्षी—तोता-मैना-मोर आदि), चतुष्पद (गाय, बैल, घोड़ा, हाथी आदि; इसी में आधुनिक युग में मोटर, साइकिल, स्कूटर आदि की गणना की जाती है) के परिमाण का अतिक्रमण करना; (५) कुप्य परिमाणातिक्रम—घर अथवा व्यापार में उपयोग में आने वाले फर्नीचर, बर्तन, पलंग, मेज, कुर्सी, आलमारी आदि की जितनी मर्यादा निश्चित की हो, उसे बढ़ा लेना।

किसी भी प्रकार की स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नही करता। वह दशो दिशाओ में अपने गमनागमन की सीमा निश्चित कर लेता है।

इस गुणव्रत का महत्त्व इतना अधिक है कि निश्चित किये हुए क्षेत्र से वाहर के लिए वह त्रस और स्थावर—दोनो प्रकार के जीवो की घात से विरत हो जाता है; उसके अहिंसाणुव्रत मे गुणात्मक वृद्धि हो जाती है।

इसके पाँच अतिचार है—(१) ऊर्ध्वदिशा में मर्यादा का अतिक्रमण, (२) अधोदिशा मे मर्यादा का अतिक्रमण, (३)तिरछी दिशा (चारो दिशाओ और चारो विदिशाओ मे) में मर्यादा का अतिक्रमण करना (४) **क्षेत्र वृद्धि**—असावधानी या भूल से मर्यादा को वढा लेना अथवा किसी एक दिशा के परिमाण को कम करके दूसरी दशा मे मर्यादा बढ़ा लेना, (५) **स्मृति अन्तर्धान**—किसी दिशा में श्रावक गमन कर रहा हो, किन्तु निश्चित की हुई मर्यादा को भूल जाय, भ्रम मे पड जाय; फिर भी आगे वढ़ता रहे तो यह स्मृति अन्तर्धान नाम का अतिचार होता है।

(२) उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत

जो वस्तु एक वार ही उपयोग मे आवे, जैसे—भोजन, पानी, आदि, वह उपभोग कहलाती है और जिसका बार-बार उपयोग किया जा सके, जैसे—वस्त्र, आभूषण, फर्नीचर, मकान, कार, स्कूटर आदि, वह परिभोग कहलाती है। श्रावक इन उपभोग-परिभोग की वस्तुओ को मर्यादित करता है।

यद्यपि परिग्रहपरिमाण अणुव्रत मे श्रावक इन वस्तुओ की मर्यादा कर लेता है, किन्तु इस व्रत मे वह उस मर्यादा को और भी सकुचित करता है। इससे उसके जीवन मे सरलता और सादगी का सचार होता है तथा महारभ, महापरिग्रह और महातृष्णा से वह मुक्त हो जाता है।

आगम[1] मे उपभोग-परिभोग सम्बन्धी २६ वस्तुओ के नाम निर्देश किये गये हैं—

(१) शरीर आदि पोछने का अगोछा आदि, (२) दाँत साफ करने का मजन, टूथपेस्ट आदि (३) फल (४) मालिश के लिए तेल आदि (५) उबटन के लिए लेप आदि, (६) स्नान के लिए जल, (७) पहनने के वस्त्र, (८) विलेपन के लिए चन्दन, (९) फूल, (१०) आभरण, (११) धूप-दीप, (१२) पेय, (१३) पक्वान्न, (१४) ओदन, (१५) सूप-दाल, (१६) घृत आदि विगय, (१७) शाक, (१८) माधुरक (मेवा), (१९) जेमन-भोजन के पदार्थ, (२०) पीने का

---

१ उपासकाध्ययन, अध्ययन १

पानी, (२१) मुखवास, (२२) वाहन, (२३) उपानत (जूते आदि), (२४) शय्या-सन, (२५) सचित्त वस्तु, (२६) खाने के अन्य पदार्थ।

इन २६ पदार्थों की मर्यादा श्रावक जीवन भर के लिए करता है। इसके अतिरिक्त वह प्रतिदिन अपनी मर्यादा को और संकुचित करता है। इसके लिए वह प्रतिदिन १४ नियमो का चिन्तवन करके अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें ग्रहण करता है।

चौदह नियम—(१) **सचित्त**—पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय आदि के सेवन की मर्यादा, (२) **द्रव्य**—खाद्य पदार्थों की सख्या निश्चित करना, (३) **विगय**—घी, दूध, दही, तेल गुड़—ये पदार्थ विगय है, इनमें से कुछ अथवा सभी पदार्थों का त्याग करना, (४) **उपानह**—जूते-मोजे आदि पहनने की यर्यादा, (५) **ताम्बूल**—पान-सुपारी-इलायची आदि की मर्यादा, (६) **वस्त्र**—वस्त्र पहनने की मर्यादा, (७) **कुसुम**—पुष्प, इत्र, सुगन्धित पदार्थों की सीमा, (८) **वाहन**—सवारी आदि की मर्यादा, (९) **शयन**—शय्या एवं स्थान की मर्यादा, (१०) **विलेपन**—केसर, चन्दन आदि शरीर पर विलेपन की जाने वाली वस्तुओ की मर्यादा, (११) **ब्रह्मचर्य नियम**—ब्रह्मचर्य-पालन का नियम लेना, (१२) **दिशा परिमाण**—दसो दिशाओं में गमनागमन का नियम, (१३) **स्नान-नियम**—स्नान का त्याग अथवा स्नान हेतु जल का परिमाण, (१४) **भक्त**—आहार-पानी तथा अन्य खाद्य-पदार्थों का वजन निश्चित करना।

ये चौदह नियम श्रावक एक अहोरात्रि (२४ घन्टे) के लिए लेता है—अर्थात् एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक।

श्रावक को उपभोग-परिभोग पदार्थो को प्राप्त करने के लिए कोई न कोई धन्धा या रोजगार करना ही पडता है; किन्तु सुश्रावक ऐसा व्यापार अथवा आजीविका का साधन अपनाता है, जिसमे कम से कम हिंसा हो।

कुछ धन्धे ऐसे है जिनमें महारम्भ-महापरिग्रह होता है। उनसे अधिक गाढे और चिकने कर्मो का बँध होता है। ऐसे रोजगारों को कर्मादान कहा गया है। सुश्रावक इन कर्मादानों को आजीविका हेतु नही अपनाता।

कर्मादान पन्द्रह है।

कर्मादान—(१) **अंगार कर्म**—लकड़ी से कोयले बनाकर वेचने का व्यवसाय, (२) **वन कर्म**—जंगलो को ठेके पर लेकर वृक्षो को काटने का व्यवसाय, (३) **शकट कर्म**—अनेक प्रकार के गाडो, गाड़े, मोटर, ट्रक, रेलवे के इन्जन, डिब्बे, स्कूटर आदि वाहन बनाकर वेचना, (४) **भाटक कर्म**—पशु तथा वाहन

आदि किराये पर देना तथा वडे-वडे मकान आदि वनवाकर किराये पर देना, (५) स्फोटकर्म—सुरंग आदि का निर्माण करने का व्यवसाय, (६) दन्त-वाणिज्य—हाथी दाँत, पशुओ के नख, रोम, सीग आदि का व्यापार (७) लाक्षा वाणिज्य—लाख का व्यापार (लाख अनेक त्रस जीवो की उत्पत्ति का कारण है, अतः इस व्यवसाय मे अनन्त त्रस जीवो का घात होता है) (८) रस वाणिज्य—मदिरा, सिरका आदि नशीली वस्तुएँ वनाना और बेचना, (६) विष वाणिज्य—विष, विषैली वस्तुएँ, शस्त्रास्त्र का निर्माण और विक्रय (१०) केश वाणिज्य—वाल व वाल वाले प्राणियों का व्यापार (११) यन्त्र-पीड़न कर्म—वडे-वडे यन्त्रो—मशीनो को चलाने का धन्धा, (१२) निर्लाञ्छन कर्म—प्राणियो के अवयवो को छेदने और काटने का कार्य, (१३) दावाग्निदान कर्म—वनो मे आग लगाने का धन्धा (१४) सरोह्रदतड़ागशोषणता कर्म—सरोवर, झील, तालाब आदि को सुखाने का कार्य, (१५) असतीजनपोषणता कर्म—कुलटा स्त्रियों-पुरुषो का पोषण, हिंसक प्राणियो (बिल्ली, कुत्ता आदि) का पालन और समाज विरोधी तत्त्वो को सरक्षण देना आदि कार्य।

इनसे मिलते-जुलते अन्य ऐसे व्यवसाय जिनमे महारम्भ-महापरिग्रह होता है, उन्हें भी सुश्रावक नही करता।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) सचित्ताहार—सचित्त वस्तुओ की मर्यादा का उल्लंघन करना (२) सचित्त प्रतिवद्धाहार—जिस सचित्त वस्तु का त्याग कर रखा है, उससे स्पर्श की हुई अन्य सचित्त वस्तु का आहार (३) अपक्वाहार—बिना पके फल आदि, कच्चे शाक इत्यादि खा लेना (४) दुष्पक्वाहार—जो वस्तु आधी पकी हो अथवा अधिक पक गई हो उसको खा लेना (५) तुच्छौषधिभक्षण—जिन वस्तुओ मे खाने का अश कम हो और फैंकने का अधिक, उन वस्तुओ का आहार करना।

(३) अनर्थदण्डविरमण व्रत

श्रावक की अपेक्षा से पाप कर्म के दो भेद किये गये है—(१) अर्थदण्ड और (२) अनर्थदण्ड। अर्थदण्ड तो प्रयोजनवश किया जाता है। स्वय के अथवा परिवार के पालन-पोषण के लिए जो सावद्य प्रवृत्तियाँ (पाप प्रवृत्तियाँ) की जाती है, वे अर्थदण्ड है। किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसी पाप-प्रवृत्तियाँ जिनसे लाभ तो कुछ नही होता और व्यर्थ का पाप बँधता है, उन्हे अनर्थदण्ड कहते हैं। इसमे श्रावक उन बेकार की पाप-प्रवृत्तियो का त्याग करता है।

अनर्थदण्ड—निष्प्रयोजन हिंसा अथवा पाप के चार रूप हैं—(१) अपध्यानाचरित—चिन्ता और क्रूर विचारो से होने वाली हिंसा। चिन्ता

आर्तध्यान है और क्रूर विचार रौद्रध्यान। इन विचारो से व्यर्थ की हिंसा होती है। (२) प्रमादाचरित—शुभ कार्यों में आलस्य करना, असावधानीपूर्वक विभिन्न प्रकार की प्रवृत्ति करना और अशुभ कार्यों को करना। (३) हिंस्र-प्रदान—ऐसे उपकरण किसी को देना जिन से हिंसा की जा सके। (४) पापकर्मोपदेश—हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापो का लोगो को उपदेश देना, नये-नये उपाय सुझाना, प्रेरणा देना।

अनर्थदण्डविरमण व्रत में साधक इन चारो प्रकार के पाप कर्मों का त्याग कर देता है।

अनर्थदण्डविरमण के पाँच अतिचार हैं—(१) कन्दर्प—विकार वढाने वाले वचन बोलना, सुनना या वैसी चेष्टाएँ करना। (२) कौत्कुच्य—भांडों के समान हाथ-पैर फेंकना, नाक-मुँह-आँख आदि मटकाना, विकृत चेष्टाएँ करना। (३) मौखर्य—वाचालता, बढा-चढाकर बातें करना, अपनी शेखी बघारना। (४) संयुक्ताधिकरण—बिना आवश्यकता के ही हिसक हथियारो का संग्रह करना, बन्दूक और कारतूस तथा तीर और कमान आदि को संयुक्त करके रखना। (५) उपभोग-परिभोगातिरेक—उपभोग-परिभोग की वस्तुओ और सामग्री का आवश्यक से अधिक संग्रह करना।

शिक्षाव्रत

शिक्षा का अभिप्राय अभ्यास है। जिस प्रकार विद्या का वार-वार अभ्यास किया जाता है, उसी प्रकार जिन व्रतो का पुनः-पुनः अभ्यास किया जाता है वे शिक्षाव्रत कहलाते है।

शिक्षाव्रतो की विशेषता यह है कि वे वार-वार ग्रहण किये जाते हैं और पुनः-पुनः उनका अभ्यास किया जाता है। इनकी काल मर्यादा जीवन भर की नही होती।

शिक्षाव्रत चार हैं।

(१) सामायिक व्रत

सामायिक शब्द 'सम+आय+इक' इन तीन शब्दो के योग से बना है। 'सम' का अर्थ समता है और 'आय' का अर्थ लाभ है। जिस क्रिया-विशेष से समताभाव की उपलब्धि होती है, आत्मा मे शान्ति तथा कषायो के आवेगों उपशमन होता है, उसे सामायिक कहते है।

सामायिक व्रत का धारी साधक सभी जीवों (त्रस और स्थावर) पर समभाव रखता है। जब तक वह सामायिक करता है, सभी प्रकार की

सावद्य (पापमय) प्रवृत्तियो का त्याग कर देता है और निरवद्य (शुभ) प्रवृत्ति करता है। इस व्रत का अभ्यास करते-करते श्रावक का सम्पूर्ण जीवन समता-मय हो जाता है।

इस व्रत का काल एक वार मे एक मुहूर्त (४८ मिनट) है। साधक अपनी सुविधा और क्षमता के अनुसार एक दिन मे अपनी इच्छा के मुताविक कितनी भी सामायिकें कर सकता है।

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) **मनोदुष्प्रणिधान**—मन मे बुरे या अशुभ विचार आना। (२) **वचन दुष्प्रणिधान**—वचन का दुरुपयोग करना, कठोर अथवा असत्य भाषण करना। (३) **काय दुष्प्रणिधान**—शरीर से सावद्य प्रवृत्ति करना, स्थिर न रखना। (४) **स्मृत्यकरण**—सामायिक की स्मृति न रखना, समय पर न करना। (५) **अनवस्थितता**—सामायिक को अस्थिर होकर करना, अथवा शीघ्रता से करना, निश्चित विधि के अनुसार न करना।

निर्दोष सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि आवश्यक है। इन शुद्धियो का साधक विशेष रूप से ध्यान से रखता है।

(१) **द्रव्य-शुद्धि**—सामायिक के उपकरण, साधक का अपना शरीर, वस्त्र आदि साफ और शुद्ध हो। श्वेत रग निर्मलता और सात्त्विकता का प्रतीक है, इसका प्रभाव मन पर भी पडता है, उसमे भी निर्मल भाव आते है, अतः श्वेत वस्त्र धारण करके ही सामायिक करनी चाहिए।

(२) **क्षेत्र-शुद्धि**—सामायिक का स्थान साफ हो, वहाँ गन्दगी आदि न हो, डांस-मच्छर आदि की बाधा न हो, कोलाहल न हो। दूसरे शब्दो मे शात, एकान्त एव स्वच्छ स्थान मे सामायिक करनी चाहिए।

(३) **काल-शुद्धि**—दिन और रात के किसी भी समय सामायिक की जा सकती है। समय के लिए कोई विशेष नियम नही है, फिर भी साधक को चाहिए कि सामायिक के लिए ऐसा समय चुने, जिसमे घर-गृहस्थी तथा व्यापार सम्बन्धी किसी काम से बाधा न पड़े, मन स्थिर रह सके। इसलिए प्रात.काल का समय सामायिक के लिए अधिक उपयुक्त रहता है।

(४) **भाव-शुद्धि**—सामायिक साधना मे भावशुद्धि अति आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। भाव के बिना कोई भी क्रिया फलदायी नही होती। सामा-यिक भी लौकिक इच्छा, कामना से नही करनी चाहिए, इसका ध्येय साधक को आत्मशुद्धि रखना चाहिए।

इन चार प्रकार की शुद्धियो से सामायिक की साधना मे तेजस्विता आती है।

(२) देशावकाशिक व्रत

यह दूसरा शिक्षाव्रत है। इसमे छठे दिशा परिमाण व्रत में ग्रहण की हुई मर्यादाओं को और भी संकुचित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, किसी ने पूर्व दिशा मे जाने की जीवन भर की सीमा १०० किलोमीटर रखी; किन्तु इतनी दूर वह प्रतिदिन जाता नही। अतः इस व्रत मे वह इस सीमा को और कम, यथा—२,४,५ किलोमीटर तक घटा सकता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) **आनयन प्रयोग**—मर्यादित क्षेत्र से वाहर की वस्तुएँ मँगवाना। (२) **प्रेष्य प्रयोग**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी वस्तु को भेजना। (३) **शब्दानुपात**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्वयं तो न जाना किन्तु शब्द-सकेत द्वारा काम निकाल लेना। (४) **रूपानुपात**—अपना रूप दिखा कर मर्यादा से बाहर क्षेत्र मे कोई काम करवाना। (५) **पुद्गल प्रक्षेप**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर ककर आदि फैंककर अपना अभिप्राय प्रगट करके कार्य करवाना।

(३) पौषधोपवास व्रत

पौषध का अर्थ है—अपनी आत्मा को पोषना—खुराक देना, यह पोषना धर्माचार्य के समीप धर्मस्थानक मे ही सम्भव होता है; और उपवास का अर्थ है—भोजन का त्याग। उपवासपूर्वक धर्मस्थान में रहकर आत्म-चिन्तन, धर्मध्यान करना पौषधोपवास है। यह एक अहोरात्रि (२४ घन्टे—पहले दिन के सूर्योदय से दूसरे दिन के सूर्योदय तक) का होता है। यह दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा—पर्व तिथियो के दिन किया जाता है। २ अष्टमी और २ चतुर्दशी (शुक्ल पक्ष की और कृष्ण पक्ष की) तथा १ अमावस्या और १ पूर्णिमा—इस प्रकार एक मास मे छह पौषध करने का शास्त्रों में विधान मिलता है।

पौषध में श्रावक चार प्रकार का त्याग करता है—(१) शृंगार-विलेपन, स्नान आदि (२) अब्रह्मचर्य (३) आहार आदि (४) घर तथा व्यापार सम्बन्धी सभी सासारिक कार्य।

पौषध व्रत मे गृहस्थ साधक नियमित काल मर्यादा तक द्रव्य और भाव से आत्म-साधना, स्वाध्याय, ध्यान आदि धार्मिक क्रियाएँ करता है। इससे उसके द्रव्य-रोग (शरीर सम्बन्धी रोग) तथा भाव-रोगो (कर्मों) का नाश होता है। साधक की आत्मा निर्मल होती है, आत्म-शक्ति बढ़ती है, ध्यान (धर्मध्यान) की योग्यता आती है और परीषह (अकस्मात आने वाले शारीरिक एवं मानसिक कष्ट) सहने की क्षमता बढ़ती है।

इस व्रत के पाँच अतिचार है—(५) अप्रत्यवेक्षित दुष्प्रत्यवेक्षित शय्या सस्तारक—बैठने के स्थान को भली-भाँति न देखना। (२) अप्रत्यवेक्षित दुष्प्रत्यवेक्षित उच्चार-प्रस्रवण भूमि—मल-मूत्र त्याग करने की भूमि को भली-भाँति न देखना। (३) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक—बैठने के स्थान की भली-भाँति प्रमार्जना (सफाई स्वच्छता) न करना। (४) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चर-प्रास्रवण भूमि—मल-मूत्र त्याग करने के स्थान की भली-भाँति प्रमार्जना न करना। (५) सम्यक् अननुपालनता—पौषधोपवास का भली-भाँति पालन न करना, आत्मध्यान, स्वाध्याय आदि के बजाय सांसारिक बातो का चिन्तन करना, सकल्प-विकल्प और राग-द्वेष करना।

(४) अतिथि सविभाग व्रत

नैतिकतापूर्ण तरीको से उपार्जित धन से उपलब्ध सामग्री मे से अतिथि के लिए समुचित विभाग करना अतिथि सविभाग है। सद्गृहस्थ का यह बारहवाँ और अन्तिम व्रत है।

अतिथि वह होता है, जिसके आने की कोई निश्चित तिथि न हो। ऐसे अतिथि उत्कृष्ट तो निर्ग्रन्थ श्रमण-साध्वी होते है और मध्यम व्रतधारी तथा सम्यक्त्वी श्रावक होते है। इनके अतिरिक्त अन्य दीन-हीन-अपंग अभावग्रस्त व्यक्ति भी होते है, जिनकी आवश्यकतापूर्ति भी सद्गृहस्थ अपना सहयोग देकर करता है।

निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियो को वह भक्तिभावपूर्वक औषध, पथ्य, आहार-वस्त्र आदि का दान देता है और श्रावक-श्राविकाओ का स्वागत-सत्कार वह साधर्मिक बन्धु मानकर करता है तथा उनकी आवश्यकतानुसार अपनी शक्ति सामर्थ्य के मुताबिक सहयोग देता है। इनके अतिरिक्त वह सभी प्राणियो को अनुकम्पा भाव से दान देता है। इस प्रकार सद्गृहस्थ दान की गगा बहाता है।

सामाजिक दृष्टि से तो यह व्रत महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नही है; क्योकि इसके द्वारा मनुष्य मे त्यागवृत्ति आती है, उसकी धन-साधन-सामग्री आदि अपने अधिकार की वस्तुओ मे मोह-ममता कम होती है, आसक्ति छूटती है। इससे धर्म-मार्ग निर्बाध रूप से चलता है। श्रमण-श्रमणी की अनिवार्य आवश्यकताएं सद्गृहस्थ द्वारा पूरी हो जाने से वे अपनी संयम यात्रा निश्चिन्ततापूर्वक पूरी करते हैं।

इस व्रत के पाँच अतिचार है—(१) सचित्त निक्षेप—अचित्त आहार को

सचित्त वस्तु में डालकर रखना (२) सचित्त विधान—सचित्त वस्तु से ढककर रखना। (३) कालातिक्रम—समय पर दान न देना, असमय के लिए कहना। (४) परव्यपदेश—दान न देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई कह देना। (५) मत्सरता—ईर्ष्या व अहकार की भावना से दान देना।

ये श्रावक के बारह व्रत हैं।

अन्तिम समय की साधना : संलेखना

गृहस्थ साधक जीवन भर व्रतो की आराधना-साधना करता है; किन्तु उसकी साधना कितनी सफल हुई है, उसके अन्तर्मन में कितना समताभाव आया है, इसकी कसौटी यह अन्तिम साधना—संल्लेखना है। जिस प्रकार विद्यार्थी के वर्ष भर के अध्ययन की कसौटी उसकी वार्षिक परीक्षा है, वैसी ही स्थिति साधक के जीवन में संल्लेखना की है।

सल्लेखना मृत्यु का साहसपूर्वक एक मित्र की भाँति स्वागत करने के समान है। जब गृहस्थ साधक को यह विश्वास हो जाता है कि उसका अन्तिम समय निकट आ गया है, उसे परलोक के लिए प्रयाण करना है तो वह काय और कषाय को कम करता है। काय को कृष करने का अर्थ है—काया से ममत्वभाव को दूर करना। इनके लिए वह आहार आदि का शनैः-शनैः त्याग करता जाता है और कषाय को वह अपने हृदयस्थित समताभाव द्वारा कम करता रहता है। इस प्रकार वह अपने आपको परलोक-गमन के लिए तैयार कर लेता है। इस साधना से शुभ परिणामों में उसकी मृत्यु होती है और वह उच्चगति पाता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार है—(१) इहलोकाशसा-प्रयोग—इस लोक में राजा, सेठ आदि बनकर (मरने के बाद अगले जन्म मे) सुख भोगूँ। (२)—परलोकाशंसा प्रयोग—मृत्यु के उपरान्त आगामी भव में स्वर्ग के सुख भोगने की इच्छा। (३) जीविताशसा प्रयोग—यश-कीर्ति आदि की प्राप्ति के लोभ में अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा। (४) मरणाशंसा प्रयोग—अनशन आदि अथवा शारीरिक कष्टो से घबड़ाकर मृत्यु की इच्छा करना। (५) कामभोगाशंसा प्रयोग—आगामी जन्म में कामभोग (सासारिक सुख) पाने की तीव्र अभिलाषा।

गृहस्थ की योग साधना

गृहस्थ साधक के पाँच अणुव्रत मूलगुण कहलाते हैं और सात उत्तर गुण (३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत) है। मूलगुणों के रूप में वह योग के प्रथम

अग—यम की साधना करता है और उत्तरगुणो के रूप में अष्टांगयोग के द्वितीय अग नियम की। सामयिक और पौपधोपवास व्रतो मे तो वह आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि योग के अन्य अंगो की भी साधना करता है, उन सोपानो पर भी अपने कदम रखता है। सामायिक के अन्तर्गत वह छह आवश्यक—(१) समताभाव, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) गुरुवन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान करता है। इनमें कायोत्सर्ग तो ध्यान ही है, क्योकि इसमें ध्यान की आराधना-साधना की जाती है। और समताभाव—यही तो योग का लक्ष्य है; योग, विशेष रूप से अध्यात्मयोग का लक्ष्य ही समताभाव की पूर्णरूपेण प्राप्ति है। इसी प्रकार पौषध मे भी साधक तप-ध्यान-आत्मचिन्तन आदि स्थिर आसन से करता है। वह स्वाध्याय आदि के रूप में तप की साधना करता है।

इन सभी (बारह) व्रतो का वास्तविक उद्देश्य तो मन-वचन-काय की वृत्तियो को सीमित करना—निरोध करना है और चित्तवृति का निरोध ही तो योग साधना का एक मात्र लक्ष्य और केन्द्रबिन्दु है। इसीलिए गृहस्थ साधक को भी भारत की सभी परंपराओ मे गृहस्थयोगी कहा गया है।

गृहस्थयोगी साधक जब अपने ग्रहण किये हुए यम-नियमो (बारह-व्रत) की साधना मे परिपक्व हो जाता है, उनका निरतिचार निर्दोष पालन करने लगता है और वह देखता है कि उसका बल-वीर्य उत्थान आदि अभी उचित परिमाण मे है तब वह विशिष्ट साधना की ओर उन्मुख होता है।

गृहस्थयोगी की विशिष्ट साधना-प्रतिमा

श्रावक की यह विशिष्ट साधना जैन आगमो तथा शास्त्रों मे प्रतिमा के नाम से कही गई है।

प्रतिमा का आशय—प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष अथवा अभिग्रहविशेष है। साधक अपना गृहस्थ तथा समाज-सम्बन्धी समस्त दायित्व छोड़कर (पुत्रादि को देकर) धर्म-स्थानक मे जाकर, तथा ससार से यथाशक्ति निर्लेप रहकर इन प्रतिमाओ की साधना-आराधना करता है। गृहस्थयोगी की प्रतिमाएँ ग्यारह (११) हैं—

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सचित्तत्याग, (८) आरम्भत्याग, (९) प्रेष्य परित्याग अथवा परिग्रह परित्याग, (१०) उद्दिष्टभक्तत्याग तथा (११) श्रमणभूत।

इन प्रतिमाओ की साधना[1] करते समय गृहस्थ साधक योगी के समान हो जाता है, उसके आचार-विचार और व्यवहार में विशिष्टता आ जाती है, उसकी आत्मगति ऊर्जस्वी हो जाती है, उत्कृष्ट भावो से आराधना करने पर उत्तम साधक को विशिष्ट लब्धियाँ भी प्राप्त हो जाती है, जैसे कि आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान (clairvoyance) प्राप्त हुआ था।

अतः गृहस्थ साधक वस्तुतः गृहस्थयोगी ही होता है। □□

---

१ इन प्रतिमाओ की साधनाविधि आदि का विशेष वर्णन प्रतिमायोग पृष्ठ १४१-१५३ मे किया गया है।

□ इस सपूर्ण अध्याय मे वर्णित श्रावकाचार के आधार ग्रथ ये हैं—(१) उपासकदशाग सूत्र (गणधर सुधर्मा प्रणीत—द्वादशाग वाणी का सप्तम अग), (२) स्थानागसूत्र (तृतीय अगसूत्र), (३) धर्मबिन्दु (हरिभद्रसूरि), (४) योगशास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र) (५) नीतिवाक्यामृत (सोमदेव सूरि) (६) आवश्यक सूत्र (७) तत्त्वार्थ सूत्र (उमास्वाति), (८) योगशतक, (९) उपासकाध्ययन, (१०) समीचीन धर्मशास्त्र, (११) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, (१२) रत्नकरड श्रावकाचार, (१३) वसुनन्दि श्रावकाचार, (१४) चारित्रसार, (१५) सागार धर्मामृत, (१६) अमितगति श्रावकाचार आदि-आदि।

२ योग की आधारभूमि : श्रद्धा और शील [२]

[गृह-त्यागी श्रमण का योगाचार]

जब गृहस्थयोगी (श्रावक) अपने व्रतो का समुचित पालन करने का अभ्यस्त हो जाता है तब उसकी वैराग्य भावना और भी दृढ हो जाती है, यह संसार और सांसारिक सम्बन्ध उसे भारभूत और बन्धन प्रतीत होने लगते है, वह गृहस्थयोगी की भूमिका से ऊपर उठकर ससारत्यागी श्रमण बन जाता है। अहिंसा आदि जिन व्रतो और नियमो का वह आशिक रूप से पालन करता था, श्रमण बनकर वह उन अहिंसादि व्रतो का पूर्ण रूप से पालन करने लगता है।

श्रमण : सम्पूर्ण योग का आराधक

श्रमण (साधु) अध्यात्मप्रधान जैन सस्कृति का मूल आधार और केन्द्र-बिन्दु है। उसी के नाम पर जैन सस्कृति तथा निर्ग्रन्थ धर्म, श्रमण संस्कृति और श्रमण धर्म कहा जाता है। उसका सम्पूर्ण आचार-विचार और व्यवहार योगमय होता है। उसके सयम का दूसरा नाम योग ही है। यह योग श्रमण के जीवन का मूल मन्त्र है। संसारत्यागी और आत्मचिन्तक होने के कारण वह योग के सभी मार्गों का सम्यक् रूप से पालन करने मे सक्षम होता है। योगसिद्धि के लिए श्रमण चर्या सहायक और आधारभूत है। उसके बाह्य और आन्तरिक सम्पूर्ण जीवन मे योग साकार होता है। श्रमण की सम्पूर्ण चर्या, उसके गुणो, व्रतो आदि सब मे योग की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

साधु के मूल और उत्तर गुण

साधु मे कुछ विशिष्ट गुण होने आवश्यक है; सिर्फ वेष, लिंग, जाति आदि के आधार पर कोई साधु नही कहला सकता है। साधु गुणो के कारण होता है[1] और उसकी प्रतीति का आधार भी गुण ही है। गुणो को धारण

---

१ (क) नाणदसणसम्पन्न, सजमे य तवे रय।
एव गुण समाउत्त, सजय साहुमालवे॥ —दशवै० अ० ७, गा० ४९

(ख) गुणेहि साहू अगुणेहि असाहू। —दशवै० अ० ९, उ० ३, गा० ११

करने से ही श्रमण छह काया के प्रतिपालक होते है और अपनी आत्मा का उद्धार करते है।

आगमो में साधु के सत्ताइस गुण[1] बताये गये हैं, तथा उनके उत्तरगुण सत्तर है।[2]

साधुओ के सत्ताइस (२७) गुण ये है—

(१-५) पाँच महाव्रतो [(१) सर्व प्राणातिपातविरमण, (२) सर्व मृषा-वाद-विरमण, (३) सर्व अदत्तादानविरमण, (४) सर्व मैथुनविरमण और (५) सर्व परिग्रहविरमण] का पालन।

(६-१०) पंचेन्द्रियनिग्रह (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन)—इन पांच इन्द्रियों को विषयाभिमुख न होने देना।

(११-१४) चतुर्विध कषाय-विवेक (क्रोध, मान, माया, लोभ)—इन चार कषायो पर विजय प्राप्त करना।

(१५) भावसत्य, (१६) करणसत्य, (१७) योगसत्य, (१८) क्षमा, (१९) विरागता (२०) मन-समाहरणता, (२१) वाक्-समाहरणता, (२२) काय-समाहरणता, (२३) ज्ञानसम्पन्नता, (२४) दर्शनसम्पन्नता, (२५) चारित्र-सम्पन्नता, (२६) वेदना समाध्यासना, (२७) मारणान्तिक समाध्यासना।

कुछ प्रकरण ग्रन्थो मे दूसरी अपेक्षा से भी साधु के २७ गुण बताये है। वे इस प्रकार हैं—

(१-५) पाँच महाव्रत, (६-११) जीवकायसंयम (पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय का संयम) (१२-१६) पचेन्द्रियनिग्रह, (१७) लोभनिग्रह, (१८) क्षमा, (१९) भावविशुद्धि, (२०) प्रति-लेखना विशुद्धि, (२१-२२) सयम-योगयुक्ति, (२३) कुशलमन-उदीरणा, अकु-शलमन-निरोध, (२४) कुशल वचन उदीरणा, अकुशल वचन निरोध, (२५)

---

१ (क) सत्तावीस अणगार गुणा पण्णत्ता। —समवायाग, २७वाँ समवाय

(ख) पंच महव्वय जुत्तो पचेन्दियसवरणो,
चउविह कसाय मुक्को तओ समाधारणीया।
तिसच्चसम्पन्न तिओ खति सवेगरओ,
वेयणमच्चुभयगय साहु गुण सत्तावीस॥

२ पिण्डविसोही समिई भावणा पडिमा य इन्दियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु॥
—ओघनिर्युक्ति भाष्य, पृ० ६

कुशल काय उदीरणा, अकुशल काय निरोध, (२६) शीतादि पीड़ा सहन, (२७) मारणान्तिक उपसर्ग सहन।

किन्तु इन २७ गुणो का अन्तर्भाव समवायागसूत्र कथित २७ गुणो मे हो जाता है।

पाँच महाव्रत

साधु के सर्वप्रथम और अति आवश्यक व्रत—पाँच महाव्रत हैं। श्रमण सर्वविरत होता है, वह तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदना) और तीन योग (मन-वचन-काया) से व्रत लेता है। इसीलिए उसके अहिंसा आदि व्रत महाव्रत कहलाते है। महाव्रत पाँच है—(१) अहिंसा महाव्रत, (२) सत्य महाव्रत, (३) अदत्तादान व्रत, (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत, (५) अपरिग्रह महाव्रत।[1] ये श्रमण के मूलव्रत है, और अष्टांगयोग की भाषा मे इन्हें 'यम' कहा जाता है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार महाव्रत जाति-देश, काल (वेष, सम्प्रदाय निमित्त) आदि की सीमाओ से मुक्त एक सार्वभौम साधना है।[2]

(१) अहिंसा महाव्रत : समत्व साधना

इसका आगमोक्त नाम 'सर्वप्राणातिपातविरमण' है।

हिंसा का लक्षण देते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार ने कहा है—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा

—प्रमाद से अपने या दूसरो के प्राणो को घात करना हिंसा है। और श्रमण इस हिंसा का त्याग तीन करण और तीन योग कर देता है, वह अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करता है।

यद्यपि भाषा की दृष्टि से अहिंसा निषेधात्मक शब्द है किन्तु इसका विधेयात्मक रूप भी है और वह है—प्राणि-रक्षा, जीव-दया, अभयदान, सेवा, क्षमा, मैत्री, आत्मौपम्य भाव आदि। श्रमण निषेधात्मक रूप से किसी भी प्राणी की हिंसा किसी भी प्रकार से न करता है, न कराता है और न अनुमोदना करता है—मन से, वचन से काया से। साथ ही वह अहिंसा के विधेयात्मक रूप का भी पालन करता है—जीव-दया, विश्वकल्याण भावना तथा अपने उपदेशो और उज्ज्वल चारित्र से प्रेरणा देकर लोगों को धर्म की ओर उन्मुख करके।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २१/१२

२ जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। —योगदर्शन २/३१

अहिंसा महाव्रत का साधक जीव मात्र के प्रति करुणाशील एवं निर्वैर हो जाता है।[1]

अहिंसा के स्वरूप को समझने के लिए प्राणों को जानना आवश्यक है; क्योंकि प्राणों को हानि पहुँचाना ही हिंसा है और प्राणरक्षा ही अहिंसा है। प्राण दस प्रकार के है—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय प्राण, (३) घ्राणिन्द्रिय प्राण, (४) रसनेन्द्रिय प्राण, (५) स्पर्शेन्द्रिय प्राण, (६) मनोबल प्राण, (७) वचन-बल प्राण, (८) कायवल प्राण, (९) श्वासोच्छ्वास प्राण, (१०) आयु प्राण।

इन प्राणों को धारण करने वाले जीव को प्राणी कहते है। प्राणी के किसी भी एक अथवा सभी प्राणों को घात करना हिंसा है। श्रमण आजीवन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से संपूर्ण हिंसा का त्याग कर देता है। यही उसका अहिंसा महाव्रत है।

अष्टांगयोग में 'अहिंसा' यम का पहला भेद है, इस प्रकार श्रमण अहिंसा महाव्रत का पालन करके योग-मार्ग पर आगे बढता है। वस्तुतः अहिंसा योग का आधार है, और इस महाव्रत का पालन करके श्रमणयोगी योग की आधारभूमि को ही मजबूत बनाता है।

अहिंसा महाव्रत की स्थिरता के लिए श्रमण-योगी पाँच भावनाओ का अनुपालन करता है।

ये भावनाएँ है—

(१) **ईर्यासमिति भावना**—स्वयं को या अन्य किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट या पीड़ा न हो, इसलिए जीवो की रक्षा करते हुए देख-भालकर या पूँजणी से पूँजकर मार्ग चलना।

(२) **मनोगुप्ति भावना**—मन को सदा शुभ और शुद्ध ध्यान में लगाये रखना, गुणी और ज्ञानी जनो के प्रति प्रमोद भाव और अधर्मी-पापी जनो के प्रति दया भाव—कल्याण भाव रखना।

(३) **एषणा समिति भावना**—वस्त्र, पात्र, आहार, स्थान आदि वस्तुओ की गवेषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा—इन तीन एषणाओ में दोष न लगने देना, निर्दोष वस्तु के उपयोग का ध्यान रखना।

(४) **आदान निक्षेपणा समिति भावना**—वस्त्र, पात्र, शास्त्र, आहार,

---

१ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः। —योगदर्शन २/३५

पानी आदि किसी वस्तु को उठाते, रखते या छोडते समय प्रमाणोपेत दृष्टि से प्रतिलेखना-प्रमार्जन-पूर्वक ग्रहण करना, रखना, छोडना।

(५) आलोकित पान-भोजन भावना—भोजन-पान की वस्तु को भलीभाँति देखकर लेना तथा सदैव देख-भालकर, स्वाध्याय आदि करके, गुरु-आज्ञा प्राप्त करके, सयमवृद्धि के लिए शांत एवं समत्व भाव से स्तोक मात्र आहार ग्रहण करना[1]।

(२) सत्यमहाव्रत : योग का आधार

इसका आगमोक्त नाम 'सर्वमृषावादविरमण' है।

सत्य, योग का प्रकाश दीप है। श्रमणयोगी की सम्पूर्ण चर्या, साधना और उपासना यहाँ तक कि उसके जीवन के अणु-अणु में प्रकाश एव तेजस्विता सत्य ही देता है। श्रमणयोगी हृदय मे सत्य का दीपक सदैव प्रज्वलित रखता है।

श्रमणयोगी बिल्कुल भी असत्याचरण नही करता। सत्य तथ्य को प्रगट करता है और सदा हित-मित-प्रिय वचन बोलता है। इस प्रकार वह वचन योग की साधना करता है तथा अष्टागयोग के प्रथम अग यम के द्वितीय भेद सत्य की त्रिकरण-त्रियोग से साधना करता है और सत्य में ही स्थिर रहता है।

सत्य महाव्रत में स्थिर रहने की पाँच भावनाएँ[2] हैं—

(१) अनुवीचि भाषण—निर्दोष, मधुर और हितकर वचन बोलना, कटु सत्य न बोलना तथा शीघ्रता और चपलता से बिना विचार किये न बोलना।

(२) क्रोधवश भाषण वर्जन—क्रोध के आवेश में न बोलना। क्योकि क्रोध की तीव्रता मे मुँह से कठोर वचन निकल जाते है, जिससे सुनने वाले का दिल दु:खी होता है।

(३) लोभवश भाषण वर्जन—लोभ के वशीभूत होकर भी झूठ बोला जाता है, अत: लोभ के उदय मे साधु को भाषण करना—बोलना नही चाहिए।

(४) भयवश भाषण वर्जन—मिथ्याभाषण का भय भी एक प्रमुख

---

१ आचाराग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १५, सूत्र ७७८

२ वही, सूत्र ७८०-८१-८२

कारण है, अतः साधु के सामने जब भय का कारण उपस्थित हो तब उसे भाषण का त्याग करके मौन धारण कर लेना चाहिए।

(५) **हास्यवश भाषण वर्जन**—हँसी-मजाक मे भी मुँह से झूठ वचन निकल जाने की सम्भावना रहती है। अतः साधु को हास्य नोकषाय के उदय में भाषण का त्याग करके मौन धारण करना चाहिए।

इन भावनाओ द्वारा श्रमणयोगी विशेष स्थितियो मे मौन धारण करके योग के मौन अग (भाषण वर्जनता) की साधना करता है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है—सत्य में दृढ स्थिति हो जाने पर साधक की वाणी सत्य क्रिया—अर्थात् शाप, वरदान, आशीर्वाद देने में पूर्ण सक्षम हो जाती है।[1]

(३) अचौर्य महाव्रत . अनासक्तियोग का प्रारम्भ

इसका आगमोक्त नाम **'सव्वाओ अदिन्नादाणाओ विरमण'—'सर्व अदत्तादान विरमण'** है।

'बिना दिये हुए किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु को न लेना' यह इस महाव्रत का निषेधात्मक रूप है; इसका विधेयात्मक रूप फलित होता है कि श्रमणयोगी को अपने लिए आहार-पानी आदि सभी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुएँ उन वस्तुओ के स्वामी द्वारा सहर्ष दिये जाने पर ही ग्रहण करनी चाहिए।

इस महाव्रत की पाँच भावनाएँ[2] ये है, जो इसको (अचौर्य महाव्रत को) स्थिरता प्रदान करती है।

(१) **सोच-समझकर वस्तु-स्थान आदि की याचना**—साधु को भलीभाँति विचार करके ही वस्तु या स्थान के स्वामी से आवश्यक वस्तुओ की याचना करनी चाहिए।

(२) **गुरु-आज्ञा से आहार**—श्रमणयोगी विधि-पूर्वक लाये हुए आहार को भी पहले गुरु को दिखाये और फिर उनकी अनुमति प्राप्त होने पर भोजन करे।

इसके अतिरिक्त गुरु, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, ज्ञानी और नवदीक्षित मुनि की वैयावृत्य न करना, सेवा से जी चुराना भी चोरी है। अत श्रमणयोगी सेवा का अवसर आने पर पीछे न हटे, जी न चुरावे।

---

१ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।   —योगदर्शन २/३६

२ आचाराग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १५, सूत्र ७८४

(३) **परिमित पदार्थ ग्रहण करना**—श्रमण को स्थान, आहार, उपकरण आदि ग्रहण करते समय अपनी मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए। दूसरे शब्दो मे मर्यादा से अधिक पदार्थों को ग्रहण न करे।

(४) **बार-बार पदार्थों की मर्यादा ग्रहण करना**—श्रमण को अपने स्वीकृत अभिग्रह की मर्यादा को बार-बार ग्रहण करके और भी संकुचित करते रहना चाहिए।

(५) **साधर्मिक अवग्रह याचन**—सांभोगिक साधुओ से आवश्यकता होने पर पात्र, उपकरण, वसति आदि की याचना करनी चाहिए।[1]

इन भावनाओ से श्रमणयोगी अपनी वृत्तियो को और भी संकुचित करता है। याचना मे उसमें विनम्रता और निरभिमानता आती है, तथा वस्तुओ के प्रति आसक्ति भाव कम होता है। साधक का मन जब वस्तुमात्र के प्रति अनासक्त हो जाता है तो जगत् का समस्त वैभव, गुप्त खजाने उसके लिए मिट्टी तुल्य हो जाते है तथा इस अनासक्ति योग की चरम स्थिति मे पृथ्वी के समस्त रत्न उसके समक्ष प्रकट हो जाते है।[2]

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत : चेतना का ऊर्ध्वारोहण

ब्रह्मचर्य की साधना योग के लिए आधार-बिन्दु है, बिना ब्रह्मचर्य की साधना किये योग-मार्ग पर एक भी कदम आगे रखना असंभव है। जब तक योगी ब्रह्मचर्य की साधना नही करता, वह ऊर्ध्वरेता नही बन सकता। उसकी साधना का तेजोबिन्दु ब्रह्मचर्य ही है, इसी से उसकी तपःसाधना मे तेज बढता है और तैजस् शरीर बलवान बनता है, उसमे चमक और प्रकाश की किरणें प्रस्फुटित होती हैं।[3]

सर्वविरत श्रमणयोगी नवकोटि और नवबाड सहित पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। उसके त्रियोग (मन-वचन-काया) ब्रह्मचर्य मे ही स्थित रहते हैं, अब्रह्म सम्बन्धी विचार भी उसके अन्तर्मानस मे नही उठते। वह सर्वतोभावेन ब्रह्मचर्य मे लीन रहता है और उसकी रक्षा के लिए सदैव सन्नद्ध रहता है।

---

१ आवश्यकचूर्णि मे इन पाँच भावनाओ का क्रम दूसरी प्रकार से दिया गया है।
—देखिए—आवश्यकचूर्णि, प्रतिक्रमणाध्ययन, १४३-१४७

२ अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम्। —योगदर्शन २/३७

३ योगदर्शन २/३८

ब्रह्मचर्य महाव्रत की स्थिरता के लिए पाँच भावनाएँ है[1]—

(१) **रागपूर्ण स्त्री-कथा त्याग**—श्रमणयोगी स्त्री सम्बन्धी कथा या वार्ता नही करता और न सुनता ही है।

(२) **मनोहर अंगो के अवलोकन का त्याग**—श्रमणयोगी स्त्रियो के कामवर्धक और मनोहर अंगो की ओर दृष्टि-निक्षेप भी नही करता।

(३) **पूर्व रति-स्मरण त्याग**—श्रमण ने अपने गृहस्थ जीवन में (दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व) जो स्त्री-सम्बन्धी सुख भोगे हों, उनका उसे स्मरण नहीं करना चाहिए।

(४) **प्रणीत रस भोजन वर्जन**—श्रमण का कर्तव्य है कि वह कामवर्धक, रसीले, स्वादिष्ट और गरिष्ठ आहार का त्याग करे। क्योंकि ऐसे आहार से चित्त चंचल हो जाता है। साथ ही आहार की मात्रा भी कम रखे, अधिक आहार भी विकारवर्द्धक होता है।

(५) **शयनासन वर्जन**—स्त्री-पशु-नपुंसक आदि के द्वारा स्पर्शित आसन शय्या आदि का साधु उपयोग न करे। यदि उस आसन-शय्या आदि का उपयोग करना विवशता ही हो तो उनके उठने के एक मुहूर्त बाद उसका उपयोग कर सकता है, किन्तु सामान्यतः उपयोग नही करना चाहिए।

(५) अपरिग्रह महाव्रत : निस्पृह योग

परिग्रह का आशय यहाँ भाव और द्रव्य परिग्रह दोनो से है। साधक श्रमण को निर्ग्रंथ कहते है और ग्रंथ का अभिप्राय परिग्रह है। निर्ग्रंथ अपरिग्रही होता है। उसके अन्तर्मन में निर्ममत्व होता है। बाह्य धार्मिक उपकरणो में तो उसका ममत्व होता ही नही; किन्तु वह अपने शरीर के प्रति भी मोह-ममत्व नही रखता।

परिग्रह अथवा ममत्व भाव अशांति का कारण होता है और अशांत चित्त कभी एकाग्र नही हो सकता और जिस साधक का चित्त एकाग्र न हो सके वह योग साधना कैसे कर सकता है। अतः अपरिग्रह योग साधना में सहायक होता है। पातंजल दर्शन के व्याख्याकार महर्षि व्यास का कथन है कि अपरिग्रह की भावना सुदृढ होने पर साधक के चित्त की चचलता एवं कलुषता धुल जाती है, मन निर्मल जल प्रवाह की भांति शान्त हो जाता है

---

१ आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कध, अध्ययन १५, सूत्र ७८६-८७

और शान्त चित्त में पूर्वजन्मो की स्मृति उभरने लगती है। अपरिग्रह भाव से भावित मन पूर्वजन्म—जातिस्मरण बोध को प्राप्त होता है।[1]

जैन आगमो में भी वैराग्य या निर्वेद मे लीन होने पर अनेक भव्यो को जातिस्मरण ज्ञान की उत्पत्ति के उदाहरण मिलते है।

श्रमण भी योग साधना के लिए दीक्षा लेता है। वह अपनी योग साधना अपरिग्रह महाव्रत का पालन करके आगे बढाता है।

इस महाव्रत की पांच भावनाएँ[2] है—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति—प्रिय-अप्रिय, कोमल-कठोर शब्दो को सुनकर श्रमण उसमे राग-द्वेष न करे।

(२) चक्षुइन्द्रिय रागोपरति—सुन्दर-असुन्दर, सुरूप-कुरूप आदि चक्षु इन्द्रियो से देखे जाने वाले विभिन्न प्रकार के रूपो में साधु को राग-द्वेष नही करना चाहिए।

(३) घ्राणेन्द्रिय रागोपरति—सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि में साधु राग-द्वेष न करे।

(४) रसनेन्द्रिय रागोपरति—साधु को विभिन्न प्रकार के रसो मे राग-द्वेष न करके उनसे उदासीन रहना चाहिए।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति—साधु को अपने जीवन में शीत-उष्ण, हल्का-भारी आदि अनेक प्रकार के स्पर्श का अनुभव होता है, किन्तु उसे उनमे राग-द्वेप न करके मन में शान्ति बनाये रखनी चाहिए।

इस प्रकार श्रमणयोगी पाँच महाव्रतो का पालन इन पच्चीस (२५) भावनाओ (प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ) के साथ करता है और परिणामस्वरूप अपने चित्त में शान्ति (राग-द्वेष न करने के कारण) बनाये रखता है।

इन पाँच यमो का महत्त्व उसके जीवन में अत्यधिक है, ये उसके मूल गुण है और योग के प्रथम सोपान हैं। श्रमण अपने स्वीकृत महाव्रतो द्वारा योग की साधना करता है और आत्म शान्ति की दिशा में आगे बढता है।

श्रमणाचार की अपेक्षा पाच महाव्रत श्रमण के मूलव्रत हैं तथा शेष बाईस गुण उसके अन्य गुण है।

---

१ योगदर्शन, भाष्य २/३९

२ आचाराग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १५, सूत्र ७८८-७९१

योग की अपेक्षा पांच महाव्रतो को 'यम' की संज्ञा दी जाती है और शेष २२ गुणो को 'नियम' (योग के दूसरे अंग) की कोटि मे परिगणित किया जा सकता है।

श्रमण के अन्य आवश्यक गुण ये है—

(६ १०) पचेन्द्रियनिग्रह (इन्द्रिय-प्रत्याहार)—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन —ये पाँच इन्द्रियाँ है। ये अपने-अपने विषयो की ओर दौड़ती है। इन्हें इनके विषयो से हटाकर आत्मा मे लगाना ही इन्द्रियनिग्रह है।

(११-१४) चतुर्विध कषाय विवेक (शान्ति योग)—कषाय चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कषायो के आवेग में बहकर ही मनुष्य भाँति-भाँति के पाप और अकरणीय कार्य करता है। श्रमणत्व ग्रहण किया हुआ योगी, इन कषायो के आवेग का दमन नही, परिमार्जन करता है, जिससे उसकी चित्तविशुद्धि होती है, आत्मा पर से राग-द्वेष का मल दूर होता है, आत्मज्योति प्रगट होती है।

(१५) भावसत्य—अपने अन्तःकरण से आस्रवों (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह) को दूर करके, धर्मध्यान-शुक्लध्यान द्वारा शुद्ध आत्मिक भावो का अनुप्रेक्षण करके, आत्मभावो में सत्य की स्फुरणा करना, भाव सत्य कहलाता है। श्रमणयोगी भावसत्य द्वारा अपनी अन्तरात्मा की तथा चित्त की विशुद्धि करता है।

(१६) करणसत्य—करण का आशय है—जिस अवसर पर जो क्रिया करने योग्य हो, उसे उसी अवसर पर करना। संपूर्ण धार्मिक क्रियाओ को सत्य रूप में और अवसर के अनुकूल करना चाहिए। करणसत्य भाव-सत्य में सहायक है।

करण के सत्तर[1] प्रकार है। इन्हें यथाविधि करना ही करणसत्य है।

करण के सत्तर भेद ये है—अशन आदि ४ प्रकार की पिंडविशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ भिक्षु प्रतिमा[2], ५ इन्द्रिय-निरोध, २५ प्रकार का प्रतिलेखन, ३ गुप्तियाँ, ४ प्रकार का अभिग्रह।

(१७) योगसत्य—मन-वचन-काया—इन तीनो योगो को श्रमणयोगी शम, दम, उपशम और आत्म-साधना मे लगाता है, यही उसका योगसत्य ही

---

१ पिंडविसोही, समिई, भावणा, पडिमाय इंदियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करण तु ॥ —ओघनिर्युक्तिभाष्य

२ १२ भिक्षु प्रतिमाओ का वर्णन 'प्रतिमा योग' मे देखिए। —सम्पादक

इस प्रकार इन तीनो योगो में सरलता और सत्य ओत-प्रोत हो जाता है, और योगी अपनी आध्यात्मिक साधना मे सफलता की ओर बढता है।

(१८) **क्षमा**—यह योगी का विशिष्ट लक्षण है। कैसी भी क्रोध उत्पन्न करने वाली स्थिति-परिस्थिति हो, किन्तु वह क्षमा रखता है, क्रोध नही करता, क्योकि क्रोध आत्म-साधना के मार्ग मे बहुत बड़ा रोड़ा है।

(१९) **विरागता**—आध्यात्मिक योग-मार्ग में आगे बढने के लिए विरागता—सांसारिक भोगो से वैराग्य अति आवश्यक है। वैराग्य के बिना वह योग-मार्ग पर एक कदम भी नही रख सकता, उसकी रुचि ही योग की ओर न होगी।

(२०) **मन समाहरणता**—मन की अकुशल प्रवृत्ति को रोककर उसे कुशल प्रवृत्ति (शुभ-भावो) में लगाना मनःसमाहरणता है। समाहरण का अभिप्राय मन को अन्य वृत्तियो से रोककर किसी एक वृत्ति पर स्थिर करना है। यह म ।ेा प्रत्याहार है, जो योग का एक आवश्यक अंग है। श्रमणयोगी मनःसमाहरण द्वारा मन-प्रत्याहार की साधना करता है।

(२१) **वाक्समाहरणता**—यह वचन का प्रत्याहार है। वाक् को स्वाध्याय आदि में लगाना, अथवा मौन रहना वाक्समाहरणता है।

(२२) **कायसमाहरणता**—शरीर को स्थिर एव अचचल रखना, काय-समाहरणता है। इस गुण से योगी को आसन-सिद्धि में सहायता प्राप्त होती है।

(२३) **ज्ञानसम्पन्नता**—श्रमण को जितना भी अधिक सम्भव हो सके, ज्ञान का उपार्जन करके ज्ञानसम्पन्नता का गुण अर्जित करना चाहिए।

(२४) **दर्शनसम्पन्नता**—अपने सम्यग्दर्शन को दृढ रखना, उसकी सुरक्षा करना श्रमण का दर्शनसम्पन्नता नाम का गुण है।

(२५) **चारित्रसम्पन्नता (सम्पूर्ण योग की साधना)**—चारित्र का लक्षण वताते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा कर्मों का चय (सचय) रिक्त हो, उसे चारित्र कहते है।

चारित्र के पाँच भेद हैं—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहार-विशुद्धि, (४) सूक्ष्म-सपराय, (५) यथाख्यात।[1]

(१) **सामायिक चारित्र**—जिससे सावद्ययोग से निवृत्ति हो, राग-द्वेष की

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २८/३२-३३

उपशान्ति हो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप समत्व की उपलब्धि हो, उसे सामायिक चारित्र कहा जाता है।

इस चारित्र द्वारा श्रमण समत्वयोग की भूमिका पर आरूढ हो जाता है।

(२) **छेदो पस्थापनीय चारित्र**—नव-दीक्षित साधु-साध्वी सर्वप्रथम सामायिक चारित्र ग्रहण करता है। उसे ग्रहण करने के जघन्य (कम से कम) ७ दिन, मध्यम ३ मास और उत्कृष्ट ६ मास के पश्चात् जब वह प्रतिक्रमण भली-भाँति सीख जाता है, तब गुरुदेव द्वारा पाँच महाव्रतारोपण रूप जो चारित्र दिया जाता है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है। इसमें पूर्व-पर्याय का व्यवच्छेद करके उत्तरपर्याय का स्थापन—महाव्रतो का आरोपण किया जाता है, इसलिए इस चारित्र को छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते है।

(वर्तमान युग में इसे बड़ी दीक्षा कहा जाता है।)

(३) **परिहारविशुद्धि चारित्र**—दोष लग जाने पर अथवा बिना ही दोष लगे, कर्ममल को दूर करने के लिए तथा आत्मा की शुद्धि के लिए जो विशिष्ट साधना की जाती है, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहा जाता है।

(४) **सूक्ष्मसम्पराय चारित्र**—इस चारित्र में लोभ कषाय को सूक्ष्म किया जाता है।

(५) **यथाख्यात चारित्र**—इस चारित्र मे कषायो का पूर्ण नाश हो जाता है, तथा आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रगट हो जाते है।

यह चारित्र श्रमण के चारित्रसम्पन्नता की पूर्णता और उत्कृष्ट स्थिति है।

इस प्रकार श्रमणयोगी सामायिक चारित्र अथवा समता की साधना से प्रारम्भ करके शनैः-शनैः ऊपर की ओर चढ़ता हुआ समताभाव की पूर्णता अथवा यथाख्यात चारित्र प्राप्त कर लेता हैं, अरिहन्त बन जाता है, जीवन-मुक्त हो जाता है और योग-मार्ग के उच्चतम विन्दु पर पहुँच जाता है।

(२६) **वेदना समाध्यासना**—श्रमणयोगी किसी भी प्रकार की पीड़ा, कष्ट, वेदना आदि को समभावपूर्वक सहता है, राग-द्वेष आदि कषाय भाव नही करता। वस्तुतः वेदना समाध्यासना श्रमण की तितिक्षा की परीक्षा है।

इन कष्टों को शास्त्रीय भाषा में परीषह कहा गया है। इन परीषहो पर श्रमणयोगी समताभाव से विजय प्राप्त करता है। शास्त्रो में इन परीषहों की संख्या २२ बताई गई है—

(१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंशमशक, (६) अचेल, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण-स्पर्श, (१८) जल्ल (पसीना), (१९) सत्कार-पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान, (२२) अदर्शन।[1]

(२७) *मारणान्तिक समाध्यासना*—मारणान्तिक वेदना, कष्ट एवं उपसर्ग-परीषह को भी समभाव से सहन करना, मारणान्तिक समाध्यासना कहलाता है। श्रमणयोगी मृत्युतुल्य कष्ट को भी पूर्ण शान्ति और आत्मभाव में रमण करते हुए सहता है।

ये श्रमण के २७ गुण है जिनका पालन श्रमण के लिए अनिवार्य है।

श्रमण-गुण बनाम योग-मार्ग

यदि गहराई से विचार किया जाय तो सम्पूर्ण श्रमणाचार योग-मार्ग ही हैं। अहिंसा महाव्रत द्वारा वह समत्वयोग की साधना करता हैं। सत्य तो योग का आधार है ही। ब्रह्मचर्य द्वारा वह अपनी चेतना का ऊर्ध्वारोहण करता है तथा अपरिग्रह महाव्रत की साधना तो निस्पृह योग की साधना ही है।

इसी प्रकार पाँचो इन्द्रियो का निग्रह—इन्द्रियों का प्रत्याहार है तथा कषायो के आवेग को रोकना शान्ति योग है—जो अध्यात्मयोग का एक आवश्यक पहलू है। योगसत्य द्वारा श्रमण अपने मन-वचन-काय तीनो योगो को वश में करता है। वेदना समाध्यासना द्वारा वह तितिक्षा भाव की वृद्धि करके 'लययोग' की उच्चतम सीमा तक पहुँचता है तो चारित्र सम्पन्नता द्वारा अर्हन्त अथवा जीवन-मुक्त की स्थिति प्राप्त करता है।

इस प्रकार श्रमणयोगी अपने श्रमणाचार (महाव्रत यानी मूलव्रत और उत्तरव्रतो की साधना) द्वारा सम्पूर्णयोग की साधना करता है। □□

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र—परीषह विभक्ति, दूसरा अध्ययन।

३ विशिष्ट योग-भूमिका—प्रतिमायोग-साधना

प्रतिमा का आशय

जब साधक अपने द्वारा स्वीकृत एवं अगीकृत व्रत-नियमो, मूलव्रत, उत्तरव्रत, यम-नियमो का पालन भली-भाँति करने लगता है और उनके पालन में परिपक्व हो जाता है तो वह आगे अपने चरण विशिष्ट साधना की ओर बढ़ाता है। इस विशिष्ट साधना मे वह दृढ़तापूर्वक विशेष नियम ग्रहण करता है और उनका सम्यक् परिपालन करता है, किसी भी भयकर से भयंकर और विपरीत स्थिति में वह अपने स्वीकृत नियम से विचलित नही होता।

ऐसे विशिष्ट नियम गृहस्थ साधक भी ग्रहण करता है और ससार-त्यागी श्रमण-साधक भी। दोनों ही अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रतिज्ञा ग्रहण करते है। मर्यादा एवं व्रत तथा योग्यता, क्षमता के आधार पर दोनो के ही नियम और प्रतिज्ञाएँ अलग-अलग होती है।

इन विशिष्ट नियमों और साधना पद्धति का नाम ही 'प्रतिमा-योग' है।

प्रतिमा का अभिप्राय है—प्रतिज्ञा-विशेष, व्रत विशेष,[1] तप-विशेष; विशेष साधना पद्धति एवं कोई दृढ़ कठोर सकल्प।

प्रतिमाओ के दो भेद है—(१) श्रावक-प्रतिमा और (२) श्रमण-प्रतिमा।

(1) श्रावक प्रतिमा

(गृहस्थयोगी की विशिष्ट साधना भूमिकाएँ)

जिस प्रकार किसी ग्यारह (११) मजिल के भवन की सबसे ऊँची मंजिल पर पहुँचने के लिए सोपानो को पार किया जाता है, उसी प्रकार गृहस्थयोगी भी अपने श्रावकधर्म के चरम शिखर तक पहुँचने के लिए ११

---

१ (क) प्रतिमापतिपत्ति प्रतिज्ञेति यावत्। —स्थानाग वृत्ति, पत्र ६१

(ख) प्रतिमा—प्रतिज्ञा अभिग्रहः। —वही, पत्र १८४

प्रतिमाओ की साधना करता है। ये ११ प्रतिमाएँ उसकी साधना की भूमिकाएँ है, जो उत्तरोत्तर उसका आत्मिक विकास करती हैं, उसकी आत्मा का योग—सयोग आत्मिक गुणो से कराती हैं। ये गृहस्थ साधक के आत्मिक विकास के सोपान है और है विशिष्ट साधना भूमिकाएँ।

इन साधना भूमिकओं की साधना करते हुए उसमें आत्म-गुणो के विषय मे अत्यधिक श्रद्धा और दृढता जाग्रत होती है।

ये साधना भूमिकाएँ—प्रतिमाएँ क्रमशः ११ हैं—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सचित्तत्याग, (८) आरम्भत्याग, (९) प्रेष्य-परित्याग अथवा आरम्भ परित्याग, (१०) उद्दिष्टभक्तत्याग और (११) श्रमणभूत।

(१) दर्शन प्रतिमा

(शुद्ध, अविचल एवं प्रगाढ़ श्रद्धा)

इस प्रतिमा की नीव शुद्ध, अविचल, निर्मल और प्रगाढ सम्यग्दर्शन है। इसकी आराधना अविरत सम्यग्दृष्टि करता है। इसके लिए किसी भी व्रत को धारण करना आवश्यक नही है। सिर्फ निर्दोष[1] सम्यग्दर्शन होना अनिवार्य है।

यह प्रतिमा गृहस्थयोगी की योग-मार्ग पर आगे बढने की प्रथम और आधारभूत भूमिका है। इसमे वह अपने निज धर्म (आर्हत धर्म और निर्ग्रन्थ प्रवचन) तथा देव-गुरु-धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखता है। यह सम्यग् श्रद्धा ही योग की प्रथम भूमिका है।

किन्तु इस प्रतिमायोग का धारी किसी भी प्रकार के व्रत नियमो का पालन[2] करने की स्थिति में नही होता।

इस प्रतिमा का लक्षण बताते हुए कहा गया है—जो गृहस्थयोगी संसार व शरीर के भोगो से विरक्त हो, जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध हो, जिसको केवल पच परमेष्ठी ही शरण हो, तथा सत्य मार्ग का ग्रहण करने वाला हो, वह दर्शन प्रतिमा का धारी दार्शनिक योगी होता है।[3]

इस भूमिका पर अवस्थित गृहस्थयोगी की श्रद्धा इतनी प्रगाढ और

---

१ सम्यग्दर्शन के मल अथवा दोष २५ हैं—(१) शका आदि ८ दोप, (२) आठ मद, (३) छह अनायतन और (४) तीन मूढता।

२ सव्वधम्मरुइ यावि भवति। तस्स ण बहूइ सीलवय गुणवय पच्चक्खाण पोसहोववासाइ नो सम्मपट्ठवित्ताइ भवन्ति। —आयारदसा ६/१७, पृ० ५४

३ रत्नकरण्डश्रावकाचार १३७

निर्मल होती है कि देव-दानव-मानव आदि कोई भी उसे उसकी श्रद्धा से विचलित नही कर सकते; कितनी भी प्रतिकूल एवं कष्टमय परिस्थितियाँ सामने आ जायें किन्तु वह अपनी श्रद्धा को नही छोडता; प्राणों की बाजी लगाकर भी अपनी श्रद्धा पर अटल रहता है। भय एवं प्रलोभन उसे विचलित नही कर सकते।

(२) व्रत प्रतिमा

(विरति की ओर बढ़ते चरण)

इस प्रतिमा में गृहस्थयोगी श्रावक व्रतो का पालन करता है। योग-मार्ग की दृष्टि से यह प्रतिमा 'यम' के अन्तर्गत है। गृहस्थयोगी इस प्रतिमा को धारण करने पर मूल व्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का पालन सम्यक् प्रकार से करता है। उत्तर-व्रतो (नियमो—गुणव्रत और शिक्षाव्रतों) की भी साधना करता है।[1]

इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक योग-मार्ग पर अपने सुदृढ़ चरण बढ़ा देता है।

(३) सामायिक प्रतिमा

(योग-साधना का प्रारम्भ)

इस प्रतिमा का धारी गृहस्थयोगी, योग-साधना प्रारम्भ कर देता है। वह अपने सम्पूर्ण बल, वीर्य, उत्साह और उल्लास के साथ दो घड़ी (४८ मिनट) तक सामायिक—समताभाव की साधना करता है।

सामायिक करते समय वह सामायिक के छह अंगों—(१) समताभाव, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) गुरुवन्दन, (४) प्रत्याख्यान, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रतिक्रमण की सम्यग् आराधना करता है।

समताभाव द्वारा वह राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है, तथा अपनी आत्मा का अनुभव करता है। चतुर्विंशतिस्तव और गुरुवन्दन तो भक्तियोग है ही। कायोत्सर्ग द्वारा देह से ममत्व त्याग करके ध्यान करता है। प्रत्याख्यान द्वारा वह अपनी सांसारिक भोगेच्छाओं को सीमित करता है—जो विरतियोग की साधना है और प्रतिक्रमण में वह अपने दोषों की आलोचना करके उनको पुनः न लगने देने का दृढ़ निश्चय करता है।

इस प्रकार श्रावक की सामायिक-प्रतिमा पूर्ण रूप से योग के अन्तर्गत

---

१ (क) आचारदशा, छठी दशा, सूत्र १८, पृष्ठ ५५

(ख) विंशतिका १०/५ (ग) रत्नकरण्ड श्रावकाचार १३८

आती है, क्योंकि सामायिक साधना ही आत्मसाधना है और आत्मसाधना ही योग का लक्ष्य है, आदि है और अन्त है।

यही कारण है कि सामायिक प्रतिमा का महत्त्व गृहस्थयोगी श्रावक के जीवन में अत्यधिक है। इस प्रतिमा का स्वरूप और लक्षण[1] तथा माहात्म्य अनेक ग्रंथो में बताया गया है।

(४) पौषध प्रतिमा

(अहोरात्रि की आत्म-साधना)

जब गृहस्थयोगी में विरक्ति भाव और आत्म-साधना की रुचि विशेष प्रबल हो जाती है तो वह दो घड़ी समय से बढाकर एक रात्रि-दिन (२४ घटे) तक आत्म-साधना और धर्मध्यान करने लगता है। लेकिन चूंकि गृहस्थ को पारिवारिक और सामाजिक दायित्व भी निभाने पडते हैं, इसलिए वह अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या—इन छह पर्व दिनो मे अवश्य धर्मस्थान मे जाकर, अन्न-पान आदि सभी प्रकार के आहार का त्याग करके तथा समस्त पारिवारिक, सामाजिक गतिविधियो को छोड, गुरु के सान्निध्य मे, यदि वे स्थानक मे उपस्थित हो, २४ घण्टे तक धर्म-जागरणा करता है, आत्म-चिन्तन-मनन, स्वाध्याय, धर्मध्यान आदि मे समय व्यतीत करता है, यह पौषध प्रतिमा है।[2]

इस प्रतिमा का धारी गृहस्थयोगी और भी योगनिष्ठ हो जाता है।

(५) नियम प्रतिमा

(विविध नियमो की साधना)

इस प्रतिमा को धारण करके गृहस्थयोगी विभिन्न प्रकार के नियमो को ग्रहण करता है, उनकी परिपालना सम्यक् रूप से करता है। इस प्रतिमा के पाँच नियम मुख्य है—(१) स्नान नही करना (२) रात्रि मे चारो प्रकार के आहार का त्याग अथवा सूर्य के प्रकाश मे ही चारो प्रकार का आहार ग्रहण करना, (३) मुकुलीकृत रहना अर्थात् धोती को लांग नही लगाना,

---

१ (क) आयारदसा, छठी दशा, सूत्र १६
(ख) रत्नकरड श्रावकाचार, १३६

२ (क) आयारदसा, छठी दशा, सूत्र २०
(ख) रत्नकरड श्रावकाचार १४०
(ग) श्रावकाचार सग्रह, भाग ४, प्रस्तावना, पृ० ८३
(घ) धर्मरत्नाकर, श्लोक ३२-३३, पृ० ३३६

(४) दिन में पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना, तथा रात्रि में भी अब्रह्म-सेवन की मर्यादा करना और (५) एक रात्रि की प्रतिमा का भली भाँति पालन करना।[1]

जीव-रक्षा की भावना से प्रस्तुत प्रतिमाधारी गृहस्थ सचित्त जल का उपयोग बिल्कुल भी नही करता।

इस प्रकार साधक, इस प्रतिमा द्वारा योग-साधना के मार्ग पर चलता हुआ, संसार से और भी विरक्त होता है।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा
(चेतना का ऊर्ध्वारोहण)

ब्रह्मचर्य की साधना योग के लिए अति आवश्यक है; क्योंकि निर्वीर्य अथवा भोग द्वारा वीर्य को नाश कर देने वाला व्यक्ति योग की साधना में चमक नही ला सकता। वीर्य की शक्ति के द्वारा ही तो कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाड़ी में होकर ऊर्ध्व गति करती है, चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है। योगी की साधना ऊर्जस्वी और तेजस्वी बनती है।

गृहस्थयोगी इस प्रतिमा की साधना द्वारा अपनी चेतना अथवा जीवनी शक्ति का ऊर्ध्वीकरण करके योग-साधना करता है।

इस प्रतिमा में साधक मन-वचन-काया, इन तीनो योगो से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, यहाँ तक कि ऐसा हास्य-विनोद भी नही करता जिसके कारण ब्रह्मचर्य में दूषण लगने की भी सम्भावना हो।[2]

(७) सचित्तत्याग प्रतिमा
(आहार-सयम)

आहार का संयम योग का एक आवश्यक अंग है। आहार जितना ही अधिक निर्दोष (हिंसा आदि दोषों से रहित) और सात्विक होगा, साधक का मन उतना ही अधिक आत्म-साधना में रमण कर सकेगा।

इस प्रतिमा में गृहस्थ साधक सभी प्रकार के सचित्त आहार-जल आदि सभी प्रकार के भोज्य पदार्थों का त्याग कर देता है।[3] इस प्रकार वह आहार

---

१ आयारदसा, छठी दशा, सूत्र २१, पृष्ठ ५८

२ (क) आयारदसा, छठी दशा, सूत्र २२, पृष्ठ ५९-६०
(ख) विंशतिका, १०/९-११

३ आयारदसा, छठी दशा, सूत्र २३, पृष्ठ ६०

सम्बन्धी संयमन और नियमन करके अपनी इच्छाओ का निरोध करता है तथा अहिंसा की साधना में आगे बढता है।

(८) आरम्भ त्याग प्रतिमा
(अहिंसा यम की साधना)

आरम्भ शब्द जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अभिप्राय है—हिंसात्मक क्रिया-कलाप।

मन से किसी प्राणी को दुःख पहुँचाने अथवा हनन करने का विचार मानसिक आरम्भ है। जिससे किसी का हृदय तिलमिला उठे, पीडित हो जाय, ऐसे वचन बोलना वाचिक आरम्भ है। शारीरिक क्रियाओ, लकड़ी, शस्त्र आदि से किसी प्राणी को पीडित करना, डराना, धमकाना आदि शारीरिक आरम्भ है। हिंसात्मक होने के कारण वह घर एवं व्यापार सम्बन्धी कार्य अथवा आरम्भ नही करता।

इस प्रतिमा की साधना करने वाला साधक इन आरम्भो को स्वयं नही करता; किन्तु पुत्र आदि तथा सेवक वर्ग से आरम्भ कराने का त्यागी नहीं होता।[1]

साधक स्वयं स्थूल प्राणियो की हिंसा न करके अहिंसा-यम की साधना-आराधना करता है।

(९) प्रेष्य परित्याग प्रतिमा
(संवरयोग तथा सूक्ष्म अहिंसा यम की साधना)

प्रस्तुत प्रतिमा में साधक अहिंसा यम की और भी सूक्ष्म आराधना करता है। वह घर एवं व्यापार सम्बन्धी कार्य किसी अन्य (पुत्र, सेवक आदि) से भी नही करवाता है।[2] यहाँ तक कि वह वायुयान, जलयान, स्थलयान (मोटर कार, स्कूटर, ट्रेन, रिक्शा, बैलगाडी आदि) किसी भी प्रकार के वाहन का प्रयोग स्वयं नही करता और दूसरो से भी नही कराता। वाहनो का प्रयोग करने-कराने का त्याग वह इसलिए करता है कि वाहनो से स्थूल

---

१ (क) आयारदसा, छठी दशा, सूत्र २४, पृष्ठ ६१
(ख) विंशतिका १०/१४
(ग) आचार्य सकलकीर्ति ने इस आठवी प्रतिमा मे ही वाहनो का प्रयोग करने तथा कराने का त्याग माना है। —देखिए प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, श्लोक १०७

२ आयारदसा, छठी दशा, सूत्र २५, पृष्ठ ६१

एवं सूक्ष्म प्राणियों की अधिक हिंसा होती है। वह सावधानीपूर्वक पूर्ण पद-यात्री रहता है।

इस प्रकार वह और भी गहराई से तथा सूक्ष्मदृष्टिपूर्वक अहिंसा यम की साधना करता है तथा अपना अधिकांश समय संवरयोग में व्यतीत करता है। इस प्रतिमा के साधक के जीवन में संवरयोग (निवृत्ति) प्रमुख हो जाता है।

(१०) उद्दिष्टभक्त-त्याग प्रतिमा
(संवर योग की साधना)

इस प्रतिमा मे गृहस्थयोगी साधक हिंसा से और भी विरत हो जाता है, वह निरन्तर स्वाध्याय और ध्यान में लीन रहता है।

वह अपने निमित्त बने आहार को भी नही खाता, इसका कारण यह है कि भोजन बनाने में जल, अग्नि, वायु, वनस्पति काय के जीवों की हिंसा तो होती ही है, और वह अपने लिए किंचित् भी हिंसा कराना नही चाहता। इस प्रकार वह सूक्ष्महिंसा का त्याग करने मे भी प्रयत्नशील रहता है तथा अहिंसा यम की अधिक से अधिक साधना करता है।

वह अपने बालों का छुरे से मुण्डन कराता है। चोटी सिर्फ इसलिए रखता है कि वह गृहस्थ का चिन्ह है और अभी वह साधक गृहस्थ ही है, गृह-त्यागी नही बना है।

साथ ही वह वचनयोग का संवर भी करता है। भाषा का पूर्ण विवेक रखता है। कोई प्रश्न पूछे जाने पर यदि वह जानता है तो कहता है 'मैं जानता हूँ' और यदि नही जानता तो कहता है—'मैं नही जानता।'

इस प्रकार वह मन-वचन-काय—तीनों योगो को वश में करके सवर योग तथा ध्यान-स्वाध्याय आदि के द्वारा ध्यानयोग एवं तपोयोग की साधना में दत्तचित्त रहता है।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा
(गृहस्थयोग साधना का अन्तिम सोपान)

प्रस्तुत प्रतिमा गृहस्थ साधक की योग-साधना का अन्तिम सोपान है। इस प्रतिमा को धारण करके वह घर से निकल जाता है और धर्मस्थानक में अथवा सन्त-श्रमणों के साथ रहता है।

---

१ आयारदसा, छठी दशा, सूत्र २६, पृष्ठ ६२

वह भिक्षा द्वारा प्राप्त भोजन करता है। केशलोच करता है और यदि शक्ति न हो तो छुरे (उस्तरे से) मुण्डन भी करा सकता है। उसका वेष और आचार श्रमण जैसा होता है, इसीलिए इस प्रतिमा का नाम श्रमणभूत प्रतिमा है। इस प्रतिमा के बाद वह श्रमण बन जाता है।[1]

इस प्रतिमा को धारण करने वाला साधक यम-नियमो का पालन करता हुआ स्वाध्याय, ध्यान, समाधि आदि योग-क्रिया-प्रक्रियाओ की साधना करता है। उसका जीवन पूर्ण योगी का जीवन होता है।

प्रतिमाओ की विशेष बातें

गृहस्थ प्रतिमाओ की साधना क्रमशः होती है। साधक पहली, दूसरी, तीसरी तथा इसी प्रकार क्रमशः ग्यारहवी प्रतिमा तक शनैः शनै उन्नति करता है। ये गृहस्थ साधक की साधना की भूमिकाएँ अथवा सोपान हैं। जिस प्रकार सीढी चढने के लिए पहले पहली सीढ़ी पर पैर रखा जाता है, फिर दूसरी पर, उसी प्रकार इन प्रतिमाओ की भी साधना की जाती है। साधक पहली प्रतिमा की साधना मे परिपक्व होने के बाद ही दूसरी प्रतिमा धारण करता है। उत्तरोत्तर प्रतिमाओ की साधना करते समय वह पिछली प्रतिमाओ मे किये गये अभ्यास को छोड़ नही देता, वरन् सुदृढतापूर्वक करता रहता है।

इन प्रतिमाओ मे से प्रथम प्रतिमा का कालमान या साधना काल १ मास का, दूसरी प्रतिमा का २ मास का, तीसरी प्रतिमा का ३ मास का, चौथी प्रतिमा का ४ मास का, पाँचवी प्रतिमा का ५ मास का, छठी प्रतिमा का ६ मास का, सातवी प्रतिमा ७ मास का, आठवी प्रतिमा का ८ मास का, नवी प्रतिमा का ९ मास का, दसवी प्रतिमा का १० मास का, और ग्यारहवी प्रतिमा का ११ मास का है।

प्रतिमाओ की साधना करते हुए गृहस्थ साधक योगनिष्ठ होता जाता है और अन्तिम प्रतिमा मे तो वह योगी ही बन जाता है। इसीलिए प्रतिमाओ की साधना को योग साधना तथा प्रतिमायोग माना जाता है।

(२) भिक्षु प्रतिमा

(गृहत्यागी श्रमण की विशिष्ट साधना भूमिकाएँ)

जिस प्रकार गृहस्थ साधक की ११ साधना भूमिकाएँ है, उसी प्रकार

---

१ आयारदसा, छठी दशा, सूत्र २७, पृष्ठ ६३

संसार-त्यागी श्रमण की भी १२ साधना भूमिकाएँ अथवा प्रतिमाएँ हैं। श्रमण-योगी विशिष्ट साधना करने के लिए इन प्रतिमाओ को ग्रहण करता है। इन प्रतिमाओं की साधना में वह विशिष्ट अभिग्रह और नियम ग्रहण करता है तथा उनका यथाविधि दृढ़तापूर्वक पालन करता है।

इन प्रतिमाओ अथवा प्रतिमायोग की साधना में वह आहार-नियमन, शरीर-नियमन, वाक् एवं मन वशीकरण तथा आसन आदि योग के लगभग सभी अंगों की साधना करता है। मन-वचन-काय—तीनों योगो को वश में रखता है।

अतः योग की दृष्टि से ये प्रतिमाएँ श्रमण-जीवन मे अति महत्त्व-पूर्ण है।

१. प्रथम प्रतिमा

श्रमणयोगी की प्रथम प्रतिमा १ मास की है। इस प्रतिमा के आराधन काल में श्रमण शारीरिक संस्कार और शरीर के ममत्व भाव से रहित होता है, वह शरीर के प्रति उदासीन हो जाता है।

वह देव, मनुष्य और तिर्यंच (पशु-पक्षी) सम्बन्धी जितने भी उपसर्ग, कष्ट एवं पीडा आते है, उन्हे सम्यक् प्रकार से सहन करता है, उपसर्ग करने वाले के प्रति मन में तनिक भी द्वेष नही लाता वरन् उसे उपकारी ही मानता है कि वह कर्म-निर्जरा में सहायक बन रहा है। वह अपने मन में तनिक भी दैन्य भाव नही लाता अपितु वीरतापूर्वक समताभाव से उन कष्टो को झेलता है।

वह आहार के विषय मे इतना सन्तोषी हो जाता है कि एक दत्ति (एक अखण्ड धारा से जितना भी आहार तथा पानी साधु के पात्र मे श्रावक या दाता दे) अन्न की और एक दत्ति पानी की लेता है; और उसी मे सन्तोष कर लेता है। भिक्षा के लिए वह दिन में एक ही बार जाता है और वह भी विशिष्ट नियमों एव विधि के साथ।

वह एक गाँव में दो रात्रि से अधिक निवास नहीं करता।

भाषा तथा वाणी का वह इतना संयम कर लेता है कि वह—(१) याचनी (दूसरे से वस्त्र पात्र आदि मांगना), (२) पृच्छनी (शंका समाधान के लिए गुरुदेव से प्रश्न पूछना अथवा किसी से मार्ग पूछना), (३) अनुज्ञापिनी (गुरु से गोचरी आदि की आज्ञा लेना अथवा शय्यातर—गृहस्वामी से स्थान की आज्ञा लेना) और (४) पृष्ठ व्याकरणी (किसी व्यक्ति द्वारा किये

गये प्रश्न का उत्तर देना)—इन चार प्रकार की भाषाओं को बोलने के अतिरिक्त सर्वथा वचनालाप का त्याग कर देता है।

वह वृक्ष मूल में, चारो ओर से खुले स्थान मे अथवा उद्यान मे बने लतामण्डप में, शिला अथवा काष्ट (लकडी का पाट) पर ही रात बिता देता है।

वह शरीर के प्रति इतना विरक्त हो जाता है कि जिस उपाश्रय—धर्मस्थानक अथवा स्थान पर वह ठहरा हो, उसमे किसी प्रकार आग आदि का उपद्रव हो जाये तो वहाँ से बाहर नही निकलता।

यदि गमन करते समय उसके पैर मे काँटा, काँच आदि चुभ जाय तो उसे निकालता नही, उसी दशा मे इर्यासमितिपूर्वक गमन करता है। इसी प्रकार आँख मे गिरे कंकड़, तिनके आदि को नही निकालता।

जहाँ भी सूर्यास्त हो जाय—दिन का चौथा प्रहर समाप्त हो जाय, वही, वह पूरी रात के लिए ठहर जाता है, चाहे वह स्थान भयानक वन हो, पर्वत हो या नगर-ग्राम का बाह्य भाग हो। चाहे शीतकाल मे वहाँ बर्फीली हवाएँ चल रही हो अथवा हिंसक पशुओ की गर्जनाएँ हो रही हो।

वह सचित्त पृथ्वी पर न चलता है, न बैठता है और न नीद लेता है।

यदि मार्ग मे गमन करते समय सिह आदि कोई हिंसक पशु सामने आ जाये तो वह एक कदम भी पीछे नही हटता, इतना निर्भय होता है वह। किन्तु साथ ही इतना दयालु भी होता है कि गाय आदि सामने आ जाये तो उसे मार्ग देने के लिए चार कदम पीछे हट जाता है। यानी अपनी प्राण-रक्षा के निमित्त वह एक कदम भी पीछे नही रखता किन्तु दूसरो की सुविधा के लिए पीछे हट जाता है।

वह शरीर के ममत्व और देहाध्यास से इतना दूर होता है कि शीत-निवारण के लिए धूप मे अथवा ग्रीष्म-ऋतु में धूप से बचने लिए छाया मे जाने की इच्छा भी नही करता।

इस प्रकार कठोर नियमो का पालन करते हुए वह प्रथम प्रतिमा की साधना करता है।[1]

इस सम्पूर्ण प्रतिमा में वह मन-वचन-काय—तीनो योगो को वश मे रखकर सवर एवं ध्यानयोग की साधना मे रत रहता है।

---

१ आयारदसा, सातवी दशा, सूत्र १-२५, पृ० ६७-७६

दूसरी प्रतिमा में वह दो दत्ति अन्न की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है तथा प्रथम प्रतिमा के सभी नियमों को यथारीति पालन करता है। इसका कालमान दो मास का है।

तीसरी प्रतिमा का काल तीन मास का है। प्रथम प्रतिमा के सभी नियमों का पालन करते हुए वह तीन दत्ति अन्न की और तीन दत्ति पानी की लेता है।

चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमाओं का कालमान क्रमशः चार, पाँच, छह और सात मास है तथा दत्ति-संख्या भी क्रमशः चार, पाँच, छह और सात है।[1]

इन सातो प्रतिमाओ मे संसारत्यागी श्रमण योग की विभिन्न क्रिया-प्रक्रियाओ की और विशेष रूप से समत्वयोग की साधना करता है। वह सभी प्रकार के मानसिक-शारीरिक तथा आधिदैविक, आधिभौतिक कष्टो को समभाव से सहता हुआ आत्म-साधना में लीन रहता है।

आगे की प्रतिमाएँ . तप के साथ आसन-जय

आठवी प्रतिमा मे संसारत्यागी श्रमण साधक एक दिन का निर्जल उपवास (चतुर्थ भक्त) ग्रहण करके ग्राम अथवा नगर के बाहर उत्तानासन, पार्श्वासन अथवा निषद्यासन द्वारा कायोत्सर्ग में स्थिर रहता है। मल-मूत्र की बाधा यदि हो तो प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र त्याग कर पुनः अपने स्थान आकर कायोत्सर्ग में लीन हो जाता है। उस समय उस पर कैसा भी उपसर्ग आवे किन्तु वह अपने ध्यान से विचलित नही होता।

इस प्रतिमा का काल एक सप्ताह का है।

नौवीं प्रतिमा भी सात दिन-रात अथवा एक सप्ताह की है। इस प्रतिमा के आराधन काल में साधक दण्डासन, लकुटासन या उत्कटुकासन से कायोत्सर्ग एवं ध्यान-साधना में लीन रहता है।

दसवीं प्रतिमा भी सात दिन-रात की है। इसके आराधना काल में साधक गोदोहनिकासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन से कायोत्सर्ग तथा आत्म-ध्यान करता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि (२४ घण्टे—प्रथम दिन के सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक) की है। इस प्रतिमा के आराधना काल में

---

१ आयारदसा, सातवी दशा, सूत्र २६-३१, पृष्ठ ७९-८०

साधक दो दिन का निर्जल उपवास (षष्ठ भक्त—वेला) करता है। ग्राम अथवा नगर के बाह्य भाग में दोनो पैरो को संकुचित कर तथा दोनों भुजाओ को जानु पर्यन्त लम्बी करके (खड्गासन) कायोत्सर्ग करता है।

इन सभी प्रतिमाओ (आठवी से लेकर ग्यारहवी तक) में साधक सवर और ध्यानयोग तथा तपोयोग (अनशन तप की अपेक्षा से) की साधना करता हुआ आसन-जय भी करता है।

बारहवीं प्रतिमा भिक्षु की, यद्यपि एक रात्रि की है; किन्तु है बडी कठिन तथा साथ ही बहुत ही महत्त्वपूर्ण भी है। इसकी सम्यक् साधना साधक को आत्मोन्नति के चरम शिखर तक पहुँचा देती है तो थोड़ी सी भी असावधानी आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक रूप से अति भयंकर दुष्परिणाम भी लाती है, साधक को पतन के गर्त मे भी गिरा देती है।

इस प्रतिमा की साधना, साधक अष्टम भक्त (तीन दिन का चारो प्रकार के आहार का त्याग—तेला) की तपस्या द्वारा करता है। वह ग्राम या नगर के बाह्यभाग में जाकर दोनो पैरो को संकुचित कर तथा भुजाओ को जानु पर्यन्त (जघा तक) लम्बी करके कायोत्सर्ग में स्थिर होता है। उस समय शरीर को थोडा सा आगे झुकाकर, एक पुद्गल पर दृष्टि रखते हुए नेत्रो को अनिमेष रखता है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियो को गुप्त रखता है। दूसरे शब्दो में उसका सपूर्ण शरीर, इन्द्रियाँ एव मन ध्येय में लीन हो जाते है, ध्याता और ध्येय एकाकार हो जाते हैं।

वह सम्पूर्ण रात्रि इसी प्रकार साधना करते हुए व्यतीत करता है।

इस एक रात्रि की प्रतिमा को सम्यक् प्रकार से न पालन करने वाले श्रमणयोगी को अहितकर, अशुभ, अस्वास्थ्यकर, दुखद भविष्य वाले और अकल्याणकर—ये तीन परिणाम भोगने पडते हैं—

(१) मानसिक उन्माद अथवा पागलपन,

(२) अतिदीर्घ समय तक भोगे जाने वाले रोग और आतक, तथा

(३) केवलीप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाना।

इस प्रकार वह साधक आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक—तीनो प्रकार से पतित हो जाता है तथा कष्ट एवं पीड़ा मे अपना जीवन व्यतीत करता है। केवलीप्रज्ञप्त धर्म से पतित होने का परिणाम तो उसे अनेक जन्मो तक दुर्गतियो और दुर्योनियो मे उत्पन्न होकर भोगना पडता है, उसका संसार अतिदीर्घ हो जाता है, अथवा यो समझिये कि वह सागर के तट पर आकर पुन भँवर मे पडकर डूब जाता है।

इसके विपरीत यदि श्रमणयोगी इस प्रतिमा का सम्यक् रूप से पालन करने में सफल होता है तो इसका परिणाम उसके लिए अतीव हितकर, शुभ, सामर्थ्यंकर, कल्याणकर एवं सुखद होता है। उसे तीन प्रकार की महान और अद्वितीय विशिष्ट उपलब्धियाँ प्राप्त होती है—

(१) अवधिज्ञान की उपलब्धि,

(२) मन.पर्यवज्ञान की प्राप्ति; और

(३) केवलज्ञान की प्राप्ति।

साधक को जब केवलज्ञान की उपलब्धि हो जाती है तो फिर बाकी ही क्या रहता हैं, उसे अपने ध्येय की प्राप्ति ही हो जाती है, योगमार्ग की यहाँ सार्थकता ही हो जाती है। जिस लक्ष्य को लेकर साधक योग की साधना का प्रारम्भ करता है, वह लक्ष्य उसे हस्तगत हो जाता है।

प्रतिमायोग की साधना गृहस्थ साधक सुदृढ श्रद्धा (सत्यतथ्य के प्रति प्रगाढ़ विश्वास) के साथ प्रारम्भ करता है। श्रद्धायोग के साथ ज्ञानमार्ग का सम्बल लेकर वह दृढ़तापूर्वक क्रियायोग पर कदम बढ़ाता है तथा यम-नियमों की साधना करता हुआ वह क्रिया-योग का अवलम्बन लेता हुआ श्रमण—गृहत्यागी एवं संसारत्यागी श्रमण की भूमिका तक पहुँचता है, उसका लक्ष्य श्रमण बनकर ज्ञान, सयम और चारित्र की साधना मे पूर्ण रूप से लीन हो जाना होता है।

और श्रमण का लक्ष्य होता है कैवल्य प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाना। वह अपनी प्रतिमाओ का प्रारम्भ शरीर और इन्द्रियों को सयमित करते हुए तपोयोग तथा ध्यानयोग की साधना-आराधना करता है; आसन-जय करके शरीर की क्षमताओ को बढ़ाता है तथा परीषह-उपसर्ग सहन करके समताभाव एवं तितिक्षा की साधना करता है, अन्तिम प्रतिमा में तो वह सम्पूर्ण योग का अवलम्बन लेता है, मन एवं इन्द्रियो को ध्येय में स्थिर करके स्वयं ध्येयाकार बनता है और अपने लक्ष्य—कैवल्य के प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार इन प्रतिमाओं की साधना 'प्रतिमायोग' है; क्योकि इस साधना में प्रारम्भ से अन्त तक योग के विभिन्न अंगो की साधना स्वयमेव ही हो जाती है। विभिन्न प्रकार के यम-नियम तो गृहस्थ और संसार-त्यागी श्रमण की प्रारम्भिक प्रतिमाओ में ही साधित किये जाते है। श्रावक सामायिक प्रतिमा में योग के सभी अंगों, जैसे—आसन, ध्यान आदि की साधना करता है; तथा श्रमण तो अपनी अन्तिम प्रतिमा में निर्विकल्प समाधि तक पहुँच जाता है. तभी तो उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है। □□

४ जयणायोग साधना (मातृयोग)

जयणायोग, जैनयोग का एक विशिष्ट योग है। इसमें न प्राणायाम की विशिष्ट क्रियाओ की आवश्यकता होती है और न आसनसिद्धि पर ही अधिक बल प्रदान किया जाता है। साधक इस योग की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही अवस्थाओ में साधना कर सकता है। इस साधना में सतत जागरूकता अपेक्षित है। साधक असद् प्रवृत्तियो से स्वय को वचाता हुआ यतनाशील या सावधान रहे, सहज समाधिपूर्वक जीवन यात्रा सम्पन्न करे, इसीलिए इसे जयणायोग अथवा सहजयोग की सज्ञा से अभिहित किया गया है।

सहजयोग मे मन-वचन-काय—इन तीनो योगो को वश मे करके इन्हें शुभ एवं शुद्ध प्रवृत्तियो में लगाया जाता है, तथा साधक हर समय—प्रवृत्ति करते समय भी सावधान रहता है। वह अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ यतनापूर्वक करता है। प्रवृत्ति करते समय उसका मूल मन्त्र होता है—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जय सये।
जय भुंजंतो भासन्तो, पावकम्मं न बंधई ॥

यतनापूर्वक चलने, बैठने, सोने, खाने आदि सभी क्रियाएँ करते हुए साधक को पाप कर्म का वध नही होता है।

यतना का ही दूसरा नाम समिति है और मन-वचन-काय को वश मे रखना-गुप्ति है, अतः सहजयोग समिति-गुप्ति—अष्ट प्रवचन माता रूप होता है।

यद्यपि इन अष्ट प्रवचन माताओ की पूर्ण रूप से सफल साधना तो श्रमण साधक ही कर पाता है, किन्तु गृहस्थ साधक भी अपनी योग्यता, क्षमता और परिस्थिति के अनुसार इनका पालन करने का प्रयत्न करता है।

अष्ट प्रवचन माता मे तीन गुप्ति (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति) तथा पाँच समिति (ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति और परिष्ठापनिका समिति) का समावेश होता है।

समिति-गुप्तियों की साधना करते हुए सहज ही—स्वाभाविक रूप से, बिना विशेष प्रयत्न किये ही योग के सभी अंगो की साधना हो जाती है तथा साधक अपने लक्ष्य—सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

अष्ट प्रवचन माता (तीन गुप्ति और पाँच समिति)

मन की अथवा चित्त की विशुद्धि आत्मिक विकास मे अतीव सहायक है। विशुद्धता से ही मन एकाग्र होता है और आत्मा अपने लक्ष्य—मोक्ष तक पहुँचता है। किन्तु मन की विशुद्धि के लिए अशुभ प्रवृत्तियों का शमन तथा शुभ एवं शुद्ध प्रवृत्तियों का आचरण अनिवार्य है।

शुभ और शुद्ध प्रवृत्तियों के आचरण एवं अशुभ प्रवृत्तियों के उपशमन के लिए समितियों तथा गुप्तियों का विधान किया गया है।

गुप्तियाँ मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्तियो को रोकती हैं और समितियाँ शुभ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए है।[1]

गुप्तियो से मन-वचन-काय की स्थिरता—एकाग्रता प्राप्त होती है और समितियो द्वारा शुभ प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होने—शुभाचरण का पालन करने का अभ्यास प्रबल होता है। अतः इन दोनों का संयुक्त नाम अष्ट प्रवचन माता है।[2]

ये अष्ट प्रवचन माता (गुप्ति और समिति) श्रमणयोगी का वह योग है, जो उसे मोक्ष महल तक पहुँचाने में समर्थ है। श्रमणाचार की अपेक्षा तो इनका महत्त्व है ही; किन्तु योग-मार्ग की दृष्टि से भी इनका महत्त्व अत्यधिक है।

इनकी परिपालना श्रमणयोगी के लिए आवश्यक ही नही, अनिवार्य है; क्योकि ये श्रमण के महाव्रतो का माता की तरह रक्षण एवं पोषण करती है।

गुप्तियाँ

गुप्ति का लक्षण—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक त्रियोग (मन-वचन-

---

१ एयाओ पंच समिइओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो॥ —उत्तराध्ययन २५/२३

२ (क) अट्ठ पयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया॥ —उत्तराध्ययन २४/१

(ख) एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात्परिपालनात्।
संशोधनाच्च साधूनां, मातरोष्टौ प्रकीर्तिता॥ —योगशास्त्र १/४५

काय) का निरोध करके अपने-अपने मार्ग मे (आत्म-भाव अथवा आध्यात्मिक भाव में) स्थापित करना गुप्ति[1] है।

सामान्यत: मन-वचन-काय की प्रवृत्ति संसाराभिमुखी और राग-द्वेष आदि कषायों की ओर रहती है। गुप्तियों द्वारा श्रमणयोगी कषायरूपी वासनाओं से अपनी आत्मा की रक्षा (गोपन) करता है।[2]

गुप्ति के भेद—गुप्ति के तीन प्रकार हैं—(१) मनोगुप्ति (२) वचन-गुप्ति और (३) कायगुप्ति।

(१) **मनोगुप्ति**—राग-द्वेष आदि कषायो की ओर प्रवृत्त मन को रोकना मनोगुप्ति है।[3] इसे और स्पष्ट करने के लिए कह सकते हैं कि संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ की प्रवृत्तियो की ओर जाते हुए मन को मनोगुप्ति द्वारा रोका जाता हैं। मन को असद् एवं अशुभचिन्तन से बचाना मनोगुप्ति है।

(२) **वचनगुप्ति**—वचनगुप्ति का साधक श्रमणयोगी या तो मौन का अवलम्बन लेता है अथवा बोलता भी है तो सत्य-वचन ही उसके मुख से निकलते है। असत्य न बोलना तथा मौन रहना वचन गुप्ति है।[4] साधक ऐसे सत्य वचन भी नही बोलता जिनसे सुनने वाले को दु:ख और पीडा हो, क्योकि ऐसे वचन सत्य होते हुए भी हिंसाकारी होने से त्याज्य हैं। इसीलिए कहा गया है—असत्य, कठोर, आत्मश्लाघी वचन बोलने से सुनने वालो के मन को चोट पहुँचती है, उन्हे पीडा का अनुभव होता है, इसलिए वाचना, पृच्छना, प्रश्नोत्तर आदि में भी विवेक रखना (सीमित और नपे-तुले शब्द बोलना) तथा अन्यत्र भाषा का निरोध करना—मौन रहना, न बोलना वचनगुप्ति

---

१ (क) सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक त्रिविधयोगस्य शास्त्रोक्त विधिनास्वाधीन-मार्ग व्यव-स्थापनरूपत्व गुप्ति सामान्यस्य लक्षणम्।
—आर्हत्दर्शन दीपिका ५/६४२

(ख) वाक्कायचित्तजाऽनेकसावद्यप्रतिषेधक ।
त्रियोगरोधक वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रय मतम् ॥ —ज्ञानार्णव १८/४

२ सद्ध नगर किच्चा, तवसवरमग्गल ।
खंति निउणपागार, तिगुत्त दुप्पधसय ॥ —उत्तराध्ययन ६/२०

३ जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति । —मूलाराधना ६/११८७

४ सज्ञादिपरिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनं ।
वाग्वृत्तै सवृत्तिर्वा या सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥ —योगशास्त्र १/४२

है।[1] दूसरे शब्दो में वाणी-विवेक, वाणी-सयम और वाणी-निरोध ही वचन-गुप्ति है।

(३) कायगुप्ति—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त काययोग का निरोध करना कायगुप्ति है, साथ ही सोते-जागते, उठते-बैठते, खड़े होते तथा लंघन-प्रलंघन करते समय तथा इन्द्रियो के व्यापार मे काययोग का निरोध कायगुप्ति है।[2]

आगमों में मनोगुप्ति के साथ-साथ मनःसमिति का वर्णन भी किया गया है। वहाँ समिति शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—'स—सम्यक्, इति—प्रवृत्ति' अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति ही समिति है। मन की सत्प्रवृत्ति को मनःसमिति माना गया है और मनोगुप्ति से मन का निरोध द्योतित किया गया है।

---

१ वाचन् पृच्छन् प्रश्नव्याकरणादिष्वपि सर्वथा वाङ्निरोधरूपत्व, सर्वथा भाषा-निरोधरूपत्व वा वाग्गुप्तेर्लक्षण। —आर्हत्दर्शन दीपिका ५/६४४

२ ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लघणपल्लघणे, इन्दयाण य जुञ्जणे॥
संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥ —उत्तराध्ययन सूत्र २४/२४-२५

३ (क) मणेण पावएण पावक अहम्मिय दारुण निस्सस वहबंधपरिकिलेसबहुलं मरणभयपरिकिलेससकिलिट्ठ त कयावि मणेण पावतेण पावगं किंचिवि-ज्झायव्व मणसमिति योगेण भावितो ण भवति अन्तरप्पा।
—प्रश्नव्याकरण सूत्र, सवरद्वार

(ख) मणगुत्तीए ण भते ! किं जणयइ ?
मणगुत्तीए ण जीवे एगग्ग जणयइ। एगग्ग चित्ते ण जीवे मण-गुत्ते सजमाराहए भवइ। —उत्तराध्ययन सूत्र २९/५३
(तत्र मनोनिरोधस्य प्रधानत्वाद्—व्याख्याकार.।)
तात्पर्य यह है कि मनोगुप्ति से मन की एकाग्रता और एकाग्रता से मन का निरोध होता है।
तथा मन से किसी भी प्रकार के पाप का चिन्तवन न करना, मनःसमिति है।
फलित यह है कि मन का निरोध निवृत्ति है और पाप का चिन्तन न करके शुभ-शुद्ध का चिन्तन प्रवृत्ति है। इन दोनो के ही अवलम्बन से योगमार्ग की पूर्णता होती है।

जिस प्रकार मन-समिति का वर्णन आगमों में प्राप्त होता है, उसी का अनुसरण करते हुए वचन-समिति और काय-समिति का अभिप्राय साधक योगी समझ लेता है।

इस प्रकार मन-वचन-काय-योग निवृत्ति ही नही; अपिपु सत्प्रवृत्ति भी योगमार्ग में अपेक्षित है। श्रमणयोगी चित्त को एकाग्र करके सिर्फ उसका निरोध ही नही करता, अपितु उसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे प्रवृत्त भी करता है, क्योकि मन कभी खाली नही रहता, कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति करते रहना उसका स्वभाव है। अतः श्रमणयोगी के योग में निवृत्ति और प्रवृत्ति का उचित सामजस्य रहता है। वह इन गुप्ति और समितियो (मन-वचन-काय को ध्यानयोग की अपेक्षा से) को अशुभ से हटाकर शुभ और शुद्ध में प्रवृत्त करके उनका योग (संयोग) आत्म-परिणामो के साथ करता है। यही मन-वचन-काय-समिति-गुप्ति की योगी के योग-मार्ग और साधक जीवन मे उपयोगिता तथा महत्त्व है। इस योग-मार्ग का अनुसरण करके वह अपने जीवन के चरम लक्ष्य की ओर बढता है और उसे प्राप्त कर लेता है।

समिति

समिति का लक्षण—समिति द्वारा श्रमणयोगी अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति सम्यक् रूप से करता है तथा अपने द्वारा स्वीकृत चारित्र का भली-भाँति पालन करता है।

समिति के भेद—समितियाँ पाँच हैं—(१) ईर्या समिति, (२) भाषा समिति, (३) एषणा समिति, (४) आदान-निक्षेपण समिति और (५) परिष्ठापनिका समिति।

(१) **ईर्या समिति**—ईर्या समिति विशेष रूप से काया से सम्बन्धित है। गमनागमन सम्बन्धी जितनी क्रियाएँ हैं, सभी ईर्या समिति के अन्तर्गत परिगणित की जाती हैं। यतनापूर्वक सावधानी से गमन-आगमन सम्बन्धी क्रियाएँ करना ईर्या समिति है।[1]

ईर्या समिति का पालन ४ प्रकार से होता है[2]—(१) **आलम्बन**—साधक

---

१ (क) मग्गुज्जोदुपओगालम्बण सुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरिया समिदि पवणम्मि ॥ —मूलाराधना ६/११९१
(ख) उत्तराध्ययन २४/४;
(ग) ज्ञानार्णव १८/५-७

२ उत्तराध्ययन २४/५-८

के लिए रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) ही अवलम्बन है। (२) काल—दिन में अर्थात् सूर्य के प्रकाश मे देखकर चलना, रात्रि में लघु-नीति या बडी नीति के लिए पूँजणी (या रजोहरण) से पूँजकर गमन करना तथा रात्रि को विहार न करना (३) मार्ग—उन्मार्ग में गमन न करना क्योकि उन्मार्ग में जीवो की अधिक विराधना की आशंका रहती है (४) यतना—यह चार प्रकार से की जाती है—(क) द्रव्य से—भूमि को देखकर चलना, (ख) क्षेत्र से—गाड़ी की धूसरी प्रमाण अथवा अपने शरीर प्रमाण या ३½ हाथ प्रमाण भूमि को देखकर चलना (ग) काल से—दिन में देखकर और रात्रि में पूँजणी से पूँजकर चलना (घ) भाव से—गमन करते समय सिर्फ गमन में ही उपयोग रखे, न स्वाध्याय करे, न किसी से वार्तालाप करे और न मार्ग में होने वाले शब्दो आदि की ओर ही ध्यान दे। मन को गमन क्रिया में एकाग्र करके चले।

(२) भाषा समिति—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मुखरता, विकथा आदि आठ दोषो से रहित यथासमय, परिमित और निर्दोष भाषा बोलना, श्रमणयोगी की भाषा समिति है।[1]

इसका पालन भी चार प्रकार से किया जाता है—(१) द्रव्य से—सोलह (१६) प्रकार की भाषा न बोलना—(१) कर्कश, (२) कठोर, (३) हिंसाकारी, (४) छेदक, (५) भेदक, (६) पीड़ाकारी, (७) सावद्य, (८) मिश्र, (६) क्रोधकारक, (१०) मानकारक, (११) मायाकारक, (१२) लोभ-कारक, (१३-१४) राग-द्वेषकारक, (१५) मुख-कथा (अविश्वसनीय—सुनी-सुनाई बात) और (१६) चार प्रकार की विकथा। (२) क्षेत्र से—मार्ग में चलते समय बात-चीत न करना (३) काल से—एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने के बाद उच्च स्वर से न बोलना (४) भाव से—राग-द्वेष रहित अनुकूल, सत्य, तथ्य, शुद्ध एवं निर्दोष वचन बोलना।[2]

(३) एषणा समिति—आहार आदि की गवेषणा, ग्रहणैषणा तथा परि-भोगैषणा में आहार आदि के सभी दोषो का निवारण करना एषणा समिति है।[3]

---

१ (क) उत्तराध्ययन २४/६-१०
(ख) योगशास्त्र १/३६

२ (क) उत्तराध्ययन २४/१०
(ख) ज्ञानार्णव १८/१९

इसके पालन के चार[1] प्रकार है—(१) **द्रव्य से**—४७ दोषो (४२ आहार के और ५ मण्डल के) अथवा इनके सहित ९६ दोषो से रहित आहार आदि का सेवन करना। (२) **क्षेत्र से**—२ कोस (४ मील अथवा ६ किलोमीटर) से आगे (अधिक दूर तक) ले जाकर आहार-पानी का सेवन न करना (३) **काल से**—दिन के प्रथम प्रहर मे लाया हुआ आहार उसी दिन के अन्तिम प्रहर मे सेवन न करना। (४) **भाव से**—संयोजना आदि मण्डल दोषो से दूर रहकर आहार आदि का उपभोग करना।

(४) **आदान-निपेक्षण समिति**—आदान का अर्थ लेना अथवा उठाना है और निपेक्षण का अर्थ रखना है। सामान्य और विशेष दोनो प्रकार के उपकरणो को आँखो से प्रतिलेखना करके तथा प्रमार्जन करके लेना और रखना आदान-निक्षेपण समिति है।[2]

साधु के धार्मिक उपकरण दो प्रकार के होते हैं—(१) अवग्रहिक—सदा उपयोग मे आने वाले जैसे—रजोहरण आदि और (२) प्रयोजनवश उपयोग मे आने वाले। इनमे से प्रथम प्रकार के उपकरणो को सामान्य और द्वितीय प्रकार के उपकरणो को विशेष कहा जाता है।

इस समिति का पालन भी चार प्रकार से किया जाता है। (१) **द्रव्य से**—भाड-उपकरण आदि यतनापूर्वक ग्रहण करे और रखे, उन्हे जोर-जोर से ऊपर से न पटके। (२) **क्षेत्र से**—किसी गृहस्थ के घर में रखकर अन्यत्र विहार न करे, क्योकि ऐसा करने से उपकरणो की प्रतिलेखना नहीं हो पाती। (३) **काल से**—प्रात और सन्ध्या—दोनो प्रकार के उपकरणो की विधिपूर्वक प्रतिलेखना करे। (४) **भाव से**—उपकरणो को अपनी धर्मयात्रा मे सिर्फ सहायक माने, उन पर ममत्व और मूर्च्छा न करे।

(५) **परिष्ठापनिका समिति**—जीव-जन्तु (त्रस और स्थावर) रहित प्रासुक भूमि पर मल-मूत्र, श्लेष्म, कफ आदि का विसर्जन करना, परिष्ठापनिका या व्युत्सर्ग समिति है।[3]

यह विसर्जन स्थंडिल भूमि मे किया जाता है। स्थडिल भूमि चार

---

१ उत्तराध्ययन २४/१२

२ योगशास्त्र १/३९

३ (क) उत्तराध्ययन २४/१५
  (ख) ज्ञानार्णव १८/१४

प्रकार की होती है—(१) अनापात असंलोक, (२) अनापात संलोक, (३) आपात असंलोक और (४) आपात संलोक।[1]

इस समिति का पालन भी चार प्रकार से किया जाता है—(१) द्रव्य से—विषम, दग्ध, बिल, गड्ढा, अप्रकाशित स्थान में न परठे। (२) क्षेत्र से—परिष्ठापन क्षेत्र के स्वामी की और यदि उस स्थान का कोई स्वामी न हो तो शक्रेन्द्र की आज्ञा लेकर उक्त वस्तुओं को परठे। (३) काल से—दिन में अच्छी तरह देखकर और रात्रि में पूँजणी से पूँजकर परठे। (४) भाव से—शुभ-शुद्ध उपयोगपूर्वक परठे। परठने जाते समय 'आवस्सहि-आवस्सहि' कहे और परठने के बाद 'वोसिरे-वोसिरे' कहे तथा वहाँ से लौटकर 'इरियावहिया' का प्रतिक्रमण करे।

इस प्रकार समितियो द्वारा श्रमणयोगी अपनी सम्पूर्ण प्रवृत्तियो को सावधानी तथा विवेकपूर्वक करता है। इन प्रवृत्तियो के समय भी वह शुभ भावों में रमण करता है और योग-मार्ग का अवलम्बन करता है। उसकी यह प्रवृत्तियाँ भी मोक्ष-मार्ग मे साधक ही होती है। □□

---

१ उत्तराध्ययन ३५/१६

५ परिमार्जनयोग साधना

(षडावश्यक)

परिमार्जन अथवा परिष्कार श्रमसाध्य साधना है।

आप किसी स्थान अथवा वस्तु को लीजिए। यदि सावधानी से उसका परिमार्जन न किया जाय तो उस पर मैल की परतें जम जायेंगी, उस वस्तु की स्वच्छता तो समाप्त होगी ही, वह वस्तु ही विनष्ट हो जायेगी।

आपने हीरा (diamond) तो देखा ही होगा ? कितनी चमक होती है उसमें ! किन्तु यदि उसको भी सावधानीपूर्वक पौंछा न जाय, उसका उचित रीति से परिमार्जन न किया जाय तो मैल के कारण, धूल-मिट्टी जमने से उसकी चमक कम हो जायेगी।

हमारी आत्मा भी विशुद्ध हीरे के समान है, इसके निज गुणो की चमक, उसका प्रकाश भी अद्भुत है किन्तु उस पर हमारे ही किये (प्रवृत्तियो) कर्मों का, दोषो का आवरण पड़ा है, मैल जम गया है और वह मैल नित्य-प्रति, हर घडी और यहाँ तक कि प्रतिक्षण जमता ही जायेगा, यदि उसका परिमार्जन न किया गया तो।

बाह्य एवं भौतिक वस्तुओ का तो परिमार्जन सरल है, उसमें न इतनी सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता होती है और न इतने विवेक की। वस्तु ली और किसी कपडे या डस्टर (Duster) से साफ कर दी, किन्तु आत्मा तो अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है, इतना सूक्ष्म कि इन्द्रियो और मन की पकड में ही नही आता; और उसमे लगने वाले दोष तथा कर्म भी सूक्ष्म ही है। अतः आत्म-परिमार्जन व्यक्ति के लिए एक साधना बन जाता है। यह साधना है तो बहुत ही सूक्ष्म किन्तु साथ ही है बहुत आवश्यक।

साधक चाहे गृहस्थ श्रावक हो अथवा गृहत्यागी श्रमण, जो मुक्ति को प्राप्त करना चाहता है और अपने लक्ष्य की ओर गतिशील है, उसे अपनी जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन अवश्य और नित्य-प्रति करना चाहिए। इस दोष-परिमार्जन और जीवन शद्धि को ही आवश्यक कहा गया है।

जैन योग साधना का प्रमुख और अनिवार्य अंग आवश्यक है। यह अवश्य ही किया जाना चाहिए।[1] यह आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के अधीन करता है, सद्गुणो को आत्मा में स्थापित करता है।[2] यह गुणों से शून्य आत्मा को गुणों से युक्त करता है।[3] यह गुणो की आधार भूमि—आपाश्रय (आध्यात्मिक समता, विनय आदि अनेक गुणों आधार) है।[4]

योग-मार्ग के साधक को अन्तर्दृष्टिसम्पन्न होना अनिवार्य है और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न साधक का लक्ष्य आत्मा का परिमार्जन और परिष्कार होता है, इसी दोष-परिमार्जन की प्रक्रिया से ही तो वह अपने लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति करता है।

इसीलिए गृहस्थ साधक तथा गृहत्यागी साधक—दोनों ही प्रकार के साधक अपनी-अपनी योग्यता, क्षमता, शक्ति और भूमिका के अनुसार आवश्यक की साधना करते हैं।[5]

आवश्यक की साधना उसके छह अगो की साधना द्वारा की जाती है। दूसरे शब्दों में, आवश्यक के छह अंग है; इसीलिए इसे षडावश्यक कहा जाता है।

आवश्यक साधना के छह अंग[6] ये हैं—

---

१ अवश्य कर्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभयकाल क्रियते इति भाव.।
—आवश्यक मलयगिरिवृत्ति

२ गुणानांवश्यमात्मान करोतीति ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रिय कषायादिभाव-शत्रवो यस्मात् तत् आवश्यकम्। —आवश्यक मलयगिरिवृत्ति

३ ज्ञानादिगुण-कदम्बक मोक्षो वा आसमन्तादवश्य क्रियतेऽनेन इत्यावश्यकम्।
—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति

४ आपाश्रयो वा इदं गुणानाम् प्राकृतशैल्या आवस्सय।

५ समणेण सावणेण य, अवस्स कायव्वय हवइ जम्हा।
अन्नो अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥ —आवश्यक वृत्ति, गा० २

६ अनुयोगद्वार सूत्र मे इनके नाम ये हैं—(१) सावद्ययोग विरति (सामायिक) (२) उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव) (३) गुणवत् प्रतिपत्ति (गुरु उपासना अथवा वन्दना) (४) स्खलित निन्दना (प्रतिक्रमण—पिछले पापो की आलोचना) (५) व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग—ध्यान—शरीर से ममत्व त्याग) और (६) गुणधारण (प्रत्याख्यान—भविष्य के लिए विभिन्न प्रकार के त्याग तथा नियम ग्रहण करना आदि)।

(१) सामायिक—समभाव की साधना ।

(२) चतुर्विंशतिस्तव—तीर्थंकर देव की स्तुति ।

(३) वन्दन—सद्गुरुओ को नमन—नमस्कार ।

(४) प्रतिक्रमण—दोषो की अलोचना ।

(५) कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्व त्याग एवं ध्यान ।

(६) प्रत्याख्यान—आहार तथा कषाय (क्रोध आदि) का त्याग ।

साधना का वैज्ञानिक क्रम

षडावश्यक के इन सभी अंगो का क्रम बहुत ही सोच-विचारकर वैज्ञानिक ढग से रखा गया है । इस क्रम से साधना करने पर साधक उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है । साथ ही अपने दोषो का परिमार्जन करके आत्म-शुद्धि के सोपान पार करता है ।

सर्वप्रथम वह सामायिक में समत्वभाव की साधना करता है । समत्व भाव आने पर वह विषम भावों का विसर्जन करता है । विषम भावो के विसर्जन से उसकी चित्तवृत्ति स्वच्छ हो जाती है । तब वह अपने हृदयासन पर वीतराग तीर्थंकर देवो को विराजमान करता है, उनकी स्तुति द्वारा उनके गुणो को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करता है, गुणो में लीन होता है ।

भगवान महावीर ने कहा है—**धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ**—धर्म शुद्ध हृदय मे ही स्थित हो सकता है, अतः वह सामायिक की साधना द्वारा हृदय भूमि को स्वच्छ बनाता है और चतुर्विंशतिस्तव द्वारा वीतराग के गुणो को धारण करता है, तत्पश्चात् गुणी साधको की वन्दना करता है, उनके प्रति भक्ति से विभोर हो जाता है ।

इस प्रकार वह भक्तियोग की साधना करता है । भक्ति से उसके हृदय मे नम्रता तथा सरलता आती है । सरलता आने पर वह अपने कृत दोषो, जो जाने-अनजाने अथवा विवशता के कारण हो गये हो, उनकी आलोचना करता है ।

क्योकि यह सर्वज्ञात तथ्य है कि सरल व्यक्ति अपने दोषो को पहचान सकता है और सच्चे हृदय से उनकी आलोचना कर सकता है । अपनी भूलो को जानने और उनकी आलोचना करके अपने अन्तर् मे स्वच्छता और शुद्धता लाने की प्रक्रिया ही प्रतिक्रमण है ।

भूलों को पहचानने और उनकी आलोचना करके स्वच्छ होने के उपरान्त अन्तर्शुद्धि में स्थिर रहना आवश्यक है, अन्यथा प्रतिक्रमण की प्रक्रिया गज-स्नान के समान ही रह जायगी, कि एक क्षण पहले स्नान किया और दूसरे ही क्षण शरीर पर धूल डाल ली। अतः अन्तर्शुद्धि में स्थिर रहने के लिए साधक कायोत्सर्ग की साधना करता है।

कायोत्सर्ग में साधक अपने तन-मन को स्थिर करता है, देह से ममत्व और देहाध्यास का त्याग करता है, देहातीत भावना में रमण करते हुए स्थिरवृत्ति का अभ्यास करता है और ध्यान की साधना करता है।

अतः कायोत्सर्ग मे स्थित साधक आसन, ध्यान आदि योगांगों की साधना करता हुआ स्थिरयोग में आता है।

स्थिरवृत्ति की साधना के उपरान्त वह तपोयोग पर अपने चरण रखता है। अनशन (आहार त्याग), कषाय-नोकषाय, अठारह पापस्थानको का त्याग करके तपोयोग की साधना करता है; क्योंकि इच्छाओ का निरोध करना ही तो तप है (इच्छानिरोधस्तपः) और वह प्रत्याख्यान द्वारा अपनी शारीरिक, भौतिक और सासारिक इच्छाओ पर ही तो अंकुश लगाता है, उन्हें यथाशक्ति कम करता है।

षडावश्यक की सम्पूर्ण साधना में वह संवरयोग में ही लीन रहता है; क्योंकि इस काल में वह मन-वचन-काया तथा कृत-कारित-अनुमोदन (त्रियोग-त्रिकरण)[1] से किंचित् भी आस्रवों का सेवन नही करता।

षडावश्यक का यह क्रम साधना की दृष्टि से इतना वैज्ञानिक और

---

१ श्रावक (गृहस्थयोगी) की सामायिक दो करण (कृत और कारित) तथा तीन योग (मन-वचन-काय) से होती है। गृहस्थ होने के कारण वह अनुमति का त्याग नही कर पाता। मान लीजिए, वह सामायिक मे बैठा है, उस समय भी उसके पुत्र तथा सेवक आदि कारखाना अथवा व्यापार चला रहे हैं, घर मे पत्नी पुत्र-वधुएँ आदि गृह कार्य कर रही हैं। ये व्यापार और घर सम्बन्धी कार्य सावद्य कार्य हैं और उनमे उसकी (गृहस्थ साधक की) सवासानुमति (automatically understood accordance) होती ही है, इसीलिए वह अनुमति-त्यागी नही हो पाता। इसके अतिरिक्त उसकी सामायिक का समय ४८ मिनट होता है, शक्ति और शारीरिक एव परिस्थिति की अनुकूलता के अनुसार वह अधिक समय तक भी सामायिक कर सकता है। किन्तु साधु की सामायिक जीवन भर के लिए होती है।

कार्य-कारण की शृंखला पर अवस्थित है कि साधक उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जाता है।

प्रत्येक साधना के लिए यह आवश्यक है कि वह भावपूर्वक हो, साधक उसमें तन्मय हो जाय, तभी साधना फलवती होती है, साधक के जीवन में चमक आती है; साथ ही यह भी जरूरी है कि वह विधिपूर्वक की जाय, अविधि से नही। यह बात षडावश्यक की साधना के बारे मे भी सत्य है।

षडावश्यक के सभी अंगो की साधना साधक किस प्रकार करके अपनी आत्मा को उन्नति की ओर अग्रसर कर सकता है, इसका ज्ञान साधक को आवश्यक है। अतः इनकी विधि, लगने वाले सम्भावित दोषो आदि का संक्षिप्त विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

समतायोग बनाम सामायिक की साधना

सामायिक की साधना पाप कार्यों से सर्वथा निवृत्ति की साधना है। यह एक विशुद्ध साधना है। इसमें साधक को चित्तवृत्तियाँ तरंग रहित सरोवर के समान पूर्ण शान्त रहती हैं। वह अपने शुद्धात्मस्वरूप में अवस्थित रहता है। चित्तवृत्तियो के शान्त रहने से उसके सवरयोग सधता है और आत्मभाव में स्थित होने से निर्जरायोग। संवर और निर्जरायोग की यदि पूर्ण और उत्कृष्ट साधना हो जाय तो साधक मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।[1] शुद्ध सामायिक में लीन साधक करोडो जन्मो के कर्मों को नष्ट कर लेता है।[2]

ऐसे उत्तम फलदायक सामायिक की साधना भी शुद्ध रूप में की जानी चाहिए। शुद्ध सामायिक के लिए साधक को सभी प्राणियो पर समभाव[3]

---

१ सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात् केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम् ॥
—हरिभद्र : अष्टक प्रकरण ३०/१

२ तिव्वतवं तवमाणे जं नवि निव्वट्टइ जम्मकोडीहिं।
तं समभाविआचित्तो, खवेइ कम्मं खणद्धेण ॥

३ (क) जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासिय ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७९६

(ख) अनुयोगद्वार १२८
(ग) नियमसार, गाथा १२६

रखना आवश्यक है। तथा अपनी आत्मा को तप, संयम और नियम में रखना चाहिए।[1]

शुद्धि के लिए शास्त्रो में भी विवेचन किया गया, वहाँ (१) द्रव्य-शुद्धि (२) क्षेत्र शुद्धि, (३) काल-शुद्धि तथा (४) भाव शुद्धि—शुद्धि के ये चार प्रकार बताये गये है।

(१) द्रव्य-शुद्धि से अभिप्राय आसन, आदि की शुद्धि है। जिस आसन पर अवस्थित होकर साधक सामायिक की साधना करता है, उसका उसे भली भाँति प्रमार्जन कर लेना आवश्यक है, उसके धर्मोपकरण भी शुद्ध, सादा और स्वच्छ हो, उसके वस्त्र आदि भी स्वच्छ और श्वेत होने अनिवार्य हैं। श्वेत रंग शांति, सद्‌भावना और सात्विकता का परिचायक है, इसके संयोग से साधक के मनोभावों में भी शुद्धता आती है।

अतः द्रव्यशुद्धि सामायिक साधना की पहली और प्राथमिक शुद्धि है।

(२) क्षेत्र-शुद्धि—साधक को अपनी सामायिक साधना के लिए सर्वथा एकान्त, निरुपद्रव स्थान चुनना चाहिए। स्थान ऐसा हो, जहाँ डांस-मच्छर आदि की बाधा न हो, कोलाहल और भीड़ का शोर न हो, ध्यान में विघ्न पडे, ऐसे कारण वहाँ न हो। ऐसा स्थान उपाश्रय, धर्मस्थानक, नगर और ग्राम के बाह्य भाग तथा वन मे कही भी हो सकता है।

(३) काल-शुद्धि—सामायिक साधना के लिए साधक को काल का ध्यान रखना चाहिए। समय ऐसा होना चाहिए जब कि ज्यादा कोलाहल न हो। ऐसा समय प्रातः और सन्ध्या का होता है। प्रातःकाल मनुष्य का तन-मन प्रफुल्लित रहता है, न तन मे आलस्य रहता है और न मन में जडता। उस समय मन शान्त रहता है, उसमें संकल्प-विकल्पो के तूफान नही उमडते। फिर भी साधक अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार यह निर्णय कर सकता हैं कि वह कब सामायिक की साधना करे, जिससे चित्त चंचल न हो और वह सरलता से शान्तिपूर्वक समत्व की साधना कर सके।

(४) भावशुद्धि—भावशुद्धि से अभिप्राय है—मन-वचन-काय की शुद्धि

---

१ (क) जस्स सामाणिओ अप्पा सजमे नियमे तवे।
तस्स सामायिअ होइ, इइ केवलि भासियं॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७९८

(ख) अनुयोगद्वार १२७, (ग) नियमसार, गाथा १२७.

तथा एकाग्रता एवं निश्चलता। मन-वचन-काय—त्रियोग की अपेक्षा से भाव शुद्धि तीन प्रकार से की जाती है।

(क) मन शुद्धि—मनःशुद्धि का आशय है—मन में अशुभ विचारो का न आना। मन बडा चंचल है, इसकी शक्ति भी अत्यधिक है। गति भी आशातीत है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानो के अनुसार ही विचारो की गति (मन का वेग) २२,६५,१२०, मील प्रति सेकण्ड है; जब कि अन्य किसी भी भौतिक पदार्थ की गति इतनी तीव्र नही है।

यह मन सदा ही संकल्प-विकल्पो और तर्क-वितर्कों के जाल मे उलझा रहता है, तरह-तरह की उधेड-बुन किया करता है, कभी निश्चल बैठता ही नही। इसकी गति को और सकल्प-विकल्पों के जाल को रोकना बहुत कठिन है।

यहाँ साधक के लिए निर्देश है कि वह मन की शुद्धि करे, उसे मारने का प्रयास न करे। क्योकि मन तो कभी मरता ही नही, उसका तो आत्मा में, आत्म-परिणामो मे लय होता है, वह (भाव-मन) आत्मा की अथाह और अनत सता मे विलीन हो जाता है। सामायिक साधक मनःशुद्धि द्वारा मन को आत्मभाव में लोन करता है, अशुभ-भावो की ओर जाते हुए मन को शुद्ध और शुभ भावो की ओर मोडता है, यही उसकी मनःशुद्धि है।

(ख) वचन-शुद्धि—वचन के दो भेद हैं—(१) अन्तर्जल्प और (२) बहिर्जल्प। बहिर्जल्प तो तब होता है जब वचन अथवा ध्वनि प्राणी के शरीर के ध्वनियन्त्रो से टकराती हुई जिह्वा, कंठ, तालु, दन्त, मूर्धा आदि के संस्पर्श एवं संयोग से शब्द अथवा ध्वनि रूप में बाहर निकलती है। ऐसी ही ध्वनि मनुष्य को स्वयं अथवा दूसरों को सुनाई देती है। किन्तु अन्तर्जल्प सिर्फ अन्दर ही रह जाता है, ध्वनियन्त्रो का संयोग करते हुए बाहर नही निकलता। इसकी ध्वनि न साधक को स्वयं सुनाई देती है, न अन्य लोगो को। अन्तर्जल्प मनोविचारो के बाद की स्थिति, उनकी अपेक्षा कुछ स्थूल होता है।

साधारण शब्दों मे अन्तर्जल्प को सूक्ष्म वचनयोग और बहिर्जल्प को स्थूल वचनयोग कहा जा सकता है।

स्थूल वचनयोग की शुद्धि तो सामायिक मे साधक करता ही है, वह अप्रिय, कठोर, कर्कश शब्द नहीं बोलता, किन्तु वास्तविक रूप मे उसकी वचन-शुद्धि तभी होती है जब वह अन्तर्जल्प अथवा सूक्ष्म वचनयोग की शुद्धि कर लेता है।

साधक स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के वचनयोग की शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार की वचन शुद्धि से वह शुद्ध सामायिक की साधना-आराधना करता है।

(ग) काय शुद्धि—काय-शुद्धि का अभिप्राय काय-संयम है। सामायिक का साधक किसी भी एक आसन से स्थिर होकर बैठता है।

वास्तविकता यह है कि काय—शरीर के अस्थिर होने से वचनयोग भी अस्थिर हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप मनोयोग भी चंचल हो जाता है। साथ ही काय-शुद्धि द्वारा साधक आसन-जय भी करता है।

इन सभी प्रकार की शुद्धियो के साथ-साथ वह मन-वचन-काय-योग की स्थिरता, अचंचलता और एकाग्रता की सिद्धि करके सामायिक की शुद्ध साधना करता है।

सामायिक साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम साधक के जीवन में यह होता है कि उसका सपूर्ण जीवन और व्यवहार ममतामय हो जाता है, उसकी राग-द्वेष की वृत्तियाँ उपशान्त हो जाती हैं, उसे आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव होता है।

(२) चतुर्विंशतिस्तव : भक्तियोग का प्रकर्ष

यह षडावश्यक का दूसरा अंग है। षडावश्यक के प्रथम अंग सामायिक में साधक समस्त सावद्य योगो का त्याग कर देता है; किन्तु मन बड़ा चंचल है, उसे किसी न किसी आलम्बन की आवश्यकता पड़ती ही है; उसे किसी श्रेष्ठ ध्येय में लगाना आवश्यक है; अन्यथा वह इन्द्रिय-विषयों की ओर—अशुभ भावों की ओर दौड लगाने लगता है।

साथ ही यह भी एक तथ्य है कि जब तक साधक साधकावस्था में है, उसकी साधना पूर्ण नही हुई है तब तक उसे आलम्बन आवश्यक ही नही, अनिवार्य है।

आत्म-साधक के लिए वीतराग देव ही सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है; क्योंकि उसका ध्येय भी तो वीतरागता प्राप्त करना है, वह स्वयं वीतराग ही तो बनना चाहता है, उसकी साधना का आदि-मध्य-अन्त सब कुछ वीतरागता ही तो है और तीर्थंकर देव वीतरागता के चरमोत्कर्ष हैं। अतः साधक उनका आलम्बन लेता है, उनकी स्तुति करता है और उनके गुणो को बार-बार स्मरण करके उन्हें अपने मन-मस्तिष्क में धारण करता है, उनका उज्ज्वल आदर्श सदैव अपने समक्ष रखकर उन जैसा वीतराग बनने का प्रयत्न करता है।

वीतराग देवो (तीर्थंकरों) की स्तुति करने से साधक को अनेक प्रकार के लाभ होते है। उसकी श्रद्धा परिमार्जित होती है और सम्यक्त्व शुद्ध होता है। वीतराग-स्तुति से साधक आलम्बनयोग और भक्तियोग की साधना में परिपक्व होता है।

(३) वन्दना : समर्पणयोग

देव के उपरान्त दूसरा स्थान गुरु का होता है। गुरु के निर्देशन में ही साधक अपनी साधना को सम्यक् रूप मे परिपूर्ण कर पाता है। अतः गुरु का उसके जीवन-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण हाथ होता है तथा उसके ऊपर उनका महान् उपकार होता है, गुरु के उपदेश ही उसके साधक-जीवन की प्रेरणा और सम्बल होते हैं। अतः साधक सर्वात्मना गुरु के प्रति समर्पित होता है तथा भक्ति-भावपूर्वक उनकी वन्दना करता है। उन्हें मंगल और कल्याण रूप समझता है।

इस प्रकार साधक गुरु-वन्दन एव गुरु भक्ति द्वारा भक्तियोग की साधना तो करता ही है साथ ही समर्पणयोग की भी साधना करता है। इससे वह अपने अहकार का विसर्जन कर देता है, तथा उसका हृदय—मानस-भूमि, सरल और शुद्ध हो जाती है।

(४) प्रतिक्रमण : आत्म-शुद्धि का प्रयोग

यद्यपि साधक अपनी साधना में सदा जागरूक और सावधान रहने का प्रयत्न करता है; फिर भी अनादिकालीन लगे हुए राग-द्वेषो, विषय-कषायो के आवेगो के कारण दोष लगने की सम्भावना रहती ही है। इन दोषो की आलोचना करके आत्म-शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण है।

दूसरे शब्दो में प्रतिक्रमण आत्म-शुद्धि की साधना है, अशुभ से शुभ मे लौटने की साधना है, जीवन को माँजने की कला है।

इसीलिए आत्मदृष्टि से जागरूक साधक दिन में दो बार—प्रातःकाल एवं सायंकाल प्रतिक्रमण करता है। अपनी असावधानी से लगे दोषो की आलोचना करके, आत्म-शुद्धि का प्रयास करता है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण आत्म-शुद्धि तथा जीवन-शोधन की श्रेष्ठ प्रक्रिया है।

(५) कायोत्सर्ग : देह मे विदेह साधना

कायोत्सर्ग में साधक अपने शरीर के ममत्व का त्याग करता है। वह

शरीर से आत्मा को पृथक् मानता हुआ भेदविज्ञान की साधना में आगे बढता है। भेदविज्ञान की साधना दृढ हो जाने पर उसमें कष्ट और परीषह सहन करने की क्षमता बढ जाती है, क्योंकि उसकी धारणा बन जाती है कि ये कष्ट और पीडाएँ शरीर को हो रहे हैं; मुझे यानी मेरी आत्मा को नही; और यह शरीर तो विनश्वर है ही। इस प्रकार देह में विदेह अवस्था सिद्ध होती हैं।

साधक को कायोत्सर्ग की साधना द्वारा आत्मा के शाश्वत स्वभाव और अमरत्व का पूर्ण विश्वास हो जाता है; और यह विश्वास ही देहाध्यास-त्याग के रूप में प्रगट होता है ।

कायोत्सर्ग में साधक सर्वप्रथम देह का शिथिलीकरण करता है। तनावों से मुक्त होकर सम्पूर्ण स्नायुमण्डल को ढीला करता है। साथ ही वह मुद्रा अथवा आसन का भी अभ्यास करता है। वह या तो खड्गासन से कायोत्सर्ग करता है अथवा सुखासन, पद्मासन और अर्द्ध पद्मासन से करता है। तीनों ही दशाओ में उसका आसन तथा आसनस्थित शरीर निश्चल रहता है।

इसके उपरान्त वह दीर्घश्वास द्वारा लयबद्ध श्वास का अभ्यास करता है। दीर्घश्वास से शरीर और शरीर के अवयव शीघ्र ही शिथिल हो जाते है। दीर्घश्वास के साथ धीमे श्वास का अभ्यास साधक करता है। दूसरे शब्दों में, वह श्वास को सूक्ष्म करता है। सूक्ष्म श्वास मन की एकाग्रता में सहायक होता है और उससे साधक तन-मन मे शान्ति व शीतलता अनुभव करता है।

तदुपरान्त वह श्वास की गति के साथ लोगस्स या 'नवकार मन्त्र' की साधना प्रारंभ करता है। एक 'लोगस्स' का ध्यान २५ श्वासोछ्वास में तथा ९ बार नवकार मंत्र का ध्यान २७ श्वासोच्छ्वास मे किया जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा वह ध्यानयोग की साधना करता है।

कायोत्सर्ग में आसन, प्राणायाम और ध्यान—योग के इन तीन अंगों की साधना एक साथ सिद्ध होती है।

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग से होने वाले अनेक लाभ बताये हैं, उनमें से प्रमुख ये हैं—

(१) **देहजाड्य शुद्धि**—कायोत्सर्ग से शरीर में श्लेष्म आदि दोष दूर होते हैं और ये शारीरिक दोष ही देह की जडता के कारण हैं। अतः कायोत्सर्ग की साधना द्वारा देह की जड़ता दूर होती है। शरीर में स्फूर्ति आ जाती है।

(२) मतिजाड्य शुद्धि—कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है, चित्त एकाग्र होता है, उससे बुद्धि की जडता समाप्त हो जाती है। मेधा में प्रखरता आती है।

(३) सुख-दुःख तितिक्षा—कायोत्सर्ग में साधक को देह और आत्मा की पृथक्ता का पूर्ण विश्वास हो जाता है, अतः उसका देह के प्रति ममत्वभाव कम होने लाता है। इसलिए उसमें सुख-दुःख सहन करने की क्षमता बढ जाती है।

(४) अनुप्रेक्षा—कायोत्सर्ग में स्थित साधक अनुप्रेक्षाओ का अभ्यास स्थिरतापूर्वक करता है। इससे मन केन्द्रित होता है।

(५) ध्यान—कायोत्सर्ग मे शुभध्यान का सहज ही अभ्यास हो जाता है।[1]

यदि शरीरशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी कायोत्सर्ग शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक है। बात यह है कि मानसिक एवं शारीरिक तनाव के कारण ही अनेक शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ समुत्पन्न होती हैं। क्योकि तनाव के कारण शरीर में कुछ विशेष रासायनिक परिर्वतन हो जाते हैं।

(१) स्नायुओ की शर्करा एसिड में परिवर्तित हो जाती है, परिणामत स्नायुओ में शर्करा कम हो जाती है। इससे चक्कर आने लगते हैं।

(२) लैक्टिक एसिड स्नायुओ में इकट्ठी हो जाती है। इससे पाचन क्रिया बिगड़ती है।

(३) लैक्टिक एसिड बढ जाने से शरीर में गर्मी बढ़ जाती है।

(४) स्नायुतंत्र में थकान महसूस होने लगती है।

(५) रक्त में प्राणवायु की मात्रा कम हो जाती है। इससे दुर्बलता या घुटन अनुभव होती है।

कायोत्सर्ग मे साधक जो अपने शरीर का शिथिलीकरण करता है और साथ ही दीर्घ तथा लयबद्ध श्वासोच्छ्वास की क्रिया करता है एव शुभ

---

(१) (क) देहमइ जडसुद्धी सुहदुक्ख तितिक्खिया अणुप्पेहा।
झायइ सुह झाण एगग्गो काउसग्गम्मि ॥ —कायोत्सर्ग शतक, गाथा १३

(ख) मणसो एगग्गत्त जणयइ, देहस्स हणइ जडुत्त।
काउसग्गगुणा खलु सुहदुहमज्झत्थया चेव ॥—व्यवहारभाष्य पीठिका, गाथा १२५

(ग) प्रयत्न विशेपत परमलाघवसभवात्। —वही वृत्ति

भावों का ध्यान करता है, उससे उसे तनाव से मुक्ति[1] मिल जाती है, उसके कारण उसके शरीर में निम्न रासायनिक परिवर्तन होते हैं—

(१) स्नायुओ की एसिड पुन: शर्करा में परिवर्तित हो जाती है।

(२) स्नायुओं में लैक्टिक एसिड का जमाव बहुत कम हो जाता है।

(३) लैक्टिक एसिड के कम होने से शरीर की गर्मी भी कम हो जाती है, परिणामस्वरूप शान्ति का अनुभव होता है।

(४) स्नायु-तंत्र की थकान मिट जाती है और साधक को ताजगी का अनुभव होता है, उसको देहजाड्य शुद्धि और मतिजाड्य शुद्धि होती है। शरीर में स्फूर्ति और मन-मस्तिक में ताजगी आती है तथा मन-मस्तिष्क के अधिक सक्षम होने से बुद्धि में तीव्रता आती है।

(५) रक्त में प्राणवायु (ऑक्सीजन) की मात्रा बढ़ आती है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग की साधना साधक के लिए मानसिक एवं शारीरिक—दोनों ही रूप में उपयोगी और लाभप्रद होती है। आध्यात्मिक साधक के लिए इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि क्रोध आदि कषायो की उपशान्ति है, कषायों की उपशान्ति से उसकी चित्तवृत्ति अधिक विशुद्ध बनती है।

(६) प्रत्याख्यान : गुणधारण की प्रक्रिया

साधक द्वारा अवश्य करणीय षडावश्यक का अन्तिम अंग प्रत्याख्यान है। इसमें साधक अशुभ योगों से निवृत्ति और शुभ योगों में प्रवृत्ति करता है, वह व्रत-नियम आदि गुणों को धारण करता है।

व्रत रूपी सद्गुणों के धारण से संयम सधता है, संयम से नये कर्मों का आगमन (आस्रव) का निरोध हो जाता है और आस्रवनिरोध से

---

१ आधुनिक युग में देश-विदेश मे जो विभिन्न योगियो द्वारा ध्यान शिविर लगाये जाते हैं, उनमे कायोत्सर्ग के एक ही अंग सिर्फ शिथिलीकरण की साधना की जाती है। आज का तनावग्रस्त और तनावों मे जीने वाला मानव भी उन शिविरो की ओर आकर्षित सिर्फ इसीलिए होता है कि उसे कुछ समय के लिए तनावो से मुक्ति मिल जाती है, शान्ति का अनुभव होता है। किन्तु षडावश्यक के अन्य अगों के अभाव तथा निश्चित ध्येय—आत्मोन्नति की ओर लक्ष्य न होने से ये ध्यान शिविर आध्यात्मिक योग की दृष्टि से विशेष उपयोगी सिद्ध नही होते। —सम्पादक

तृष्णा का अन्त हो जाता है। तृष्णा के अन्त से अनुपम उपशम भाव उत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध होता है। प्रत्याख्यान की विशुद्धि और उपशम भाव की उपलब्धि से चारित्रधर्म की आराधना होती है। चारित्र-धर्म से कर्मों की निर्जरा होती है। उससे अपूर्वकरण होता है। अपूर्वकरण होने से केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट हो जाते हैं और फिर साधक मुक्त हो जाता है, उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाती है।[1]

इस प्रकार यह प्रत्याख्यान क्रमशः वृत्तिसंक्षययोग की ओर बढ़ने वाली साधना बन जाता है।

प्रत्याख्यान मे साधक विभिन्न प्रकार के व्रत-नियमों को ग्रहण करता है। इन नियमो के कुछ विशेष प्रकार यह हैं।[2]

(१) **सभोग प्रत्याख्यान**—सम्मिलित रूप से भोजन का त्याग। इससे साधक स्वावलम्बी और यथालाभसंतोषी बनता है।

(२) **उपधि-त्याग**—वस्त्र आदि उपकरणो का त्याग। इससे साधक को ध्यान में निर्विघ्नता की उपलब्धि होती है। उसकी इच्छा और आकां-क्षाओ मे कमी आती है।

(३) **आहार प्रत्याख्यान**—इसमें साधक आहार का त्याग करता है। इस प्रकार वह अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी आदि तपो की साधना में समर्थ होता है।

(४) **योग प्रत्याख्यान**—इसमें साधक अपनी क्षमता, शक्ति, योग्यता और पद के अनुसार मन-वचन-काय—तीनो योगो के निरोध की साधना करता हैं। यद्यपि तीनो योगो का पूर्ण रूप से निरोध तो साधना की उच्चतम भूमिका (चौदहवां गुणस्थान) मे होता है; किन्तु साधक अपनी क्षमता के अनुसार योगो के निरोध की साधना करता है।

---

१ पच्चक्खाणमि कए, आसवदाराइं हुंति पिहियाइं।
आसव वुच्छेएण, तण्हा-वुच्छेयण होइ ॥
तण्हा वोच्छेदेण य, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाणं हवइ सुद्ध ॥
तत्तो चरित्तधम्मो, कम्मविवेगो तओ अपुव्व तु।
तत्तो केवलनाणं, तओ या मुक्खो मया सुक्खो ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५९४-१५९६

२ उत्तराध्ययन सूत्र २९/३३-४१

(५) सद्भाव प्रत्याख्यान—इसमें साधक सभी प्रवृत्तियों को त्यागकर वीतराग बनने की साधना करता है।

(६) शरीर-प्रत्याख्यान—शरीर से ममत्व भाव को हटाना। यह साधक की अशरीरी—देहातीत (सिद्ध) बनने की साधना है।

(७) सहाय प्रत्याख्यान—किसी अन्य का सहयोग अथवा सहायता लेने का त्याग। इससे साधक एकत्वभाव को प्राप्त हो जाता है। एकत्व भाव को प्राप्त होने से वह अल्प शब्द वाला, अल्प कलह वाला और संयमबहुल तथा समाधिबहुल हो जाता है।

(८) कषाय-प्रत्याख्यान—इसमें साधक क्रोध आदि कषायो का विसर्जन करता है, परिणामस्वरूप वह राग-द्वेषविजेता, परमशान्तचेता, वीतराग बन जाता है।

इस प्रकार प्रत्याख्यान की साधना द्वारा साधक उत्तरोत्तर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ अपने चरम लक्ष्य को पा लेता है।

षडावश्यक : संपूर्ण अध्यात्मयोग

साधना क्रम की दृष्टि से विचार किया जाय तो षडावश्यक की साधना, संपूर्ण अध्यात्मयोग की साधना है। इसके द्वारा संपूर्ण अध्यात्म-योग सध जाता है।

जैन योग के मर्मज्ञ आचार्य हरिभद्रसूरि ने अध्यात्म योग के ५ सोपान बताये है—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता, और (५) वृत्तिसंक्षय। षडावश्यक में इन पाचो अंगों का अभ्यास होता है।

षडावश्यक के पहले अंग सावद्ययोगविरति (सामायिक) में समता की साधना होती है। चतुर्विंशतिस्तव और गुरुवंदन (उत्कीर्तन तथा गुणवत् प्रतिपत्ति) में साधक अध्यात्म की साधना करता है। प्रतिक्रमण द्वारा वह अपने दोषो का परिमार्जन करता है। कायोत्सर्ग मे भावना और ध्यान की साधना होती है और प्रत्याख्यान द्वारा वृत्तिसंक्षययोग की साधना होती है।

इस प्रकार साधक षडावश्यक द्वारा सम्पूर्ण अध्यात्मयोग की साधना में रमण कर सकता है।

पातंजल अष्टांगयोग की दृष्टि से विचार करने पर षडावश्यक द्वारा योग के आठों अंगों की साधना हो जाती है। प्रत्याख्यान द्वारा यम-नियम तथा कायोत्सर्ग द्वारा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा (ध्यान की पूर्व

पीठिका के रूप में) ध्यान और समाधि—इन आठो अंगो की साधना पूर्ण हो जाती है।

यही कारण है कि जैन साधक को, चाहे वह गृहस्थ साधक हो अथवा गृहत्यागी श्रमण साधक हो, षडावश्यक की साधना प्रतिदिन करने का जैन आगमो और ग्रन्थो मे निर्देश दिया गया है। षडावश्यक की साधना द्वारा वह सम्पूर्ण अध्यात्मयोग और अष्टांगयोग की साधना सतत करता है।

हाँ, इतना अवश्य है कि परिस्थिति, पदवी, योग्यता और क्षमता के अनुसार गृहस्थ साधक और गृहत्यागी साधक की षडावश्यक साधना मे अन्तर आ जाता है; और यह स्वाभाविक भी है। फिर भी दोनो का ध्येय एक ही है और वह है मोक्ष। श्रमण अपने ध्येय की ओर शीघ्र गति से अग्रसर होता है, जबकि गृहस्थ साधक की गति मन्द होती है। पर दोनो ही अपने लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति की ओर बढ़ते रहते है। □□

६ ग्रन्थि-भेद-योग साधना

ग्रन्थि कहते है गाँठ को। इसे अंग्रेजी में knot अथवा tie भी कहते हैं। जिस प्रकार कपड़े में गाँठ लगाई जाती है, रेशम की डोरी में गाँठ लगाई जाती है। जैसी वस्त्र व डोरी मे गाँठ होती है, वैसी गाँठ मन में भी होती है। अन्तर इतना है कि कपडे और रेशम की गाँठ स्थूल होती है; तथा मन की गाँठ सूक्ष्म होती है।

जिस प्रकार सूती कपड़े से रेशम महीन होता है और महीन होने के कारण ही उसकी गाँठ बहुत मजबूत होती है, सरलता से नही खुलती, बहुत प्रयास करना पड़ता है; उसी प्रकार मन तो और भी सूक्ष्म है, उसे आँखे देख नही सकती; कान सुन नही सकते, न वह सूँघा जा सकता है, न चखा जा सकता है और न ही उसका स्पर्श किया जा सकता है, बहुत ही सूक्ष्म है वह, तो उसकी गाँठ भी अत्यधिक मजबूत होती है, उसे खोलने के लिए साधक को बहुत-बहुत प्रयत्न करना पड़ता है।

मन मे अनेक प्रकार की गाँठें होती है—अज्ञान की ग्रन्थि, मिथ्यात्व की ग्रन्थि, वस्तु के किसी एक ही पक्ष को पूर्ण सत्य मानने की (आग्रह) एकान्त की ग्रन्थि, संशय की ग्रन्थि, क्रोध अथवा वैर की गाँठ, अहंकार और ममकार की ग्रन्थि, झूठ-कपट की, लोभ-लालच की ग्रन्थि; आदि-आदि अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ होती हैं मन में। ये सब मनोग्रन्थियाँ है जो बहुत ही सूक्ष्म हैं इसलिए खोलने में अत्यन्त कठिन है।

ये सभी प्रकार की ग्रन्थियाँ साधक की आत्मोन्नति में बाधक होती हैं, इन ग्रन्थियों को खोले बिना अथवा नष्ट किये बिना साधक मोक्ष-मार्ग में उन्नति—गति-प्रगति नही कर पाता।

इन सभी ग्रन्थियों को आत्मिक गुणों की अपेक्षा दो भागो में वर्गीकृत किया जा सकता है—प्रथम, श्रद्धा अथवा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे रुकावट डालने वाली ग्रन्थियाँ और द्वितीय, आत्मा के चारित्र गुण के विकास में बाधक बनने वाली ग्रन्थियाँ।

अज्ञान, विपरीत ज्ञान, संशय, एकान्त आग्रह आदि की ग्रन्थियाँ आत्मा

के दर्शन गुण (सम्यग्दर्शन—शुद्ध श्रद्धा) को प्रभावित करती हैं और उसका दृष्टिकोण सम्यक् सर्वग्राही नही होते देती।

क्रोध, मान, राग-द्वेष, माया, कपट, लोभ, काम, अहकार-ममकार आदि की ग्रन्थियाँ आत्मा के चारित्र गुण को प्रभावित करती है, प्राणी को मोक्ष-मार्ग में गति नही करने देती, यम-नियम आदि की साधना मे बाधक बनती हैं और चारित्रिक विकास को अवरुद्ध करती है। उनके कारण आत्मा श्रावकाचार अथवा श्रमणाचार का पालन नही कर पाता। मोक्ष अथवा निर्वाण एवं शान्ति—उससे बहुत दूर रहती है।

प्राचीन आगमो मे तथा तत्त्वार्थसूत्रकार ने ग्रथि के लिये 'शल्य' शब्द का प्रयोग किया है। जिस प्रकार शल्य (काँटा) हर समय व्यक्ति के मन में चुभता रहता है, उसी प्रकार ग्रन्थि भी साधक को व्यथित किये रहतो है।

किसी व्यक्ति ने आपका अपमान कर दिया, आप उस समय उसका बदला नही ले पाये, लेकिन वह अपमान आपको खटक गया, अब वह वैर की गाँठ (ग्रंथि) बन गया, जब तक आप उससे बदला नहीं चुका लेंगे वह ग्रथि शल्य के समान खटकती रहेगी, चुभती रहेगी। यह वैर की ग्रन्थि है, जो लम्बे समय तक चलने वाले क्रोध का परिणाम होती है।

जैन मनोविज्ञान के अनुसार मनोग्रन्थियाँ दो[1] प्रकार की होती हैं—

---

१ वैदिक परम्परा मे तीन प्रकार की हृदय ग्रन्थियाँ मानी गई हैं—(१) आगामी कर्म (२) सचित कर्म और (३) प्रारब्ध कर्म।

(१) आगामी कर्मों को उपनिषद् मे ब्रह्मग्रन्थि, चडी मे मधुकैटभ और तंत्र मे कुल-कुण्डलिनी कहा गया है। इसका स्थान मनोमय कोष माना गया है तथा स्वामी ब्रह्मा को। यहाँ मन के दो मुख माने गये हैं—एक नीचे को ओर तथा दूसरा ऊपर की ओर। नीचे का मुख प्रवृत्ति की ओर प्रवाहित रहता है अर्थात् मन सहज रूप से सासारिक विषयो की ओर दौडता रहता है। इसके विपरीत ऊपर का मुँह सद्गुरु का सत्सग तथा उनकी कृपा प्राप्त होने पर खुलता है और निवृत्ति की ओर प्रवाहित होने लगता है। सार यह कि मन की सहज प्रवृत्ति ससाराभिमुख होती है, किन्तु सत्सग तथा गुरुकृपा से उसका प्रवाह निवृत्ति की ओर होने लगता है।

इस ग्रन्थि के भेदन के लिए आत्म-साक्षात्कार आवश्यक है, बिना आत्म-दर्शन के इस ग्रन्थि का यथार्थ भेदन नही होता।

आत्मसाक्षात्कार अथवा आत्म-दर्शन के लिए साधक अपने मन को

(१) आत्मा के दर्शन गुण को प्रभावित करने वाली और (२) आत्मा के चारित्र गुण को प्रभावित करने वाली।

ग्रंथियाँ कैसे निर्मित होती हैं?

किसी गाँव में एक तालाब था। उसमें एक कछुआ रहता था। तालाब के किनारे पर गाँव के मनुष्य आया जाया-आते थे। उनकी परछाईं

ससाराभिमुखी होने से रोकता है। तब उसकी बुद्धि (तर्कणा—हिताहित निर्णायिका शक्ति) का विकास होता है। बुद्धिमय क्षेत्र ही मेधस् का आश्रय स्थान है, आश्रय है और यही ब्रह्मज्ञान का तोरणद्वार है। सुषुम्णा प्रवाह प्रकाशित होने पर साधक वहाँ पहुँच सकता है। तन्त्रयोग मे इसी को कुल-कुण्डलिनी जागरण कहा जाता है। इसका साक्षात्कार होते ही जीव की ब्रह्मग्रन्थि शिथिल हो जाती है।

षट्चक्रों के अनुसार ब्रह्मग्रथि तथा उसके स्वामी ब्रह्मा का स्थान नाभिचक्र है।

ब्रह्मग्रन्थि-भेद सत्य की प्रतिष्ठा है।

ब्रह्मग्रन्थि-भेद होने पर साधक की आगामी कर्मों (किये जाने वाले कर्म) के प्रति आसक्ति का नाश हो जाता है। साधक हानि-लाभ, यश-अपयश मे अनासक्त हो जाता है, उसकी फलासक्ति छूट जाती है।

(२) संचित कर्म अथवा **विष्णुग्रन्थि** का निवास हृदयचक्र में है। विष्णु-ग्रन्थि-भेद से प्राण प्रतिष्ठा होती है। विष्णु ग्रन्थि का स्थान प्राणमय कोष है। प्राणमय कोष मे जीव के अनेक जन्मो के सस्कार संचित रहते हैं। इन्ही को सचित कर्म कहा गया है।

प्राणमय कोष सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर मे ही सस्कार सञ्चित रहते है। सस्कार ही प्राणी के लिए यथार्थ वधन हैं।

साधना क्षेत्र मे प्राण का नाम विष्णु है। विष्णुग्रन्थि के भेद के लिए जीव भववीजीय सस्कारो का विसर्जन करता है, अपने अहं का त्याग करता है और शरणागतियोग की साधना करता है, भगवान तथा सद्गुरु की शरद ग्रहण करता है। इस शरणागतियोग से उसके भववीजीय सस्कार नष्ट हो जाते हैं और विष्णुग्रन्थि का भेदन हो जाता है, गाठ खुल जाती है।

इस ग्रन्थि-भेद के फलस्वरूप आत्मा की कामनाओ तथा वासनाओ का विनाश हो जाता है, उसे चित्तविशुद्धि प्राप्त हो जाती है।

जल में पड़ती थी। परछाईं तो जल में उल्टी ही पडती है—पैर ऊपर की ओर और सिर नीचे की ओर। उन परछाइयो को देखकर कछुए ने धारणा बना

हठयोग की भाषा मे उसका हृदय चक्र जागृत हो जाता है, अनाहत नाद सुनाई देने लगता है और साधक को आनन्द रस की अनुभूति होने लगती है।

(३) प्रारब्ध कर्मों को ही **रुद्रग्रन्थि** कहा जाता है। रुद्र का एक अर्थ शिव भी है। शिवजी का निवास मानव के ललाट मे माना जाता है, अत इस ग्रन्थि का स्थान भी ललाट है। हठयोग की भाषा मे आज्ञा चक्र है।

इस ग्रन्थि को कारण शरीर—विज्ञानमय कोष मे अवस्थित माना गया है। इस ग्रन्थि के भेद के लिए साधक निम्न प्रयास करता है—

(१) **जीवो ब्रह्मैव नापर**' (जीव ही ब्रह्म है, ब्रह्म जीव से भिन्न अन्य नही) सूत्र पर दृढ विश्वास।

(२) बुद्धि तत्त्व मे अवस्थान कर स्वय प्रकाशित चितिशक्ति की ओर बार-बार लक्ष्य करने का अभ्यास।

(३) दृश्य पदार्थों मे व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता नही है, युक्ति से इस तथ्य पर दृढ विश्वास।

(४) शास्त्रीय प्रमाणो की सहायता से **'तत्त्वमसि' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किंचन'** इत्यादि वाक्यो को प्रमाण मानते हुए अद्वय रूप परिग्रह करने का प्रयास।

इन प्रयासो से जीव को कारण-शरीर का भी अहकार समाप्त हो जाता है और रुद्रग्रन्थि का भेदन हो जाता है। इस ग्रन्थि के खुलते ही साधक को विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। और फिर गीता की भाषा मे—**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते'** ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।

सक्षेप मे रुद्रग्रन्थि के भेदन से साधक को विशुद्धि बोध स्वरूप (आत्मज्ञान) की प्राप्ति हो जाती है, वह उस ज्ञान ज्योति मे रमण करता है और उसके समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं तथा वह मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

हठयोग की भाषा मे कहें तो कुण्डलिनी शक्ति का मिलाप शिव (शुद्ध ज्योति स्वरूप ज्ञान सत्ता) से हो जाता है।

यही वैदिक परम्परा मे ग्रन्थिभेदयोग साधना है।

—परमार्थ पथ (गीता प्रेस, चन्डीगढ) मे प्रकाशित
'ग्रन्थि भेद' का संक्षिप्त : सार पृष्ठ २५६-२६७

ली कि मनुष्य वह होता है जिसका सिर नीचे भूमि की ओर तथा पैर आकाश की ओर होते है। यह विपरीत ज्ञान की ग्रन्थि उसके मन-मानस में इतनी गहरी बैठ गई कि जब उसने पानी से निकलकर और किनारे पर आकर साक्षात् मनुष्य को अपने सामने खडे देखा तो उसे विश्वास ही नही हुआ क्योंकि उसकी तो धारणा थी कि मनुष्य वह होता है जिसका सिर जमीन की ओर और पैर आसमान की ओर होते हैं।

इसो प्रकार जिस मनुष्य का चित्त दोलायमान होता है, दीवाल घड़ी के घंटे के समान एक सेकिंड में इधर जाता है तो दूसरे ही क्षण उधर। ऐसी ही स्थिति संशयशील मनुष्य की होती है, जब यह स्थिति अधिक दिनो तक चलती है तो वह ग्रन्थि बन जाती है।

इसी प्रकार अधिक समय तक चलने वाली राग-द्वेष, अभिमान, वैर आदि की धाराएँ मन में इतनी गहरी जम जाती हैं कि ग्रन्थियो का रूप ले लेती हैं। अमोनिया पर यदि जल की धारा बहाई जाय तो वह बर्फ बन जाती है, पानी जमकर बर्फ बन जाता है, बस यही दशा मनोग्रन्थियो की है, विभिन्न प्रकार के आवेगों-संवेगों, धारणाओ का प्रवाह भी ग्रथियों का रूप ले लेता है, मन में गांठ पड़ जाती हैं।

ग्रन्थियों की अवस्थिति

ग्रन्थियों की अवस्थिति होती है अवचेतन मन में। मनोविज्ञान के अनुसार मन के तीन स्तर माने गये हैं—(१) अचेतन मन (unconscious mind), (२) अवचेतन मन (sub-conscious mind) और (३) चेतन मन (conscious mind).

इसे अगर चेतना की दृष्टि से कहना चाहें तो कह सकते है— (१) गुप्त चेतना (२) अप्रकट चेतना और (३) प्रकट चेतना।

जिस प्रकार मन के तीन विभाजन हैं, उसी प्रकार मानव शरीर के भी तीन प्रकार हैं। प्रथम औदारिक अथवा स्थूल शरीर; द्वितीय तैजस् या सूक्ष्म शरीर और तीसरा कार्मण शरीर।

मन, चेतना और शरीर के ये तीनो स्तर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं।

ग्रन्थियों की अवस्थिति होती है तैजस् शरीर में और उनके मूल कारण राग-द्वेष की अवस्थिति होती है कार्मण शरीर में (कर्म रूप में)।

इनमें कारण-कार्य भाव होता है, अर्थात् कार्मण शरीर उत्तेजित

करता है तैजस् शरीर को और तैजस् शरीर से उत्तेजना मिलती है औदारिक शरीर को और औदारिक शरीर से ग्रन्थियो का प्रकटीकरण हो जाता है।

यही स्थिति मन की है। अचेतन मन से अवचेतन मन उत्तेजना प्राप्त करता है और अवचेतन मन से चेतन मन। जिस प्रकार औदारिक शरीर मनोवेगो और ग्रन्थियो के प्रगटीकरण का माध्यम है उसी प्रकार चेतन मन भी माध्यम है।

अवचेतन मन में रही हुई ग्रन्थियाँ कोई भी निमित्त पाकर अथवा अवकाश के क्षणो मे चेतन मन पर उभर आती हैं।

आपका किसी ने अपमान कर दिया। उस समय किसी विवशता के कारण आपको वह अपमान कडवे घूँट के समान पीना पड़ा; किन्तु बदले की भावना मन में घर कर गई। चेतन मन से अवचेतन मन में चली गई। अब आपको हर समय उसकी याद नही आती। वह ग्रन्थि बन गई है और अवचेतन मन की गहराई मे उतर गई है तो याद कैसे आये। क्योंकि आप काम तो चेतन मन से करते है। अपने व्यापार-धन्धे मे लगे रहते हैं, आफिस जाते हैं, दूकान चलाते हैं, मिल चलाते हैं। लेकिन जब कभी बातचीत के दौरान उस व्यक्ति की चर्चा चल पडती है, अथवा वह दिखाई दे जाता है तो आपकी वह बदले की भावना—बदले की मनोग्रन्थि उभर कर चेतन मन में आ जाती है और आप तिलमिला उठते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आप अवकाश के क्षणों में बैठे हैं, काम कोई है नही। आप निश्चल बैठे है, या पलंग पर लेटे है लेकिन आपका मन न तो कभी निश्चल बैठता है और न लेटता ही है, वह तो हमेशा चंचल रहता है, भाँति-भाँति के विचार उसमे दौड़ते रहते हैं, उस विचार प्रवाह मे यदि वह घटना स्मृति पटल पर तैर गई—अवचेतन मन से चेतन मन के प्रवाह में आ गई तो भी आप तिलमिला उठेंगे, बदले की आग में जल उठेंगे।

तो निष्कर्ष यह है कि मनोग्रन्थियाँ अवचेतन मन में रहती हैं और कोई निमित्त पाकर या अवकाश के क्षणो में चेतन मन में उभर आती हैं।

आधुनिक सभ्यता का उपहार : विभिन्न ग्रन्थियाँ

आधुनिक युग से मानव सभ्य तो हुआ है, वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण उसे विभिन्न प्रकार की सुख-सुविधाओ के साधन भी प्राप्त हुए हैं, वह शिक्षित भी हुआ है, किन्तु इस सभ्यता के उपहारस्वरूप मिली हैं उसे विभिन्न प्रकार की मनोग्रन्थियाँ।

यदि मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाय तो आधुनिक युग का मानव अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ अपने अन्तर्मानस में पाले हुए हैं। हीनभावना, उच्चता की भावना, अभिमान एवं वस्तुओं के प्रदर्शन की भावना आदि विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियों से वह पीड़ित है।

सबसे बडी बात यह है कि आज शराफत का युग है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शराफत का प्रदर्शन करता है; जिसके प्रति वह मन में बदले की भावना रखे हुए है, उसे धोखा देना चाहता है, उसकी समृद्धि और उन्नति के प्रति ईर्ष्या और जलन रखता है, उसे गिराने की योजनाएँ बनाता है, षड्यन्त्र रचता है; किन्तु उसी व्यक्ति से जब वह मिलता है तो ऐसा प्रगट करता है मानो उसका सबसे बडा मित्र और हितैषी वही है।

सामाजिक ही नही राजनीतिक, पारिवारिक आदि सभी क्षेत्रो में और यहाँ तक कि धार्मिक क्षेत्र मे भी ये ग्रन्थियाँ अपना प्रभाव दिखाती हैं। इनके परिणामस्वरूप मनुष्य का व्यक्तित्व खण्डित या विभक्त हो जाता है, उसका आचरण दोहरा—दो प्रकार का हो जाता है, अन्दर कुछ और बाहर कुछ और ही।

ग्रन्थियाँ कारण हैं—दोहरे व्यक्तित्व की

ग्रन्थियों के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व दोहरा हो जाता है। वह ऊपर से सज्जन-साधु और मन से दुर्जन तथा पापी बन जाता है, दूसरे शब्दो में ढोंगी और पाखंडी (Hypocrate) हो जाता है।

धर्मस्थानक में जाकर सदुपदेश सुनता है। वासना एवं भोगो के त्याग के सदुपदेश भी सुनता है। उस समय सुनने में उसे ये बातें अच्छी भी लगती हैं; किन्तु ज्योंही घर या व्यापारिक संस्थान में आता है, उसका व्यवहार बदल जाता है।

ग्रन्थियों के कारण ही मनुष्य धर्म और धार्मिक बातों को अपने अन्तर् में रमा नहीं पाता, उसका धर्माचरण बाहरी अथवा ऊपरी ही रह जाता है। वास्तविकता यह है कि धर्म अचेतन तथा अवचेतन मनोजगत की वस्तु है, किन्तु वहाँ तो राग-द्वेष और विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियाँ जड़ जमाए हैं, अतः धर्म वहाँ कैसे स्थान पा सकता है, केवल वो ऊपरी सतह तक ही रह जाता है। धार्मिक सिद्धान्तों का केवल दोहराना मात्र होता है।

अन्तर् में राग-द्वेष और शत्रु-मित्र की ग्रन्थियाँ तथा ऊपर से सज्ज-नता रखने से मनुष्य खंडित मन (Divided mind)[1] कुण्ठित (Frustrated

mind) तथा विभाजित व्यक्तित्व (Divided personality) वाला हो जाता है। न वह व्यावहारिक जगत में सफल हो पाता है और न आध्यात्मिक क्षेत्र में; वह घुटनभरा असन्तुष्ट जीवन जीता है। वह कभी उच्चता (superiority complex) का प्रदर्शन करता है तो कभी हीनता (inferiority complex)का। निर्बलों पर झल्लाना, उन पर नाराज होना तथा सबलो की खुशामद करना—यही उसका जीवन व्यवहार बन जाता है। उसे स्वयं अपने ऊपर विश्वास तो रहता ही नही, उसका आत्मविश्वास समाप्तप्राय हो जाता है, कभी अतिविश्वास (over-confidence) का शिकार बन जाता है तो कभी अल्पविश्वास (under confidence) का। विभिन्न प्रकार के परस्पर विरोधी विचारो के वात्याचक्रों घूमता-भटकता रहता है।

अतः ग्रन्थियो के मूल कारणों और आधारों को समझना साधक के लिए आवश्यक है जिससे वह अपनी साधना समुचित रूप से कर सके।

ग्रन्थियों के मूल कारण और आधार

ग्रन्थियो के मूल कारण है—राग-द्वेष और आधार है—पक्षपात। पक्ष दो होते है—एक अपना और दूसरा पराया। अपने के प्रति कभी राग भी होता है और रागजन्य क्रोध भी। क्रोध इस प्रकार कि अपने पुत्र आदि, जिस पर अपनत्व भाव है उसने कोई बात न मानी तो उस पर क्रोध आगया। लेकिन पराया तो पराया है, उसके प्रति अपनत्व भाव तो है ही नही; उसके प्रति द्वेष की ग्रंथि ही बनती है।

इस अपने-पराये का पक्षपात और अहंकार-ममकार, राग-द्वेष रूप आधार को समाप्त किये बिना ग्रंथि-भेद नहीं हो पाता।

ग्रन्थि-भेदयोग की साधना

ग्रंथि-भेद का अभिप्राय श्वानवृत्ति को त्यागकर सिंहवृत्ति अपनाना है, श्वान से सिंह बनना है। श्वान की दो प्रमुख वृत्तियाँ हैं—एक, निर्बलों पर झपटना, उन पर गुर्राना, उनको नोंचना, खसोटना, नाजायज रूप से दबाना; तथा बलवानो के आगे दब जाना, दाँत दिखाना, पूँछ हिलाना और उनकी खुशामद करना; और दूसरी वृत्ति है निमित्त पर झपटना, निमित्त को ही दोषी मानना, जैसे कोई व्यक्ति कुत्ते को लकड़ी से मारे तो वह लकड़ी पर झपटता है, उस व्यक्ति पर नही; श्वान की यह दूसरो वृत्ति निमित्त आश्रित होती है।

इसी प्रकार जो ग्रंथिग्रस्त मनुष्य होते हैं वे भी श्वानवृत्ति के समान आचरण करते हैं।

इसके विपरीत सिंह स्वाभिमानी होता है, वह निर्बल को सताता नही और शक्तिशाली के सामने दबता नही वरन् उससे संघर्ष करता है; साथ ही वह बन्दूक पर नही अपितु बन्दूक चलाने वाले पर झपटता है, उसकी दृष्टि निमित्त से आगे बढ़कर उपादान तक पहुँचती है।

ग्रन्थिमुक्त मनुष्य सिंहवृत्ति वाले होते है, उनमें आत्मविश्वास होता है, वे अपने विवेक से कारणों की तह तक पहुँच जाते हैं।

ग्रन्थिभेद का अभिप्राय है श्वानवृत्ति का पलायन और सिंहवृत्ति का आविर्भाव।

आध्यात्मिक शब्दों में ग्रन्थिभेद की साधना स्वयं का स्वयं से संघर्ष है। साधक अपनी ही हीनवृत्तियों से, दुर्वृत्तियो से, ग्रन्थियो से स्वयं ही अपने अन्तर् में संघर्ष करता है। यह सम्पूर्ण सघर्ष आन्तरिक है, बाहर इस संघर्ष का कोई भी चिन्ह नही दिखाई देता, सिर्फ परिणाम ही झलकता है।

आन्तरिक होने के कारण यह संघर्ष बहुत ही श्रमसाध्य है।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण के जीवन का एक प्रसंग है। एक बार उन्होंने भगवान अरिष्टनेमि के सभी श्रमणो की सविधि वन्दना की। वन्दना करते-करते वे अत्यधिक थक गये। सभी श्रमणों की सविधि वन्दना समाप्त करने के बाद उन्होने भगवान अरिष्टनेमि से पूछा—

"भन्ते! मैंने जीवन में बहुत से युद्ध किये है, लाखों योद्धाओ से अकेला ही जूझा हूँ। फिर भी मुझे कभी इतनी थकान नहीं आई, जितनी आज श्रमणों की वन्दना से आ गई है। इसका क्या कारण है?"

भगवान अरिष्टनेमि ने कहा—

"कृष्ण! वह बाह्य युद्ध थे। उनमें तुमने बाहरी शत्रुओं से संघर्ष किया था। किन्तु श्रमण-वन्दन करते समय तुम आन्तरिक शत्रुओं से जूझ रहे थे, कर्मों की ग्रन्थियो को तोड रहे थे। आन्तरिक संघर्ष अधिक कठिन होता है, इसीलिए तुम्हें थकान का अनुभव हो रहा है।"

सार यह है कि आन्तरिक संघर्ष में अधिक आत्मिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है; और ग्रन्थिभेद साधना में आन्तरिक संघर्ष ही साधक को करना होता है।

ग्रन्थियो के भेद और प्रकार कितने भी हों, उनके कितने भी नाम दिये जायें किन्तु सबकी सब एक ही वृत्ति मे समाहित हो जाती हैं और मन की इस वृत्ति का नाम है 'मोह'।

सबसे पहले साधक को ध्यान रखना चाहिए कि वह ग्रन्थि का भेदन कर रहा है, छेदन नही। उसे काटने (कर्तन करने) अथवा तोडने का प्रयास न करे, अपितु उसे सुलझाए, शिथिल करे, उसका बन्धन ढीला करके उसे खोले।

कुछ साधक आवेश एवं उत्साह मे भरकर ग्रन्थियो को तोडने का प्रयास करते है, किन्तु उनकी यह क्रिया मूलत' विपरीत और हानिकारक है। इसके परिणाम बडे भयकर होते हैं, गाँठ तो खैर खुलती ही नही, ग्रंथि भी नहीं टूटती वरन् मानसिक विकृति और उत्पन्न हो जाती है।

धागा एक स्थूल वस्तु है, वह टूट सकता है, उसके दो टुकडे हो सकते हैं किन्तु चेतना एक अखंड धारा है, इसके खण्ड नही हो सकते, यदि उस अखंड चेतना के प्रवाह को ग्रंथिभेद करते समय तोड़ने का प्रयास किया जायगा तो वही स्थिति बनेगी जैसी कि नदी के प्रवाह को अचानक रोकने से होती है, नदी का जल तटो को तोड़कर सर्वनाश का—प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देगा। उसी प्रकार चेतना के सहज प्रवाह को रोकने का परिणाम भी साधक के लिए अतिभयंकर होता है।

अत. ग्रंथिभेदयोग की साधना के लिए क्रमपूर्वक चलना हितकर है।

ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया एवं क्रम

सुयोग्य साधक ग्रंथिभेद क्रमपूर्वक और बड़ी जागरूकता के साथ करता है। ग्रंथिभेद करते समय निरंतर उत्साह, लगन, दृढनिष्ठा और उल्लास का बना रहना आवश्यक है; क्योकि इस आंतरिक संघर्ष मे थोडी सी भी असावधानी साधक के सारे प्रयत्नो को विफल कर देती है।

साधक अपने साधना काल में दो बार ग्रंथि-भेदन करता है, प्रथम, जब वह अपनी मिथ्या श्रद्धा को सम्यक् रूप मे परिणत करता है और दूसरी बार जब वह कैवल्य प्राप्ति के लिए श्रेणी का आरोहण करता है। दोनों बार का साधनाक्रम एक-सा है।

साधक अपने साधना क्रम मे सर्वप्रथम अपने विश्वास को सम्यक् बनाता है, उस समय उसकी आत्मिक चेतना का संघर्ष दर्शन (श्रद्धा) को विपरीत करने वाली ग्रंथियो से होता है। इस समय चेतना का प्रतिपक्षी होता हैं—मोह। मोह वहाँ राग और द्वेष—दो रूपो मे अपने को प्रगट करता है। साधक को अपनी पुरानी मान्यताओ और धारणाओ तथा कदाग्रह का राग सताता है, कभी संप्रदाय का राग सामने आ जाता है तो कभी पुराने संस्कारो का, इसी प्रकार द्वेष भी विभिन्न रूप रखकर सामने आता है,

यह तीसरा व्यक्ति ही ग्रंथिभेद करके सम्यक्दर्शन की प्राप्ति एवं श्रेणी आरोहण करने में सक्षम होता है।

ग्रन्थिभेद साधना के परिणाम

ग्रन्थिभेद साधना के परिणाम साधक के लिए वहुत हितकर, कल्याणकर और सुखद होते है।

सबसे बड़ा लाभ साधक को ग्रथिभेद से यह होता है कि उसकी चेतना का प्रवाह सहज हो जाता है, ग्रथि न रहने से उनके प्रवाह में किसी भी प्रकार की रुकावट नही आती, उसके व्यक्तित्व मे दोहरापन नही रहता, उसका अन्तर् और बाह्य एक समान रहता है। इसके परिणामस्वरूप उसकी सारी दुविधाएँ मिट जाती हैं, उसमें सरलता और ऋजुता आ जाती है तथा चित्त की भूमि विशुद्ध हो जाती है। विशुद्ध चित्तभूमि होने से वह धर्म का आचरण करता है, धर्म को धारण करता है, अपनी भावनाएँ विशुद्ध रखता है, अपने आत्म-परिणामो की प्रेक्षा करता है और श्रेणी आरोहण करके कैवल्य प्राप्त कर लेता है। कैवल्य की उपलब्धि के उपरान्त तो उसे मुक्ति प्राप्त हो ही जाती है।

इस प्रकार ग्रथिभेदयोग साधना मुक्ति की सहज साधना है। योग-मार्ग के अभ्यासियो के लिए आवश्यक साधना है।

□□

७ तितिक्षायोग साधना

तितिक्षा का अभिप्राय

तितिक्षा का अर्थ है—सहनशीलता, समभाव और शान्ति। इन्हें अंग्रेजी में व्यक्त करना चाहें तो Endurance, Folerance और Peace कह सकते हैं। सहनशीलता और सहिष्णुता लगभग एक ही अर्थ को व्यक्त करते है, वह है समभाव। इसीलिए गांधीजी ने अंग्रेजी के शब्द tolerance का हिन्दी पर्याय 'समभाव' किया।

तितिक्षा शब्द का अभिप्रेत हुआ समभाव (tolerance) और शान्ति (peace)। तितिक्षायोग की साधना मे साधक इन दोनो की साधना करता है। वह तन को और मन को भी साधता है, उन्हे सहनशील होने की ट्रेनिंग देता है, बर्दाश्त करने की क्षमता बढ़ता है, कठिन-से कठिन परिस्थिति मे भी तन-मन को संतुलित बनाये रखने की आदत डालता है। साधक समभाव की भी साधना करता है और शान्ति की भी साधना करता है।

समभाव का अर्थ है—अनुकूल और प्रतिकूल—दोनो ही परिस्थितियो में उद्वेलित न होना, राग-द्वेष रहित होकर तटस्थ रहना।

शान्ति का अभिप्राय है—मानसिक संकल्पो-विकल्पो, आवेगो-संवेगों में न उलझना, आत्मिक भावो मे स्थिर रहना, तनावमुक्त रहना।

समभाव की साधना, साधक परीषहों पर विजय प्राप्त करके करता है। वह परीषहो को समभाव से सहन करता है, वह न उस अवसर पर घबड़ाता है और न ही दीन बनता है, अपितु निर्भीक योद्धा के समान उनका मुकाबला करता है और उन पर विजय प्राप्त करता है, फिर भी उसके मन में राग-द्वेष का संचार नही होता।

परीषहजय : समत्व की साधना

जैन आगमो में बाईस प्रकार के परीषह बताये हैं जो इस प्रकार है—(१) क्षुधा परीषह (२) पिपासा परीषह (३) शीत परीषह (४) उष्ण परीषह (५) दंश-मशक परीषह (६) अचेल परीषह (७) अरति परीषह (८) स्त्री

परीषह (९) चर्या परीषह (१०) निषद्या परीषह (११) शय्या परीषह (१२) आक्रोश परीषह (१३) वध परीषह (१४) याचना परीषह (१५) अलाभ परीषह (१६) रोग परीषह (१७) तृण-स्पर्श परीषह (१८) जल्ल परीषह (१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह (२०) प्रज्ञा परीषह (२१) अज्ञान परीषह और (२२) दर्शन परीषह।

यो तो प्राणीमात्र का जीवन संघर्षों की कहानी है, सुख-दुःख का चित्रपट है किन्तु मानव-जीवन तो सघर्षों मे ही पलता है, उसमें भी साधक, और विशेष रूप से गृहत्यागी साधक—श्रमण का जीवन बहुत ही विघ्न-बाधाओ से भरा होता है। पग-पग पर उसके समक्ष कठिनाइयाँ आती हैं। उन कठिनाइयो को वह हँसते-मुसकराते समभावपूर्वक सहन करता है। इसीलिए तो श्रमणचर्या खांडे की धार पर चलने के समान है।

साधक (श्रमण) क्षुधा[1]शान्ति के लिए न तो वृक्ष से फल आदि तोडता है और तुडवाता है तथा न भोजन पकाता है और न अपने लिए पकवाता ही है; जब तक शुद्ध-प्रासुक-एषणीय आहार उसे नही मिल जाता तब तक वह क्षुधा परीषह को समभाव से सहता है।

इसी प्रकार वह कठ में प्राण आने पर भी सचित्त जल ग्रहण नही करता। समभाव से प्यास को सहता है।

सनसनाती शीत में भी वह शरीर को गर्म करने की इच्छा नही करता और न ही भीष्म ग्रीष्म मे स्नान, व्यजन (पखे से हवा करना) आदि शीतलतादायक उपायो की ही इच्छा करता है। वह समभावपूर्वक शीत और गर्मी की पीड़ा को सहन करता है।

साधक अटवी में, वृक्ष मूल में अथवा कन्दरा में ध्यानस्थ होता है तो वहाँ उसे दंश-मशक पीडा पहुँचाते हैं, वज्रमुखी चीटियाँ उसके शरीर को छलनी कर देती है, फिर भी वह उनके प्रति तनिक भी द्वेष भाव नही लाता यहाँ तक कि वह उन्हे उडाता भी नही। उनके द्वारा दी गई पीडा को वह समभाव से सहता है।

यदि साधक के वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो जायें तो भी वह नये वस्त्रों की इच्छा नही करता। यदि उसे अल्प मूल्य वाले वस्त्र मिलें तो खेद नही

---

१ क्षुधा पर विजय प्राप्त करने के लिए साधक अनशन, ऊनोदरी आदि विभिन्न प्रकार के तप भी करता है; जिनका वर्णन 'तपोयोग' मे किया जायेगा।

—संपादक

करता और अधिक मूल्य वाले वस्त्रो की प्राप्ति में हर्ष तथा गर्व नही करता, दोनो ही स्थितियो मे सम रहता है।

अरति का अभिप्राय संयम के प्रति अधैर्य अथवा अनादर भाव है। श्रमणचर्या और संयम के प्रति मन में भी अरुचि उत्पन्न नही होने देता। यदि कभी मन मे ऐसे भाव आ जायें तो वह उन्हें तुरन्त निकाल फेंकता है। अपने समत्व भाव को भंग होने नही देता।

स्त्रियो से साधक विशेष रूप से सावधान रहता है। वह उन्हें अपनी ब्रह्मचर्य साधना में विशेष रूप से बाधक मानता है। इसीलिए वह उनसे अधिक परिचय भी नही रखता। स्त्री के शृंगार काम-वर्धक होते हैं। अतः वह अपनी इन्द्रियों को, मनोवृत्तियो को कछुए के समान संकुचित कर लेता है। यहाँ स्त्री शब्द कामवासना का उपलक्षण है। अतः श्रमण कामवासना का निरोध करता हुआ पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करता है। वासनाजन्य तथा वासना से सम्बन्धित आवेगो-संवेगो-वासनागत कुण्ठाओ से अपने मन-मानस को उद्वेलित न होने देना, तथा समत्व की साधना मे लीन रहना यही 'स्त्री परीषह जय' है।

श्रमण अपने कल्प के अनुसार मार्ग के कष्टों को सहता हुआ ग्रामानुग्राम विचरण करता है। उन कष्टो से वह आकुल-व्याकुल नही होता। इस प्रकार वह 'चर्या परीषह' पर विजय प्राप्त करता है। चर्या परीषह जय मे साधक ममता से ऊपर उठकर समता की साधना करता है।

इसी प्रकार साधक श्रमण श्मशान आदि शून्य स्थानों में जब ध्यानस्थ होता है तो वह नियत काल के लिए वीरासन, पद्मासन आदि आसनो से अवस्थित होता है। उस समय वह देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत सभी उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है, मन्त्र आदि से भी उनका प्रतिकार नहीं करता। इस प्रकार अपनी तितिक्षा के बल पर उन उपसर्गों को सहता है।

साधक श्रमण को जैसी भी शैय्या मिल जाय, उसी पर वह विश्राम कर लेता है, अच्छी शय्या पर अनुराग नही करता और कंकरीली-पथरीली शय्या पर द्वेष नहीं करता। दोनों में ही समभाव रखता है।

श्रमण को कोई गाली दे और यहाँ तक कि कोई उसका वध भी करे, उसके अंगों का छेदन-भेदन भी करे तो भी वह प्रशान्त बना रहता है, उसकी उपेक्षा ही करता है, गाली देने और प्रहार करने वाले पर रोष या आक्रोश

नही करता, अपितु उन्हे अपनी कर्मनिर्जरा में सहायक समझकर उपकारी ही मानता है। इस प्रकार वह प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी शान्त रहता है।

याचना परीषह पर विजय प्राप्त करना विनम्रता और अहकार भाव के विसर्जन की साधना है। श्रमण को सभी वस्तुएँ याचना से ही प्राप्त हो पाती है। अतः जीवनोपयोगी वस्तुओ के लिए उसे सद्गृहस्थ से याचना करनी ही पडती है। और याचना अभिमान-त्याग तथा हृदय की ऋजुता एवं सरलता के अभाव मे हो नही पाती। अत: याचना परीषह जय का आशय ही श्रमण की ऋजुता है।

याचना करने पर भी यह सम्भव है कि आवश्यक वस्तु मिले और न भी मिले। लाभ और अलाभ दोनो ही स्थितियो मे श्रमण सम रहता है, हर्ष-शोक नही करता।

यो तो श्रमण की दिनचर्या तथा तपोसाधना ऐसी है कि साधारणतया उसे कोई रोग नही हो पाता, फिर भी पूर्वकृत कर्म-दोष के कारण अथवा पथ्य-अपथ्य आहार के कारण यदि कभी कोई रोग हो भी जाय तो पीडा-चिन्ता करके आर्तध्यान नही करता, वह सावद्य (—सदोष) चिकित्सा का अभिनन्दन भी नही करता, अनाकुल भाव से सहज शान्त बना रहता है।

शयन करते समय अथवा मार्ग में चलते समय श्रमण को तृण-स्पर्श हो जाय, काँटे, शूल आदि चुभ जायें तो वह उस तृण की तीखी चुभन से व्याकुल नही होता, अपितु समभाव में रहता है।

श्रमण स्नान नही करता। गरमियो मे पसीना आता है, उस पर मैल जम जाता है, धूल आदि उड़कर भी जम जाती है, किन्तु श्रमण उस मैल की पीडा से व्यथित नही होता।

वस्तुत: देह के प्रति श्रमण का निर्ममत्व होता है। उसकी दृष्टि आत्म-केन्द्रित होती है, शरीर-केन्द्रित नही।

इसी प्रकार साधक घोर तप करके भी यह सोचकर व्यथित नही होता कि मुझे दिव्यज्ञान क्यो नही प्राप्त हो रहा है। न वह अपनी श्रद्धा से ही डगमगाता है। यदि उसे विशिष्ट ज्ञान हो, उसकी तर्कणा शक्ति प्रबल हो तो उसका अहकार नही करता।

उपसर्ग विजय

परीषहो के साथ उपसर्गों का चोली-दामन का-सा साथ है। जिस प्रकार श्रमण परीषहो पर विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार वह उपसर्गों को

भी निर्भयतापूर्वक जीतता है। उस समय वह न मन में दीनता का भाव लाता है और न उन उपसर्गों को अपनी मन्त्र शक्ति अथवा विशिष्ट लब्धियों के बल पर दूर करने का ही प्रयास करता है, वरन् अपनी आत्म-शक्ति से तितिक्षापूर्वक उन पर विजय प्राप्त करता है।

उपसर्ग तीन प्रकार के होते हैं—देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यंचकृत।

देव कई कारणो से श्रमण पर उपसर्ग करते है—पूर्वभव के वैर विपाक से (२) श्रमण की परीक्षा लेने के उद्देश्य से (३) कभी हास्य (कौतुक) से भी देव उपसर्ग करते है (४) कभी पूर्व राग के कारण भी देव श्रमण को अनुकूल उपसर्ग करते हैं।

मनुष्यकृत उपसर्ग भी इन्ही कारणों से होते है।

तिर्यचकृत उपसर्ग—भय से, द्वेष से, आहार के लिए तथा अपनी सन्तान-रक्षा के कारण होते है।

इन तीनो के अतिरिक्त आत्म-संवेदन रूप उपसर्ग और होते है। वे चार प्रकार के है—(१) अंगों को परस्पर रगड़ने से (२) अगुलि आदि अंगोपांगो के चिपक जाने या कट जाने से (३) रक्त संचार के रुक जाने से अथवा ऊपर से गिर जाने से तथा (२) वात-पित्त-कफ के प्रकुपित हो जाने से।

इस तरह अनेक प्रकार के उपसर्गों को श्रमण अपने आत्म-बल के द्वारा जीतता है।

उपसर्ग और परीषह : श्रमण की तितिक्षा की कसौटी

उपसर्ग तथा परीषह कैसे भी क्यो न हों, सबके सब श्रमण की तितिक्षा की—सहनशीलता और समभाव की कसौटी हैं। यदि श्रमण इन्हें समभावपूर्वक जीत लेता है तो वह विजयी हो जाता है और यदि कही आकुल-व्याकुल हो गया, मस्तिष्क मे ईर्ष्या-द्वेष के सस्कार उद्‌बुद्ध हो गये तो वह अपनी साधना से, अपने गौरवपूर्ण पद से विचलित हो जाता है।

श्रमण द्वारा परीषह और उपसर्गों की विजय उसकी तितिक्षायोग को साधना है। यह साधना जितनी ही बलवती होती है श्रमण उतनी ही सरलता और सहजता से उपसर्ग-परीषहो पर विजयी हो जाता है, उसकी साधना चमक उठती है। जिस प्रकार कसौटी पर खरा उतरा सोना सर्वजन-आदरणीय हो जाता है उसी प्रकार तितिक्षायोग में निष्णात साधक भी पूजनीय हो जाता है।

गृहस्थ साधक के जीवन में तितिक्षायोग

तितिक्षायोग की साधना सिर्फ गृहत्यागी साधक योगी के लिए नही है, किन्तु गृहस्थयोगी के लिए भी इसका बहुत महत्त्व तथा उपयोग है।

मनुष्य के जीवन मे कठिनाइयाँ, संघर्ष और प्रतिकूल परिस्थितियाँ कदम-कदम पर मुँह बाए खडी है। यदि इन विपरीत स्थितियो से घबड़ाकर व्यक्ति पलायन करने लगे तो एक दिन का जीवन भी नही चल सकता। यश के बदले अपयश, लाभ के स्थान पर हानि, असफलता, अपमान, बडो से अवहेलना, आदि का क्षण-क्षण मे हमें अनुभव होता है, सफर मे पैसे खर्च करके भी आदमी कितनी तकलीफ उठाता है, व्यापार मे पैसे फँसाकर, भारी जोखिम उठाकर और रात-दिन मेहनत करके भी कभी-कभी भारी हानि उठानी पड़ती है, आफिस में अपने अधिकारी या बॉस की जी-हजूरी करके और अपना कार्य पूरा करके भी कभी-कभी डांट व अपमान की कड़वी घूंट पीनी पड़ती है। विद्यार्थी को जी-तोड़ परिश्रम करने पर भी किसी कारण फेल या थर्ड डिवीजन मिलता है। इस प्रकार की सैकडों विपरीत स्थितियाँ, अनचाही मुसीबते जीवन मे निराशा, अनुत्साह और आकुलता का विष घोलती रहती हैं। इन स्थितियों में झुँझलाकर किसी को कोसना, सरकार या विभाग को गालियाँ देना, अथवा दूसरों को जिम्मेदार ठहराना—एक प्रकार की असहिष्णुता व आकुलता है, इससे हमारी पीड़ा कम नही होती, बल्कि मानसिक तनाव, संत्रास और अधिक बढता है, तथा कभी-कभी तो समस्या अधिक उलझ जात गी है।

तितिक्षायोग इन विपरीत स्थितियो मे भी 'हँसते हँसते जीने की कला' सिखाता है। तन की पीडा को मन तक पहुँचने से रोक देता है। एक प्रकार से तितिक्षायोग मन को फायर प्रूफ बना देता है, ताकि अभाव व पीडाओ की आग से मन सतप्त न हो। आई हुई कठिनाई व बिगडी हुई परिस्थितियो मे हम सहनशील रहे, उसे ब दाश्त करें और शान्त चित्त से उसके कारणो पर विचार कर उसका प्रतिकार करे—यह शक्ति तितिक्षायोग की साधना से प्राप्त होती है। अत तितिक्षा योग को साधना गृहस्थ साधक के जीवन में भी अनिवार्य है, उपयोगी है। यह परिस्थिति से धैर्यपूर्वक निपटना सिखाता है।

ति तिक्षायोग साधना का उत्कर्ष दश श्रमण धर्म

तितिक्षायोग की साधना, श्रमण को सहनशील, सहिष्णु, समताभावी और अभय तो बनाती ही है किन्तु सा र ही साथ उसकी आत्मिक और चारित्रिक उन्नति भी करती है, श्रमण के चारित्रिक विकास का साधन भी बनती है। यह श्रमण के आध्यात्मिक शा ति और प्रगति का मार्ग (The way of spiritual peace and progress) है।

श्रमण जो संयम की साधना करता है, उसका हार्द है—दस श्रमण धर्म। इन दस धर्मों से श्रमण की साधना को चार चाँद लगते हैं, उसकी साधना रत्नराशि के समान जगमगाने लगती है।

आगमो और परवर्ती जैन ग्रथों मे दस विध श्रमणधर्मों[1] का उल्लेख हुआ है। यद्यपि कही-कही इनके क्रम में भेद मिलता है; किन्तु उनका स्वरूप एक ही है, उसमें समानता है, भेद नही है।

स्थानांग सूत्र में उनके नाम इस प्रकार दिये गये है—

(१) क्षांति (२) मुक्ति (३) आर्जव (४) मार्दव, (५) लाघव, (६) सत्य (७) संयम, (८) तप, (९) त्याग (१०) ब्रह्मचर्य।

आवश्यकचूर्णि और तत्त्वार्थसूत्र में इन धर्मों से पहले 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है। इस विशेषण का अभिप्राय यह है कि क्षमा आदि तभी धर्म हो सकते हैं जब इनका आचरण उत्कृष्ट भावो से किया जाय।

दस श्रमण धर्म और तितिक्षायोग

(१) **क्षांति अथवा उत्तम क्षमा** धर्म का अभिप्राय है क्रोध का निग्रह, क्रोध के निमित्त प्राप्त होने पर भी मन में कलुषता न लाना, शुभ परिणामो द्वारा क्रोध की निवृत्ति करना।

---

१. (क) खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, सजमे, तवे, चियाए, बभचेरवासे। —स्थानाग १०/७१२

(ख) खन्ती य मद्दवऽज्जव मुत्ती तव सजमे य बोद्धव्वे।
सच्च सोय आकिंचण च बभ च जइधम्मो॥

—स्थानागवृत्ति पत्र, २८३

(ग) समवायाग, समवाय १०

(घ) खन्ती मुत्ती अज्जव मद्दव तह लाघवे तवे चेव।
सजम चियागिऽकरण, वोद्धव्वे बभचेरे य॥

—आचार्य हरिभद्र द्वारा उद्धृत प्राचीन गाथा

(च) उत्तम खमा, मद्दव, अज्जव, मुत्ती, सोय, सच्चो, सजमो, तवो, अकिंचणत्तण वभचेरेमिति। —आवश्यकचूर्णि

(छ) उत्तम क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्म.।

—तत्वार्थसूत्र ९/६

(ज) षट्प्राभृत—द्वादशानुप्रेक्षा, श्लोक ७१-८१

क्रोधविजय का विधेयात्मक रूप क्षान्ति है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शान्ति रखना, मन मे क्रोध कषाय के आवेग को न उठने देना ही क्षमा है। यही तितिक्षायोग की साधना है।

मानव का मस्तिष्क अति सवेदनशील अंग है, थोडी भी विपरीत बात से उसमे उथल-पुथल मच जाती है, विक्षोभ पैदा हो जाता है। श्रमण तितिक्षा की साधना से मन को इतना अपने वश मे कर लेता है कि प्रतिकूल स्थिति मे भी वह भडकता नही, उद्वेलित नही होता, शान्त बना रहता है।

(२) मुक्ति का अभिप्राय है—लोभ का, लालच का निग्रह करना।

सूत्रकृताग सूत्र में एक शब्द आया है 'सव्वप्पगं'[1] जिसका अर्थ है लोभ, और इसे सर्वव्यापक बताया है। आधुनिक युग के मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने भी लोभ का मूल संवेग स्वाग्रह भाव माना है। श्रमण स्वाग्रह भाव के सवेग का विनाश करता है। स्वाग्रह भाव के सवेग से-अपनी आत्मिक शान्ति मे विक्षेप नही होने देता।

(३) आर्जव—आर्जव का अभिप्राय है—मन-वचन-काया की ऋजुता, सरलता। आर्जव धर्म के परिपालन से साधक माया-कपट तथा योगो की विसवादिता (दोगलापन) का परिमार्जन करता है, उसका अन्तर् और बाह्य एक समान होता है। वह जो मन मे विचार करता है, वही कहता है और वैसा ही करता भी है।

योगो की विसंवादिता के परिमार्जन से उसकी आत्मिक शान्ति स्थिर रहती है और आत्मिक शान्ति के कारण योग-विसवादिता का परिमार्जन होता है। परस्पर इनमे कार्य-कारण भाव है।

इस कार्य-कारण भाव को श्रमण अपनी तितिक्षा की साधना से स्थिर रखता है। जितना ही उसकी तितिक्षायोग की साधना गहरी होगी उतनी ही उसमे सरलता एवं ऋजुता होगी और आर्जव धर्म का परिपालन वह उत्तम भावो से कर सकेगा।

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ—ऋजु अथवा सरल व्यक्ति मे धर्म स्थिर होता है।

(४) मार्दव—मार्दव धर्म का परिपालन करने वाला श्रमण मान कषाय का परिमार्जन करता है।

---

१ सूत्रकृतांग १/३९

मान के लिए सूत्रकृतांग सूत्र (१/२९) में शब्द दिया गया है—विउ-क्कसं—व्युत्कर्ष, और आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्री मैक्डूगल ने भी मान का संवेग व्युत्कर्ष माना है।

व्युत्कर्ष का अभिप्राय है अपने को उच्च समझना। जब कोई व्यक्ति स्वयं अपने को उच्च समझेगा तो अन्य उसकी दृष्टि में नीचे हो ही जायेंगे। उच्चता का अभिमान या दर्प मान का मुख्य कारण है।

श्रमण इस ऊँच-नीच की भावना का परिमार्जन अपने समरसीभाव—साम्यता की भावना—तितिक्षायोग की साधना से करता है। वह संसार के सभी प्राणियो की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझता है, सबके प्रति आत्मौपम्य भाव रखता है।

(५) लाघव—इस धर्म का परिपालन करता हुआ श्रमण ऋद्धि, रस और साता—इन तीनो गारवो का पूर्णतः परित्याग कर देता है, उपकरण भी अल्प रखता है। गारवो के त्याग और उपकरणो की अल्पता से उसकी तितिक्षा और भी बढ़ती है, गहरी होती है।

(६) सत्य—सत्य का श्रमण के जीवन मे अत्यधिक महत्त्व है। यह दूसरा महाव्रत है, भाषा समिति है, वचन गुप्ति है, वचन समिति है और धर्म भी है।

वस्तुतः सत्य के विधेयात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) दोनो पहलुओ को श्रमण के जीवन में महत्त्व दिया गया है, स्वीकारा गया है। भाषा समिति में उसका विधेयात्मक रूप है और वचनगुप्ति में निषेधात्मक रूप।

सत्य आत्मा का धर्म है, यह वीतराग भाव की साधना है, शान्ति का मूल है। सत्य धर्म की साधना शान्ति की साधना है। जिसके मन-वचन-काया अणु-अणु और रग-रग में सत्य प्रतिष्ठित होगा वही शान्ति की साधना कर सकता है और जिसका मन-मानस शान्त होगा वही सत्यधर्म का पालन उत्तम भावो से कर सकता है।

(७) सयम—संयम का अभिप्राय है—विवेकपूर्वक अपनी इच्छाओं का नियमन, मन और इन्द्रियो के प्रवाह को अन्तर्मुखी बनाना तथा आन्तरिक वृत्तियो का परिमार्जन करके उन्हे पवित्र बनाना, उन्हे शान्त-उपशान्त करना। संयम, मन और इन्द्रियो के बाह्य प्रवाह के लिए तटबन्ध है।

मन और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ते हुए चंचल बने

रहते है, उनकी चंचलता तभी समाप्त होती हैं जव उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है, चेतना के सहज-सरल प्रवाह का सम्पर्क पाते ही मन और इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। यह शान्ति ही तितिक्षायोग है।

(८) तप[1]—तप है शरीर पर मन का नियन्त्रण करने एव वीतराग बनने की साधना। जब यह साधना श्रमण का सहज स्वभाव वन जाती है तब वह तप धर्म वन जाती है। उत्तम भावो से तप का आचरण, तपधर्म है।

इस तपधर्म के आचरण मेंकर्मनिर्जरा तीव्र गति से होती है, आत्म-शान्ति प्राप्ति होती है और मुक्ति निकट आती है।

तप का हार्द वीतराग भाव की वृद्धि और फल आत्म-स्वरूप की प्राप्ति है। स्वरूप स्थित आत्मा शान्त-प्रशान्त होता है।

(६) त्याग—सुख और शान्ति का साधन त्याग है। यह त्याग आन्तरिक परिग्रह—कषाय आदि तथा बाह्य परिग्रह—दोनो प्रकार के परिग्रहो का किया जाता है।

श्रमण जितना-जितना त्याग करता है, उतना-उतना वह शान्त और सुखी होता जाता है। त्यागधर्म के द्वारा वह तितिक्षायोग की साधना करता है।

(१०) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है—(ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्म-भाव तथा चर्य का अर्थ है—रमण करना)—शुद्ध आत्मभाव मे रमण करना।

इसका बाह्य रूप अथवा स्थूल रूप काम-भोग विरति है।

काम-भोगो की इच्छा, चित्त की चंचलता का कारण बनती है, मन में विभिन्न प्रकार के आवेग-सवेग और संकल्प-विकल्प उठते है, भोगोपभोगो की सामग्री प्राप्त करने को व्यक्ति बेचैन हो उठता है और न मिलने पर आकुल-व्याकुल हो जाता है।

श्रमण काम-भोगो से पूर्णतः विरत होकर सभी प्रकार की मानसिक आकुलताओ से रहित हो जाता है, उसका मन-मानस शान्त हो जाता है।

मन को आवेग-सवेगो से क्षुब्ध न होने देना तितिक्षायोग की साधना है।

---

१ तप का विस्तृत वर्णन 'तपोयोग' नामक अध्याय मे किया गया है।

धर्म का मूल लक्ष्य एक ही है—आत्मिक शान्ति की प्राप्ति। शान्ति के लिए ही धर्म का आचरण किया जाता है। इसीलिए धर्म मानव के आचार-विचार को शुद्ध और निर्मल बनाने का वाला मुख्य तत्त्व है।

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो ये सभी (दश श्रमण धर्म) धर्म, तितिक्षायोग की साधना है। क्योकि तितिक्षायोग भी तो शान्ति की साधना ही है।

तितिक्षायोग का साधक साम्यभाव की साधना करता है, वह अनुकूल-परिस्थितियो में भी सम बना रहता है, उनमें राग-द्वेष नही करता है।

तितिक्षायोगी उपसर्गों और परीषहो को भी समताभाव से जीतता है। उसका समत्व किसी भी स्थिति-परिस्थिति में खण्डित नही होता है।

तितिक्षायोग की तीन निष्पत्तियाँ है—सहनशीलता, समताभाव और शान्ति। वह शान्ति में, समताभाव में स्थिर रहता है। इस स्थिरता के कारण तथा परिणामो मे संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष न होने के कारण वह मुक्ति के समीप पहुँचता जाता है। □□

८ प्रेक्षाध्यान-योग साधना

भगवान महावीर ने साधना क्षेत्र मे बढने वाले साधक को एक अनुभूत सूत्र दिया—

इह आणाकखी पडिए अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं
कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं । —आचाराग ४/४६०

अर्थात्—ज्ञानी पुरुष एकमात्र आत्मा की सप्रेक्षा करे, वह शरीर को प्रकंपित करे (धुने—जिस प्रकार रुई धुनने वाला धुनिया रुई को धुनता है, उस प्रकार धुने अर्थात् जर्जरित करे), कषाय आत्मा को कृश करे और उसे जीर्ण करे ।

भगवान महावीर की साधना अप्रमाद की साधना थी और अप्रमाद का सर्वप्रथम सूत्र है— आत्म-दर्शन, आत्मा को देखना । भगवान ने साधक के लिए कहा—

संपिक्खए अप्पगमप्पएणं

अर्थात्—आत्मा को आत्मा से देखो ।

प्रेक्षाध्यान-योग

प्रेक्षाध्यान क्या है ?

भगवान ने आत्म-दर्शन को उत्सुक साधक के लिए शब्द दिया 'सपेहाए' । संपेहाए शब्द का अर्थ है गहराई से देखना, ध्यानपूर्वक देखना, या देखने मे ही तल्लीन हो जाना, उस समय सिर्फ देखना ही हो, विचार न हो, निर्विचार की स्थिति आ जाये ।

दो शब्द है—प्रेक्षा और सप्रेक्षा (सपेहा) । प्रेक्षा सामान्य जन की भाषा में सिर्फ देखने तक ही सीमित है, यद्यपि इसमें भी गहराई से देखा जाता है किन्तु निर्विचारता की स्थिति नही आ पाती । लेकिन ध्यानयोग की साधना में प्रेक्षा शब्द का प्रयोग सप्रेक्षा के अर्थ में किया जाता है । जो

अभिप्राय संप्रेक्षा शब्द से अपेक्षित है, वही प्रेक्षा शब्द से लिया जाता है। दूसरे शब्दो में सप्रेक्षाध्यान-योग[1] ही प्रेक्षाध्यान-योग है।

चेतना अथवा आत्मा का मूल लक्षण उपयोग[2] है। उपयोग के दो रूप हैं—(१) दर्शनोपयोग और (२) ज्ञानोपयोग। दर्शन यानी देखना और ज्ञान यानो जानना। अत: देखना और जानना आत्मा का स्वभाव है। किन्तु कर्मों से आवृत होने के कारण आत्मा की यह देखने-जानने की क्षमता में क्षीणता आ जाती है। अतः उस क्षमता को—आत्मा के स्वभाव को विकसित करने लिए भगवान ने साधक को सूत्र दिया—देखो और जानो। आत्मा को, आत्मा से, आत्ममय देखो। स्थूल चेतना से सूक्ष्म चेतना को देखो। स्थूल मन से सूक्ष्म मन को देखो, इसके प्रकंपनों को देखो। स्थूल शरीर को देखो, उसमें होते हुए प्रकपनो-परिवर्तनो को देखो। तैजस शरीर और इसके प्रकंपनों को देखो, शक्ति-केन्द्रो, मर्मस्थानों और चक्रस्थानो को देखो। कषायो के आवेगो-संवेगो को देखो। आदि ··· ···आदि ·······

देखना मूल तत्त्व है। इसीलिए इसे प्रेक्षाध्यान (संप्रेक्षाध्यान) कहा गया है।

प्रेक्षाध्यान आगमवर्णित धर्मध्यान के भेद—विचयध्यान का ही एक प्रकार है।

प्रेक्षाध्यान का सूत्र

प्रेक्षाध्यान का प्रमुख सूत्र है—सिर्फ देखना। देखना, सिर्फ देखना हो। उस समय मन मे न किसी प्रकार के विचार आवें और न संकल्प-विकल्प ही उठें। न राग-द्वेष का अंश हो, न किसी प्रकार की आशा-अभिलाषा। देखने मे आत्मा तल्लीन हो जाये।

जिस समय आत्मा सिर्फ देखता है, उस समय वह विचार नहीं कर सकता। संकल्प विकल्प, राग-द्वेष आदि कोई भी प्रवृत्ति नही होती और यदि किसी भी प्रकार की मन की प्रवृत्ति होती है तो प्रेक्षा नही होगी, देखने का क्रम टूट जायगा।

---

१ (क) संप्रेक्षा अथवा प्रेक्षाध्यान ही बौद्ध दर्शन का विपश्यना ध्यान है। उसकी क्रिया-प्रक्रिया भी प्रेक्षा ध्यान के समान ही है।

(ख) द्रष्टुर्दृगात्मता मुक्तिर्दृश्यैकात्म्य भवभ्रम ।

—अध्यात्मोपनिषद्, ज्ञानयोग; श्लोक ५

२ उपयोगो लक्षण।

—तत्त्वार्थसूत्र २/८

देखना, विचारो के क्रम और सिलसिले को तोडने का—निर्विचार स्थिति लाने का अचूक और अमोघ साधन है। यह कल्पना के जाल को, भूत काल के भोगे हुए भोगो की स्मृति को और भविष्य की आशाओ-आकाक्षाओ को तोडने का प्रबल साधन है।

साधक जब किसी बाह्य वस्तु को अनिमेष दृष्टि से देखता है तो उसके विकल्प समाप्त हो जाते हैं, विचारशून्यता की स्थिति आ जाती है।

साधक पहले अपने स्थूल शरीर को देखता है, उसमें होने वाले प्रकंपनो को देखता है और फिर तैजस् और सूक्ष्म शरीर तथा वहाँ होने वाली हलचलो को देखता है, इस प्रकार उसकी प्रेक्षा गहन से गहनतर होती चली जाती है।

प्रेक्षा मे सिर्फ चैतन्य-सत्ता अथवा चेतना ही सक्रिय होनी चाहिए। यदि उसमे राग-द्वेष, रति-अरति, प्रियता-अप्रियता का भाव आ जाए तो वह देखना नही रहता।

जैसे दर्शन के पश्चात् ज्ञान का क्रम है। यही देखने-जानने का क्रम है। दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है। ज्यो-ज्यो साधक देखता जाता है त्यो-त्यो वह जानता भी जाता है। मन और इन्द्रियो के सवेदन से परे सिफ चेतना द्वारा ही देखना और जानना—चैतन्य का उपयोग है और यह साधक का चरम लक्ष्य है; क्योकि केवली भगवान भी सिर्फ चैतन्य उपयोग के द्वारा ही देखते और जानते है।

ग्रन्थो मे देखने और जानने के लिए नेत्रो का उदाहरण दिया गया है। छद्मस्थ प्राणी नेत्रो से ही देखता-जानता है। चक्षु इन्द्रिय सामने आने वाले विभिन्न प्रकार के दृश्यो को देखती है, जानती है, किन्तु दर्पण के समान उस पर कोई संस्कार नही पडते। न वह उन दृश्यो का निर्माण करती है, न राग-द्वेष करती है और इसीलिए वह उनका फल भोग भी नही करती। अतः चक्षु अकारक और अवेदक है।

इसी प्रकार ज्ञानी साधक जब प्रेक्षाध्यान मे गहरा उतरता है, किसी वस्तु को देखता है तो वह भी अकारक होता है, वह न कर्मों का आस्रव करता है, न उसको कर्मवन्ध होता है, न विपाक प्राप्त कर्मों के फल का वेदन ही वह करता है और न उन कर्मों से उसका तादात्म्य ही स्थापित होता है।

साधक जब देखने-जानने—प्रेक्षाध्यान का अभ्यस्त हो जाता है तो

—अर्थात्—दीर्घदर्शी मनुष्य लोकदर्शी होता है।

वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्व भाग को जानता है, तिरछे भाग को जानता है।

यह सूत्र काम अनासक्ति के सन्दर्भ मे है। इस सूत्र का अभिप्राय है कि लोकदर्शन, कामवासना से मुक्त होने का पहला आलम्बन है। यहां लोक का अभिप्रेत अर्थ भोग्य वस्तु अथवा विषय है। शरीर भोग्य वस्तु या विषय है। उसके तीन भाग हैं—

(१) अधोभाग—नाभि के नीचे का भाग।

(२) ऊर्ध्वभाग—नाभि से ऊपर का भाग।

(३) तिर्यग् भाग—नाभि स्थान।

दूसरी अपेक्षा से शरीर के तीन भाग ये माने जाते हैं—

(१) अधोभाग—आँख का गड्ढा, मुख के बीच का भाग, गले का गड्ढा।

(२) ऊर्ध्व भाग अथवा उभरे हुए भाग—घुटना, वक्षस्थल, ललाट आदि।

(३) तिर्यग् अथवा तिरछा भाग—शरीर का समतल भाग।

साधक प्रेक्षा करे कि इन तीनों भागो में स्रोत हैं।

साधक शरीर की प्रेक्षा दो रूपो मे करता है—

(१) सपूर्ण शरीर की प्रेक्षा

(२) शरीर के मर्मस्थानो, केन्द्रस्थानो और चक्रस्थानो की प्रेक्षा।

जिस समय साधक शरीर (स्थूल या औदारिक शरीर) की प्रेक्षा करता है और स्थूल शरीर के प्रकंपनो को तटस्थ दृष्टि से देखता है तो अकेले मस्तिष्क मे ही उसे लाखो-करोडो कोशिकाएँ तथा ज्ञानवाही तन्तु दिखाई देते है। प्रतिपल-प्रतिक्षण हजारो-लाखो कोशिकाएँ मरती हैं और जीवित होती हैं। जन्म-मरणरूप लोक उसे वहाँ दिखाई देता है। इसी प्रकार की स्थिति उसे सम्पूर्ण शरीर मे दिखाई देती है।

स्थूल शरीर की प्रेक्षा का अभ्यस्त होने पर साधक सूक्ष्म या तैजस् शरीर की प्रेक्षा करता है, उसे देखने लग जाता है, वहाँ उसे प्रकम्पन और भी तीव्र गति से होते दिखाई देते है, तैजस् शरीर का प्रकाश भी उसके दृष्टि-

पटल पर नाचने लगता है, उसे ज्योति के दर्शन होते है। मर्मस्थानो और चक्रस्थानो पर उसे ऐसा लगता है जैसे तीव्र प्रकाश हो। वास्तव मे है भी तैजस् शरीर प्रकाश पुञ्ज ही। उसी मे मानवीय विद्युत धारा का प्रवाह प्रवाहित होता है, उसी की स्फूर्ति से स्थूल शरीर संचालित होता है।

शरीर-प्रेक्षा का परिणाम अप्रमाद और सतत जागरूकता होता है।

वह प्रतिपल होने वाले प्रकम्पनो को देखता है। वह क्षणों को देखने लगता है। तटस्थ द्रष्टा होने के कारण वह सुखात्मक क्षण में राग नही करता है और दुखात्मक क्षण में द्वेष नही करता। वह उन्हें केवल देखता और जानता है। वह सुख-दुःखातीत हो जाता है।

वस्तुतः शरीर-प्रेक्षा की सम्पूर्ण साधना अप्रमत्तता और जागरूकता की साधना है। आचारांग में एक सूत्र आया है—**सुत्तेसु जागरमाणे**—सोते हुए भी जागृत रहने वाला तथा दूसरा सूत्र है साधक के लिए—**सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी**—साधक सोता हुआ भी प्रतिबुद्ध होकर जीए।

ये दोनो सूत्र प्रेक्षाध्यान की अपेक्षा से है, क्योकि शरीर-प्रेक्षा का अभ्यस्त साधक ही सोते हुए भी प्रतिबुद्ध रहता है, निद्रित अवस्था में भी अप्रमत्त रहता है।

इसी अपेक्षा से भगवान महावीर के विषय मे कहा गया है—

णिद्दंपि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावती य अप्पाणं, ईसिं सायी यासी अपडिन्ने॥

अर्थात्—भगवान विशेष नीद नही लेते थे। वे बहुत बार खडे-खड़े ध्यान करते थे तब भी अपने आप को जागृत रखते थे। वे समूचे साधना काल में वहुत कम सोये। साढे बारह वर्ष के साधना काल मे मुहूर्त भर भी नही सोये।

वास्तविकता यह है कि शरीर-प्रेक्षा करने वाला साधक जागरूक हो जाता है, वह सतत अप्रमत्त रहता है।

(२) श्वास-प्रेक्षा

श्वास को सामान्यतया जीवन का पर्यायवाची माना जा सकता है। जब तक श्वास चलता है तब तक मनुष्य को जीवित माना जाता है, दूसरे शब्दों में ही श्वास जीवन है। श्वास को प्राण कहा जाता है।

प्राण का शरीर, मन और नाड़ी संस्थान के साथ गहरा संबंध है।

चैतन्य-शक्ति के द्वारा प्राण-शक्ति का संचालन होता है। प्राण-शक्ति के द्वारा मन, नाडी संस्थान और सपूर्ण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर का संचालन होता है। दूसरे शब्दो मे इसे यो भी कह सकते है कि वाह्य दृष्टि से श्वास द्वारा नाडी सस्थान, सूक्ष्म शरीर और प्राण-शक्ति तक साधक पहुँचता है।

वस्तुतः श्वास शरीर की ही एक क्रिया है। शरीर के विभिन्न अवयव, श्वास प्रणाली (Respiratory systam), श्वास लेते और छोडते समय—श्वासोच्छ्वास के समय गतिशील होते हैं। इन अवयवो में विकृति आजाने से मनुष्य को श्वास लेने मे कठिनाई हो जाती है।

प्राणायाम की साधना मे हठयोगी श्वास का निरोध भी कर लेते है।

किन्तु प्रेक्षाध्यान का साधक श्वास का निरोध नही करता, अपितु उसको देखता है तटस्थ द्रष्टा के समान।

श्वास-प्रेक्षा द्वारा साधक प्राणशक्ति और तैजस् शरीर के स्पन्दनो को देखता है।

साधक श्वासोच्छ्वास क्रिया दो प्रकार से कर सकता है—

(१) सहज—प्राकृतिक रूप से जिस प्रकार श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है और

(२) प्रयत्न द्वारा।

प्रयत्न द्वारा श्वासोच्छ्वास क्रिया साधक दो प्रकार से कर सकता है

(१) दीर्घश्वास (लम्वे साँस लेना)।

(२) लयवद्ध श्वास (प्राणायाम)।

सर्वप्रथम साधक दीर्घश्वास का अभ्यास करता है और जव दीर्घश्वास मे अभ्यस्त हो जाता है तो वह लयवद्ध श्वासोच्छ्वास का अभ्यास करता है। लयवद्ध श्वासोच्छ्वास मे पूरक, कुम्भक और रेचक—प्राणायाम के तीनो अगों की साधना करता है। पूरक, कुम्भक और रेचक मे १:४.२ का अनुपात रखता है। मान लीजिये, उसने १० सैकिण्ड मे पूरक किया तो ४० सैकिण्ड तक कुम्भक करेगा और २० सैकिण्ड मे रेचक।

जव साधक इन क्रियाओ मे निष्णात हो जाता है, उसे पूरा अभ्यास हो जाता है तो वह श्वास-प्रेक्षा करता है। श्वासोच्छ्वास को आते-जाते सिर्फ देखता है। श्वास की गति पर मन को केन्द्रित कर देता है।

दीर्घश्वास शारीरिक और मानसिक रूप से साधक के लिए बहुत लाभ-कारी है। इससे साधक को प्राणवायु (oxygen) अधिक मिलता है। परिणाम-स्वरूप उसके रक्त को, फेफड़ो को, शरीर के अन्य सस्थानो को अधिक बल मिलता है, रक्त का शोधन होता है, मानसिक शक्ति बढती है, फेफड़ो (lungs) की सहज मालिश अथवा सुष्ठु व्यायाम होता है और साधक मानसिक तथा शारीरिक रूप से स्वस्थ रहता है।

तैजस् शरीर पर इसका अधिक प्रभाव पड़ता है। इससे सुषम्ना नाड़ी और नाड़ी सस्थान प्रभावित होता है, नाड़ी शुद्धि होती है, तैजस् शरीर शक्तिशाली बनता है और शक्ति-केन्द्र तथा चक्रस्थान जागृत होते है। यह सवेगो पर नियन्त्रण करने मे भी सहायक होता है।

लयबद्ध श्वास से ज्ञानशक्ति विकसित होती है, अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि की सम्भावनाएँ प्रबल होती है और आवेग-सवेगो की उपशान्ति होती है।

श्वास-प्रेक्षा, साधक की मानसिक एकाग्रता के लिए एक प्रमुख आल-म्बन है। मानसिक एकाग्रता से उसे शान्ति का अनुभव होता है, कषायो के आवेग उपशान्त हो जाते हैं, सकल्प-विकल्प साधक को उद्वेलित नही कर पाते।

(३) मानसिक संकल्प-विकल्पो की प्रेक्षा

श्वास-प्रेक्षा में अभ्यस्त हुआ साधक और भी सूक्ष्म द्रष्टा बन जाता है। अब स्थूल और सूक्ष्म शरीर से भी गहराई मे उतरकर अपने मन के चेतन और अवचेतन तथा अचेतन स्तर पर पहुँचता है, वहाँ उठने वाले संकल्पो-विकल्पो की प्रेक्षा करता है, तटस्थ दर्शक के समान उन्हे देखता है; किन्तु उनसे अपने को जोडता नही, अलग ही रहता है।

संकल्प-विकल्प-प्रेक्षा से साधक की राग-द्वेष की वृत्ति कम हो जाती है, साथ ही उन सकल्प-विकल्पो का वल भी क्षीण हो जाता है, वे धीरे-धीरे समाप्तप्राय होने लगते हैं।

(४) कषाय-प्रेक्षा

कषायो का मूल स्थान तो कार्मण शरीर है; किन्तु उनके आवेगो-सवेगो की धारा अवचेतन मन, चेतन मन, तैजस् शरीर से गुजरती हुई स्थूल शरीर द्वारा अभिव्यक्त होती है। जैसे—क्रोध आने से आँखें लाल हो जाती है, अहंकार की स्थिति मे शरीर सहज ही अकड़ जाता है। कभी-कभी स्थूल

शरीर से अभिव्यक्ति नही भी हो पाती तो वह तैजस् शरीर तक ही रह जाती है।

कषायो के आवेग-संवेग मानव मस्तिष्क और तैजस् शरीर मे हलचल उत्पन्न कर देते है और यदि उनकी प्रवलता तीव्र हुई तो उथल-पुथल ही मचा देते है।

मानसिक सकल्प-विकल्प प्रेक्षा मे अभ्यस्त होने के उपरान्त साधक कषायो के आवेगों-सवेगों की प्रेक्षा करता है। वह अपने अवचेतन मन की प्रेक्षा करता है, उसे तटस्थ द्रष्टा वनकर देखता है तो चकित रह जाता है, कषायो का कितना भयंकर अंधड़ चल रहा है उसके अवचेतन मन मे। यद्यपि उसका आसन स्थिर है, वाणी भी मौन है, मन मे भी सकल्प-विकल्प अति न्यून हैं, उपशान्त है, मन-वचन-काय के योग भी शान्त जैसे दिखाई देते है, देखने वाले भी कहते है—साधक जी ! शान्तरस में निमग्न है, और कषाय-प्रेक्षा से पहले साधक भी अपने मन को शान्त समझता है, किन्तु कषाय-प्रेक्षा द्वारा ही वह अशान्ति के मूल राग-द्वेष और कषायो तक पहुँचता है और आत्मिक अशान्ति के यथार्थ कारणो को समझता है।

कषाय-प्रेक्षा के प्रभाव से साधक के कषाय-जनित आवेग-संवेग उपशान्त होते है, साधक सच्ची आत्मिक शान्ति की ओर बढता है।

(५) अनिमेष—पुद्गल द्रव्य की प्रेक्षा

भगवान महावीर की साधना के वर्णन के संदर्भ मे आगमो मे एक सूत्र आया है—

एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी[1]

अर्थात्—एक पुद्गल-निविष्ट दृष्टि—यानी एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर करना।

किसी एक पुद्गल पर, भित्ति पर अथवा नासाग्र पर स्थिरतापूर्वक दृष्टि जमाकर अपलक देखते रहना अनिमेष-प्रेक्षा है।

अनिमेष-प्रेक्षा, साधक के लिए, आगमो मे बारहवी भिक्षु प्रतिमा मे तिहिव कीगई है। इस प्रेक्षा के परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते है।

---

१ (क) भगवती सूत्र श. ३, उ २।

(ख) एगपोग्गलठित्तीए दिट्ठीए—एक पुद्गलस्थितया दृष्ट्या।

—दशाश्रुतस्कन्ध, आयारदसा, सातवीं दशा, बारहवी भिक्षुप्रतिमा

मानव का मस्तिष्क ज्ञान कोषों का भंडार है। उसमें लाखों-करोडों की संख्या मे छोटे-छोटे ज्ञान कोष है। उन ज्ञान कोषों में अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमता प्रसुप्त अवस्था में पड़ी रहती है। साधारणतया वे जागृत और सक्रिय नही होते। अनिमेष प्रेक्षा उन ज्ञान कोषो को तथा ज्ञान तंतुओं को जागृत करने का एक प्रभावशाली साधन है।

साधक, यदि एक रात्रि तक अनिमेष-प्रेक्षा की साधना कर ले तो उसे केवलज्ञान की भी प्राप्ति हो सकती है। किन्तु साधारण साधक यदि इसकी नियमित रूप से कुछ मिनट प्रतिदिन ही साधना करे तो उसको भी अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

अनिमेष प्रेक्षा ज्ञान के कपाटो का उद्घाटन करती है।

(६) वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

यह काल की अपेक्षा से योगो (मन-वचन-काय) में होने वाले प्रकंपनों की प्रेक्षा है। प्रकंपन कर्मास्रव के निमित्त बनते है और प्रतिपल प्रतिक्षण होते रहते है। वर्तमान क्षण की प्रेक्षा करने वाला साधक वर्तमान में ही जीता है, उसी को देखता-जानता है। भगवान महावीर ने कहा—

खणं जाणाहि पंडिए —(आचारांग सूत्र)

अर्थात्—क्षण को जानने वाला ही ज्ञानी होता है।

ज्ञानी साधक न अतीत काल के संस्कारो की स्मृति करता है और न भविष्य की कल्पनाएँ ही संजोता है। वर्तमान क्षण की प्रेक्षा करने वाला ज्ञानी साधक इन दोनो से ही बच जाता है।

भूतकाल की स्मृति और भविष्य काल संबंधो कल्पनाएँ, राग-द्वेषों का प्रमुख कारण है। वर्तमान क्षण की प्रेक्षा करने वाला साधक इन से तो बच ही जाता है, साथ ही वर्तमान क्षण की राग-द्वेषरहित सिर्फ प्रेक्षा करने से—देखने-जानने से वह वर्तमान में राग-द्वेषरहित हो जाता है; और राग-द्वेषरहित होना ही संवर हैं, आस्रव का निरोध है और साथ ही कर्मबंध का भी अभाव है।

वर्तमान में जीना ही भावक्रिया है और भावक्रिया स्वयं ही साधना है तथा स्वयं ही ध्यान है; क्योंकि भावक्रिया का अभिप्राय ही यह है कि हृदय उस क्रिया की भावना से भावित हो, मन उस क्रिया में रम जाये—उसे छोड़-कर अन्यत्र कही भी न जाये, इन्द्रियाँ उस क्रिया के प्रति समर्पित हो जायें।

जब व्यक्ति अपनी क्रियमाण क्रिया में इतना तल्लीन और तन्मय हो जाता है तभी उसकी क्रिया भावक्रिया बनती है और यह स्थिति सदा वर्तमान क्षण मे ही आती है, इसीलिए वर्तमान क्षण की प्रेक्षा राग-द्वेषविजय की साधना है।

प्रेक्षाध्यान से साधक को लाभ

प्रेक्षाध्यान से साधक को अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। उनमें से कुछ प्रमुख लाभ हैं—

(१) **अप्रमत्तता**—प्रेक्षाध्यान-साधना से साधक का प्रमत्तभाव समाप्त हो जाता है और अप्रमत्तभाव आ जाता है।

(२) **मन की एकाग्रता**—प्रेक्षाध्यान-साधक के मन की एकाग्रता सध जाती है, उसका चित्त चंचल नही होता है।

(३) **सयम की साधना सुकर**—प्रेक्षाध्यान से साधक की संयम-साधना सरल और सहज हो जाती है। सयम के उपसर्ग और परीषह उसे अधिक पीड़ित नही कर पाते।

जिस प्रकार कुम्भक श्वास का निरोध है, उसी प्रकार संयम इच्छाओं का निरोध है। प्रेक्षाध्यान का साधक मन की इच्छाओं, संकल्प-विकल्पो को देखता और जानता ही है, किन्तु न उन इच्छाओं में राग-द्वेष ही करता है और न आचरण ही। अत. प्रेक्षा स्वयं संयम है, आत्मभावों का कुम्भक है।

(४) **आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान**—प्रेक्षाध्यान के साधक को आत्मा और शरीर की पृथक्ता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वह स्पष्ट देख लेता है कि आत्मा पृथक् है और मन-शरीर-इन्द्रियाँ आदि पृथक् है। उसे स्व-पर के भेदविज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

(५) **चैतन्य केन्द्रों का जागृत होना**—प्रेक्षाध्यान की साधना से तैजस् शरीरस्थित चैतन्य केन्द्र, चक्रस्थान सक्रिय हो जाते हैं।

(६) **ज्ञाता-द्रष्टाभाव का विकास**—प्रेक्षाध्यान में साधक तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा बना रहता है, अत. उसमे ज्ञाता-द्रष्टाभाव का विकास हो जाता है और यही भाव आत्मा का स्वभाव है।

(७) **वस्तु के स्वरूप को जानने की क्षमता का विकास**—प्रेक्षाध्यान-साधना मे जब साधक किसी एक पुद्‌गल पर, अपने शरीर आदि पर दृढता-पूर्वक दृष्टि निक्षेप करता है तो उसे उस पदार्थ की वास्तविकता का—वास्त-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

(द) **मन से देखने-जानने का अभ्यास**—शरीर के अन्दर, श्वास, संकल्प-विकल्प, आवेग-संवेग इतने सूक्ष्म है कि उन्हें चर्मचक्षुओं से देखना सम्भव ही नही है, वे तो मन की आँखों से—विवेक-नेत्रों और ज्ञान चक्षुओं से ही देखे-जाने जा सकते हैं। अतः इन्द्रियों की पराधीनता समाप्त हो जाती है और ज्ञान-चक्षु खुल जाते है, साधक ज्ञान-चक्षुओं से किसी भी वस्तु को देखने-जानने का अभ्यस्त हो जाता है।

इस प्रकार प्रेक्षाध्यान की साधना, साधक के लिए बहुत ही लाभ-कारी है। इससे उसकी राग-द्वेष की वृत्ति का संक्षय होता है, ज्ञाता-द्रष्टा-भाव का विकास होता है और यदि एक रात वह अनिमेष—अपलक प्रेक्षा करने में सक्षम हो सके तो उसे कैवल्य की प्राप्ति तक हो सकती है।

वस्तुतः प्रेक्षाध्यान विचयध्यान (धर्मध्यान) का ही एक रूप है। इसे अन्त मानना साधक के लिए उचित नही है, यह तो आदि-बिन्दु ही है। किन्तु यह विस्तृतता की प्रवृत्ति रखता है। जिस प्रकार पानी पर तेल की बूँद फैल जाती है उसी प्रकार यह प्रेक्षाध्यान भी शरीर से आत्मा तक फैलाव कर लेता है, विस्तृत हो जाता है। यह इसका सर्वाधिक महत्त्व है। □□

८. भावनायोग साधना

अनुप्रेक्षा का आशय

एक शब्द है प्रेक्षा, उसका आशय है देखना, गहराई से देखना, तटस्थतापूर्वक देखना, सिर्फ देखना, उसमें कोई चिन्तन-मनन न हो, मात्र प्रेक्षा ही हो, और दूसरा शब्द है अनुप्रेक्षा; 'अनु' उपसर्ग लगते ही प्रेक्षा शब्द का आशय बदल गया, अभिप्राय परिवर्तित हो गया, उसमे चिन्तन-मनन का समावेश हो गया, इस प्रकार अनुप्रेक्षा शब्द का आशय है—बार-बार देखना, गहराई से देखना, चिन्तन-मननपूर्वक देखना, मनन करना, चिन्तन करना और मन, चित्त तथा चैतन्य को उस विषय मे रमाना, उन सस्कारो को दृढीभूत करना।[1]

अनुप्रेक्षा, सचाई को देखना है, सचाई पर चिन्तन करना है। अपनी जो पूर्वधारणाएँ है, उन्हे निकालकर पूर्व-सस्कारो को हटाकर जो सत्य है, यथार्थ है, वास्तविकता है उसका चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा का अभिप्रेत है—**सत्य प्रति प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा**। सत्य के प्रति एकनिष्ठ बुद्धि से देखना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त, वास्तविकता मे, सत्य-दर्शन का सिद्धान्त है, सत्य के प्रति एकनिष्ठ समर्पण का सिद्धान्त है, अपनी सभी पूर्वधारणाओ और सस्कारो को नकार कर सत्य को/सचाई को ग्रहण करने का, उसे धारण करने का सिद्धान्त है।

---

१ (क) अणुप्पेहा णाम जो मणसा परियट्टेइ णो वायाए।—दशवै० चूर्णि, पृष्ठ २९

—पठित व श्रुत अर्थ का मन से (वाणी से नही) चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

(ख) शरीरादीना स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। —सर्वार्थसिद्धि ९/२/४०९

—शरीर आदि के स्वभाव का पुन पुन चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

(ग) परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुन पुन अभ्यसन अनुशीलन सानुप्रेक्षा।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका ४६६

—जाने हुए विषय का एकाग्रचित्त से बार-बार चिन्तन—अनुशीलन करना अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षायोग की साधना करने वाला साधक अपने पूर्वसंस्कारो और धारणाओं तथा राग-द्वेषमय मान्यताओं/मूढ़ताओं से परे हटकर, सत्य के प्रति समर्पित हो जाता है और सत्य को ही अपने मन में, अणु-अणु में रमाता है।

इस सत्य को अपने मन-मस्तिष्क में रमाने के लिए वह बारह अनुप्रेक्षाओं का बार-बार चिन्तवन करता है। बारह अनुप्रेक्षाओ के नाम ये है—

(१) अनित्य अनुप्रेक्षा (७) आस्रव अनुप्रेक्षा
(२) अशरण अनुप्रेक्षा (८) संवर अनुप्रेक्षा
(३) ससार अनुप्रेक्षा (९) निर्जरा अनुप्रेक्षा
(४) एकत्व अनुप्रेक्षा (१०) लोक अनुप्रेक्षा
(५) अन्यत्व अनुप्रेक्षा (११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा
(६) अशुचि अनुप्रेक्षा (१२) धर्म अनुप्रेक्षा

इन बारह अनुप्रेक्षाओ का बार-बार चिन्तन-मनन करके साधक इन संस्कारों से अपनी आत्मा को भावित करता है, अतः इन्हे भावना भी कहा जाता है। अनुप्रेक्षा और भावना दोनों शब्द एकार्थवाची है।

प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार भावना व अनुप्रेक्षा मे वाणी-प्रयोग नही होता, सिर्फ मन ही उस विषय मे गतिशील रहता है अतः मौनपूर्वक गभीर चिन्तन-मनन को अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है।

इन अनुप्रेक्षाओं की साधना ही योग की दृष्टि से अनुप्रेक्षायोग साधना कहलाती है।

ध्यान की अपेक्षा से भावनाओं का वर्गीकरण

इनमे से अनित्य, अशरण, ससार और एकत्व ये चार अनुप्रेक्षाएँ धर्मध्यान की भावनाएँ मानी जाती हैं अर्थात् धर्मध्यान की साधना में ये भावनाएँ सहायक होती है।[1]

(१) अनित्य अनुप्रेक्षायोग—शरीरासक्ति-त्याग साधना

भगवान महावीर ने अनित्य भावना के साधक को एक साधना सूत्र दिया—

---

१ धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ तं जहा—
एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, ससाराणुप्पेहा।
—ठाणाग ४/१/२४७
(धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही हैं, यथा—एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा।)

से पुव्व पेय, पच्छा पेयं भेउरधम्म, विद्धसण-धम्मं, अधुवं,
अणितिय, असासय, चयावचइय, विपरिणामधम्म, पासह एयं रूवं ।

—आचाराग ५/२/५०१

अर्थात्—हे साधक ! तुम अपने इस शरीर को देखो । यह पहले अथवा पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जायेगा । इसका स्वभाव ही विनाश और विध्वंसन है । यह शरीर अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है । इसका उपचय-अपचय होता है । इसकी विविध अवस्थाएँ होती हैं । शरीर के इस रूप को देखो ।

शरीर की अनित्यता और मृत्यु की अनिवार्यता के बारे मे दूसरा साधना सूत्र साधक को दिया—

णत्थि कालस्स णागमो । —आचाराग २/२/२३६

शरीर मरणधर्मा है, यह क्षण-प्रतिक्षण मृत्यु की ओर जा रहा है, इस तथ्य को सभी जानते है; किन्तु उनका आचरण इसके अनुकूल नही होता। माता पुत्र उत्पन्न होते ही भविष्य की आशाएँ-आकांक्षाएँ सँजोने लगती हैं, किन्तु इस तथ्य को नजरअन्दाज कर जाती है—

मात कहे सुत बाढे मेरो ।
काल कहे दिन आवे मेरो ॥

किन्तु अनित्यभावना का साधक इस लोक परम्परा और लोक धारणा से अलग हट जाता है, वह शरीर के यथार्थ और वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करता है। शरीर के सत्य को देखता है, कल्पना, व्यामोह और राग के आवरणो को तोडकर सत्य का साक्षात्कार करता है ।

अनित्य भावना का साधक कुछ सूत्रो के अनुसार अपनी साधना करता है। उसका पहला सूत्र होता है—'**इमं सरीर अणिच्च**' यह शरीर अनित्य हैं। दूसरा सूत्र है—'**इम सरीर चयावचयधम्मयं**'—यह शरीर चय-अपचय स्वभाव वाला है । कभी यह पुष्ट होता है तो कभी कृश हो जाता है। तीसरा सूत्र है—'**इम सरीरं विपरिणामधम्मय**'—विभिन्न प्रकार के परिणमन इस शरीर मे होते रहते हैं। कभी भोजन-पानी से इस शरीर में परिवर्तन होता है तो कभी सर्दी-गर्मी-बरसात के मौसम से । कभी दूसरे के सतापी पुद्गलों से परिवर्तन होता है तो कभी मनुष्य की अपनी ही भावनाओ, आवेगो-सवेगों से परिवर्तन होता है । इस प्रकार अनेकों प्रकार के परिवर्तन इस शरीर मे होते रहते हैं। काल (समय) कृत परिवर्तन तो होते ही रहते हैं।

चौथा सूत्र है—'**इमं सरीरं जरामरणधम्मयं**—वृद्धावस्था और मृत्यु इस शरीर का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। समय पाकर इसमें वृद्धावस्था भी आयेगी और इसकी मृत्यु भी होगी, आत्मा इसे छोडकर अन्यत्र—अन्य किसी गति-योनि में जायेगा भी।

इस प्रकार साधक अनित्य भावना की साधना इन चार सूत्रों के आधार पर करता है। प्रेक्षाध्यान मे जब वह अपने औदारिक शरीर की प्रेक्षा करता है तो वहाँ उसे शरीर में अवस्थित लाखों-करोड़ों कोशिकाएँ प्रतिपल जीवनशून्य होती हुई, मरती हुई दिखाई देती है। और फिर वह अनित्य अनुप्रेक्षा के चिन्तवन से इस तथ्य को कि शरीर अनित्य है अपने मन-मस्तिष्क में दृढीभूत कर लेता है।

इस भावना के चिन्तवन से उसका अपने शरीर के प्रति ममत्व भाव विनष्ट हो जाता है।

(२) अशरण अनुप्रेक्षा—पर-पदार्थों से विरक्ति की साधना

अशरणता—मेरा कोई रक्षक नही, कोई शरण नही, कोई मेरा नाथ नही—इस अनुप्रेक्षा के साथ मन-मस्तिक को जोड़ना, योग करना, अशरण अनुप्रेक्षायोग साधना है।

भगवान ने साधक को अशरण अनुप्रेक्षा का सूत्र दिया—

णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।
तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा, सरणाए वा॥

—आचारांग २/१६४

अर्थात्—हे साधक! वे स्वजन तुम्हे त्राण देने में—शरण देने में समर्थ नही है; और तुम भी उन्हे त्राण देने में, शरण देने में समर्थ नही हो।

सामान्य मनुष्य भी प्रतिदिन अपने सामने गुजरते हुए संसार और संसारी जनो की प्रवृत्तियो को देखता है कि एक-दूसरे के दुःख, पीडा, कष्ट को कोई बँटा नही सकता, मृत्यु के मुँह मे जाने वाले को कोई बचा नहीं सकता, कोई भी एक-दूसरे को शरण नही दे सकता; धन-वैभव, सम्पत्ति, स्वजन-परिजन, मित्र, बन्धु-बान्धव, विविध प्रकार के वैज्ञानिक उपकरण, औषधियाँ आदि कोई भी किसी को शरण देने में समर्थ नही है। यह सम्पूर्ण दृश्य प्रत्यक्ष देखकर भी सामान्य मानव इनमें राग करता है, इनके मोह में मूर्च्छित रहता है।

किन्तु अशरण अनुप्रेक्षा का साधक इन सब साधनों की नश्वरता और क्षण-क्षण वदलते रूप को देखकर इनके प्रति राग भावना का त्याग कर देता है, इनके मोह में मूर्च्छित नही होता। वह धर्म की शरण को ही वास्तविक शरण मानता है और 'अप्पाणं शरणं गच्छामि'—मैं आत्मा की शरण में जाता हूँ, इस सूत्र को हृदयगम करता है, अपनी आत्मा को इस सूत्र से भावित करता है और स्वय को ही समर्थ वनाता है।

वस्तुतः अशरण अनुप्रेक्षा की साधना संसार और समस्त सांसारिक सम्वन्धो तथा साधनो से राग-त्याग की साधना है। इस भावना द्वारा वह समस्त सयोगज सम्वन्धो और विकल्पो से मुक्त होने का प्रयास करता है। उनके प्रति कल्पित आकर्षण से दूर हटकर वास्तविकता को समझता है।

यदि साधक गृहस्थयोगी है, पारिवारिक और सामाजिक उत्तर-दायित्व उसके कन्धे पर है तो वह सिर्फ कर्तव्य भावना से अपनी जिम्मे-दारियो को पूरा करता है, उनमे राग-द्वेष नही करता, यदि राग-द्वेष होते भी है तो अत्यल्प मात्रा में होते है। वह पुत्र-पुत्रियो तथा अन्य किसी भी पर-वस्तु से कोई आशा-अकांक्षा-अपेक्षा नहीं करता। वह अनासक्त भाव से कर्म करता है, सिर्फ कर्तव्य-बुद्धि से।

गृहत्यागी साधक तो पूर्णतया अनासक्त कर्म करता है, क्योकि वह फलाशा को पूर्णतया छोड़ चुका होता है।

अशरण भावना, इस अपेक्षा से, अनासक्त योग की साधना है।

(३) संसार अनुप्रेक्षा : वैराग्य की ओर बढ़ते कदम

संसार का अभिप्राय है—जन्म-मरण का चक्र। यह भ्रमण नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—इन चार गतियो में होता है। जो आत्मा इन चार गतियो मे भ्रमण करता है, वही संसारी आत्मा कहा जाता है। इसीलिए विशेषावश्यकभाष्य में संसार का लक्षण बताया गया है—

ससरणं संसार। भवाद् भवगमन नरकादिषु पुनर्भ्रमणं वा।

अर्थात्—एक भव (जन्म) से दूसरे भव मे, एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करते रहना ही संसार है।

संसार भावना (अनुप्रेक्षा) का अनुचिन्तन करता हुआ साधक संसार के दुःखो, जन्म-जरा-मरण की पीडाओं, चारो गतियो के कष्टो पर विचार

करता है और सोचता है—'एगंतदुक्ख जरिए व लोय'[1] कि सम्पूर्ण संसार और संसार के प्राणी एकान्त दुःख से दुखी है, कही भी सुख का लेश नही है। वह भगवान महावीर के शब्दो में 'पास लोए महब्भयं'[2] संसार को महाभयानक देखता है।

इस प्रकार के अनुचिन्तन से साधक के मन में संसार और सांसारिक काम-भोगो के प्रति विरक्ति हो जाती है, उसमें वैराग्य भाव दृढ हो जाता है और ससार-बन्धनो से मुक्त होने की प्रबल अभिलाषा जाग उठती है।

इस भावना से साधक ससार के प्रति निराशा या भय की भावना से व्याकुल नही होता, किन्तु ससार में जो दुःख, पीडाएँ, मृत्यु आदि अवश्यंभावी घटनाएँ है, उनको समझकर अनुद्विग्न और तितिक्षु रहता है।

(४) एकत्व अनुप्रेक्षा संयोगों से विरक्ति

एकत्व अनुप्रेक्षा का अनुचिन्तन करने वाले साधक की दृष्टि आत्म-केन्द्रित हो जाती है, वह संसार के सभी पदार्थो और सम्बन्धो को केवल संयोगजनित मानता है और उनसे विरक्ति धारण करके अपनी आत्मा को ही अपना मानता है। वह आत्मा को बहुत ही इष्ट, कान्त, प्रिय और मनोज्ञ देखने, जानने और समझने लगता है।[3] उसकी दृढ मान्यता हो जाती है—

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा ॥[4]

अर्थात्—ज्ञान (विवेक) और दर्शन (श्रद्धा) (अथवा देखना और जानना) गुण से संयुक्त मेरी आत्मा ही शाश्वत है, उसके अतिरिक्त ये सब तो बाह्य भाव हैं, जिनका मेरी आत्मा के साथ सयोग मात्र है।

जो वस्तुएँ बाहरी है, उनसे तो साधक के चित्त में विरक्ति हो ही जाती है, किन्तु वह अपने मनोभावों को भी अपना नही मानता; सिर्फ अपने आत्मिक गुणो को ही अपना मानता है; अपनी आत्मा के गुणों अथवा आत्मा मे उसकी रुचि इतनी दृढ हो जाती है कि वह उसी मे मग्न रहता है। वह इस प्रकार के एकत्व का आश्रय लेता है।

---

१ सूत्रकृताग १७/११
२ आचारांग ६/१
३ मज्झवि आया एगे भडे, इट्ठे, कंते, पिये, मणुन्ने। —भगवती सूत्र २/१
४ आतुरप्रत्याख्यानप्रकीर्णक २६

लेकिन इस एकत्व का अभिप्राय यह नही है कि वह अपने को असमर्थ समझने लगता है। असमर्थता की भावना तो कायरता है, जो सम्यक्त्व के प्रथम स्पर्श में ही छूट जाती है। इस एकत्व भावना के अनुचिंतन से तो साधक मे प्रबल पुरुषार्थ जागता है। वह इतना पुरुषार्थी हो जाता है कि अकेला ही अपनी साधना के पथ पर बढने का प्रयास करता है। इससे पर-सहाय-निरपेक्षता के संस्कार दृढ होते है।

एकत्व की भावना के अनुचिंतन से साधक सर्वसयोगो से विरक्त होकर आत्मिक चिन्तन मे अपना पुरुषार्थ प्रगट करता है। एकत्व भाव के साथ धर्म की साधना-उपासना करता है। भगवान के शब्दो में—'एग चरेज्ज धम्मो'[1]—अकेले ही धर्म का आचरण करो—यही उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति हो जाती है।

(५) अन्यत्व भावना : भेदविज्ञान की साधना

अन्यत्व भावना के अनुचिन्तन से साधक भेदविज्ञान की साधना करता है। भेदविज्ञान का अर्थ है—हसविवेक—नीर-क्षीर न्याय। वह इस भावना द्वारा आत्म और अनात्म दोनो को पृथक समझता है। आत्मिक गुणो और भावो के अतिरिक्त अन्य सभी भावो—यथा क्रोध, मान आदि कषायो के भाव और राग-द्वेषो के तथा काम-भोग के साधन और इनको प्राप्त करने की इच्छाओं, आशाओ को अन्य मानता है।

इस अन्यत्व भावना का बार-बार अनुचिंतन तथा अभ्यास से साधक का भेदविज्ञान सुदृढ हो जाता है, अन्य वस्तुओ को प्राप्त करने की उसकी इच्छा क्षीण-होती हैं, इन्द्रियों के विषयो की ओर रुचि कम हो जाती हैं, ममत्वभाव कम होकर समत्वभाव प्रादुर्भूत हो जाता है।

साधक का दृढ विश्वास हो जाता है कि ममत्व ही दुःख, चिन्ताओं और मानसिक उद्वेगो का कारण है, अतः वह ममत्व को छोडकर समत्व मे लीन होता है। इन सब से अपनी आत्मा को भिन्न समझता है।

इस प्रकार उसका अन्यत्व भाव सुदृढ होता है।

(६) अशुचि भावना : पावनता की ओर प्रयाण

अशुचिभावना का अनुचिंतन करता हुआ साधक अपने शरीर की अशुचि को देखता है।

यह शरीर जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर है; और जैसा भीतर है वैसा ही बाहर है।

---

१ सूत्रकृताग २/१/१३.

साधक इस अशुचि शरीर को अन्दर से अन्दर देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है ।[1]

शरीर की अशुचिता को देखने से साधक के मन में इस शरीर के प्रति रागासक्ति मिट जाती है और वह पावनता तथा पवित्रता की ओर मुड़ता है । पवित्रता उसे दिखाई देती है आत्मा में, आत्मिक गुणो मे । उसका शरीर-सौन्दर्य के प्रति मोह मिट जाता है और पवित्रात्मा के अनुभव की ओर वह मुड़ जाता है । वह अपनी आत्मा पर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगता है ।

अशुचि भावना, इस प्रकार साधक को शुचिता की ओर, पवित्रता की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त करती है और उसे आत्म-ध्यान की ओर अभिमुख करती है ।

(७) आस्रव भावना : आन्तर् भावो का निरीक्षण

अब तक की ६ भावनाएँ बाह्य जगत से संबंधित थी । उनके अनुचिंतन द्वारा साधक बाह्य जगत, शरीर आदि के प्रति ममत्व एवं आसक्ति का विसर्जन करता था, उनके प्रति मोह को तोडता था किन्तु इस आस्रव भावना द्वारा वह अपने आन्तरिक जगत का निरीक्षण करता है । वह देखता है कि मन-वचन-काय—इन तीनों योगो को प्रवृत्ति के कारण कर्मों का आगमन हो रहा है ।

कर्मों का आगमन ही आस्रव है । यह आस्रव पाँच प्रकार का होता है—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग ।

इनमें से मिथ्यात्व का नाश तो वह पहले ही कर चुका होता है, शेष चार प्रकार के आस्रव ही उसको शेष होते है । उनका निरीक्षण करके साधक उन्हे न होने देने का प्रयास करता है ।

आस्रव भावना की साधना द्वारा साधक को कर्मबन्ध के हेतुओ का परिज्ञान हो जाता है, अतः उसमें उनसे विरति की भावना आती है और वह आस्रव के कारणों को अनास्रव के कारण[2] बनाने की ओर गतिशील होता है ।

आस्रव वास्तव में आत्मा के छिद्र है । नाव में जिस प्रकार छिद्रों से पानी भरता है और पानी भरने से नाव को डूबने का खतरा पैदा होता है, उसी प्रकार आस्रव के रूप में आत्मा में कर्मजल भरता है और वह संसार समुद्र में डूबता है । आस्रव भावना से अनुभावित साधक अपने मनश्छिद्रो को स्वयं देखता है, समझता है, पहचानता है, उन पर ध्यान केन्द्रित करता है, उन

---

१ जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अन्तो ।
अंतो अंतो देहन्तराणि पासति पुढो वि सवताइ । —आचारांग २/५/९२

२ आचारांग १/४/२/४४१

स्रोतो से आते-जाते कर्म-रूप-जल को समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार साधक अपनी दुर्बलता और भूल को पहचानता और पकड़ता है। भूल को पकड लेना वहुत वडी सफलता है, क्षमता है। वह आगे चलकर उनको वन्द भी कर देता है और समस्त दुर्बलताओ पर विजय भी पा लेता है। अतः आस्रव भावना से साधक कर्मास्रवो को जानने पहचानने में निपुण होता है। फिर उन्हें रोकने का प्रयत्न भी करता है जिसे आगे 'सवर भावना' में वताया गया है।

(८) संवर भावना : मुक्ति की ओर चरणन्यास

संवरयोग, जैन योग का एक वहुत ही महत्त्वपू योग है। साधक इस संवर भावना के अनुचिंतन द्वारा संवरयोग की ही साधना करता है। वह आस्रवो को—कर्मों के आगमन को रोकता है। आस्रव से विपरीत प्रवृत्ति करके वह संवर करता है।[1] सवर[2] के लिए वह सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग की साधना करता है।

संवर की साधना वह दो रूपो मे करता है। द्रव्यरूप से वह योगो को (मन-वचन-काय को), कषाय आदि को स्थिर रखता है और भावरूप से वह मन के संकल्पों-विकल्पो, आवेगो-सवेगो को रोकता है।

---

१ सवर की परिभाषा करते हुए श्री देवसेनाचार्य ने कहा है—

रुन्धिय छिद्द सहस्से जल जाणे जह जलं तु णासवदि।
मिच्छत्ताइ अभावे तह जीवे सवरो होइ। —वृहद् नयचक्र १५६

जिस प्रकार नाव के छिद्र रुक जाने से उसमे जल प्रवेश नही करता, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि का अभाव हो जाने पर जीव मे कर्मों का सवर होता है।

२ सवर के मुख्य भेद ५ हैं—(१) सम्यक्त्व, (२) विरति, (३) अप्रमाद, (४) अकषाय (५) योगनिग्रह। —स्थानाग ५/२/४१८ तथा समवायाग ५

किन्तु इसके २० और ५७ भेद भी माने जाते हैं।

(क) पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय, और पाँच चारित्र—ये संवर के ५७ भेद हैं। —स्थानागवृत्ति, स्थान १ (तत्त्वार्थ सूत्र ६/२)

(ख) सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, अयोग, प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, अब्रह्मचर्यविरमण, परिग्रहविरमण, श्रोत्रेन्द्रिय सवर, चक्षुरिन्द्रियसवर, घ्राणेन्द्रियसवर, रसनेन्द्रियसवर, स्पर्शनेन्द्रियसवर, मनसवर, वचनसवर, कायसवर, उपकरणसवर, सूचीकुशाग्रसवर—ये २० भेद सवर के होते हैं। —प्रश्नव्याकरण, सवर द्वार तथा स्थानाग १०/७०९

इस प्रकार साधक अनास्रव अथवा संवर की साधना करके कर्मबन्ध को रोकता है अन्तश्छिद्रों को ढांकता है और मुक्ति की ओर अग्रसर होता है।

(९) निर्जरा भावना : आत्मशुद्धि की साधना

निर्जरा, आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है। आत्मा के साथ जो कर्म बँधे हुए है, उनको आत्मा से दूर करना; झाड़ना, बन्धनमुक्त करना निर्जरा है। वह निर्जरा तप[1] के द्वारा की जाती है।

इस भावना के अनुचिंतन में साधक निर्जरा के लक्षण, स्वरूप और साधनो के बारे में बार-बार चिन्तन-मनन करता है। इस चिन्तन से साधक की आत्मा में तप, दान, शील के प्रति आकर्षण बढता है। तप करने की हृदय में भावना जगती है तथा उत्साह एवं साहस भी उत्पन्न होता है।

इस आत्मिक साहस, उत्साह और भावना से भी कर्मों की निर्जरा होती है और जब वह तप के मार्ग पर चल पड़ता है, तप करने लगता है, तब तो वह सभी कर्मों से मुक्त होकर शुद्ध बन जाता है।

इस प्रकार निर्जरा भावना आत्म-शुद्धि का साधन बन जाती है और साधक इस भावना के द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि का प्रयास करता है। साधक में अदम्य साहस व तितिक्षा वृत्ति जागृत होती है।

(१०) धर्म-भावना : आत्मोन्नति की साधना

धर्म, आत्मा की उन्नति का साधन है। धर्म से ही आत्मा को श्रेयस् की प्राप्ति होती है। धर्म ही प्राणी को संसार के दुःखों से बचाकर मुक्ति के उत्तम सुख में पहुँचाता है।[2] वह धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप है और वही सर्वोत्तम मंगल है।[3]

धर्मभावना के अनुचिंतन मे साधक धर्म (केवलिप्रज्ञप्त धर्म) के विविध पहलुओ का चिन्तन करता है तथा उससे आत्मा को भावित करता है। श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म के भेद-प्रभेद और लक्षणो तथा अहिंसा, संयम और तप आदि का चिन्तन करता है।

इस चिन्तन से साधक की आत्मा मे; उसके रग-रग में, आचार-विचार-

---

१ तप का वर्णन 'तपोयोग' नामक अध्याय मे किया गया है।

२ धर्मं कर्मनिवर्हण ससारदु खत सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे।
—रत्नकरड श्रावकाचार, श्लोक २

३ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। —दशवैकालिक १/१

व्यवहार मे सर्वत्र धर्म रम जाता है, उसकी आत्मा धर्म से भावित हो जाती है और उसका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय बन जाता है। वास्तविक अर्थ मे वह धर्मात्मा (धर्ममय आत्मा) बन जाता है। धर्म भावना से साधक धर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य को हृदयगम कर लेता है।

उसके इस धर्ममय आचरण से उसके जीवन मे सुख-शान्ति का सागर लहराने लगता है और उसकी आत्मिक उन्नति होती है।

(११) लोक भावना : आस्था की शुद्धि

साधक लोक भावना का अनुचिन्तन करते हुए षड्द्रव्यात्मक लोक का विचार करता है। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—इन छह द्रव्यो तथा उनके गुणो और पर्यायो पर विचार करता है। लोक की शाश्वतता, अशाश्वतता, इसके रचयिता अथवा स्वयं निर्मित, उसके संस्थान आदि बातो पर विचार करता है और फिर इस लोक मे अपनी स्थिति पर चिन्तन करता है।

इस संपूर्ण चिन्तन से साधक की आस्था शुद्ध हो जाती है, वह लोक के वास्तविक स्वरूप को समझ जाता है। उसकी जिनवचनो के प्रति श्रद्धा प्रगाढ हो जाती है।

लोकानुप्रेक्षा द्वारा साधक को अपनी (आत्मा की) अनादिकालीन लोक यात्रा का अन्त पाने की कुञ्जी प्राप्त हो जाती है, उसका आस्तिक्य भाव शुद्ध और दृढ हो जाता है। वह लोक के स्वीकार के साथ-साथ अपनी तथा अन्य जीवो और द्रव्यो की स्थिति भी स्वीकार करता है। अन्य जीवो के प्रति उसमें सहिष्णुता और कल्याणभावना जागृत होती है।

यह कल्याणभावना स्वय उसके कल्याण का भी साधन बनती है।

(१२) बोधिदुर्लभ भावना : अन्तर्जागरण की प्रेरणा

बोधि का अभिप्राय है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपलब्धि। इसकी उपलब्धि बहुत ही कठिन है।

इस भावना का अनुचिंतन करते हुए साधक, जीव की क्रमिक उन्नति पर विचार करता है। वह सोचता है—मेरा जीव अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है। पहले कभी अव्यवहार राशि मे था, फिर व्यवहार राशि में आया, अनन्त काल निगोद मे ही गुजर गया, फिर नरक, तिर्यंच की वेदनाएँ सही, असंख्यात काल तक एकेन्द्रिय रहा, फिर संख्यात काल द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मे गुजर गया, पचेन्द्रिय बना तो मनरहित रहा, मनसहित भी

हुआ तो पशु-पक्षी बन गया, नरक की वेदना भी सही। मनुष्य बना तो आर्य-क्षेत्र, उत्तम कुल न मिला, मिल भी गया तो धर्म की ओर रुचि न हुई, संयम में पराक्रम न किया। भाग्ययोग अथवा पुण्यबल से अब मुझे ये सब संयोग प्राप्त हो गये है तो अब मुझे मुक्ति की साधना में अपना संपूर्ण बल-वीर्य-पराक्रम लगा देना चाहिए।

इस प्रकार के चिन्तन से साधक को अन्तर् जागरण की प्रेरणा प्राप्त होती है, उसका अन्तर् हृदय जाग्रत हो जाता है और वह मुक्ति-मार्ग पर चल पडता है, मुक्त होने के लिए पूर्ण पुरुषार्थ करता है। वह बोधि और संबोधि को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओ (भावनाओ) के चिन्तन-मनन द्वारा साधक अपनी वैराग्य भावना दृढ़ करता है।

ज्ञान की जुगाली

एक अपेक्षा से अनुप्रेक्षाओ के चिन्तवन को ज्ञान की जुगाली भी कह सकते हैं। जिस प्रकार गाय आदि पशु पहले तो घास आदि को उदरस्थ कर लेते है और फिर उस घास को शीघ्रता से और भली भाँति हजम करने के लिए एकान्त-शान्त स्थान पर बैठकर अवकाश के समय जुगाली करते है, इससे वह घास अच्छी तरह पच जाती है। उसी प्रकार साधक भी धर्मग्रथो के स्वाध्याय तथा गुरु-उपदेश से प्राप्त ज्ञान को पहले तो श्रवण और चक्षु इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण कर लेता है और फिर शांत-एकान्त क्षणो में उस पर चिन्तन-मनन करता है, स्मृति पटल पर लाकर उस पर गहराई से विचार करता है। इस प्रक्रिया से गुरु-उपदिष्ट तथा स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान उसे हृदयंगम हो जाता है। अत: अनुप्रेक्षाओ को ज्ञान जुगाली भी कह सकते है।

वैराग्य भावनाएँ

भावनाओ के वर्गीकरण में द्वादश अनुप्रेक्षाओं को वैराग्य भावना कहा गया है। वैराग्य भावना कहने का कारण यह है कि इनके चिन्तन से साधक का वैराग्य भाव तीक्ष्ण, निर्मल एवं दृढ होता है।

योग साधना के लिए वैराग्य सर्वप्रथम और आवश्यक तत्त्व है। बिना वैराग्य के अध्यात्मयोग में साधक गति ही नही कर सकता। उसकी सम्पूर्ण गति-प्रगति वैराग्य की दृढ़ता और प्रकर्षता पर ही निर्भर होती है।

वैराग्यहीन योग तो बिना प्राण का शरीर—शव मात्र ही होता है। उस योगविद्या के माध्यम से साधक चमत्कारी सिद्धियाँ भले ही प्राप्त कर ले;

किन्तु मोक्षमार्ग की ओर उसकी गति हो ही नही सकती। सही शब्दों में ऐसा साधक अपनी आत्मा को पतन की ओर ही ले जाता है।

अध्यात्मयोग के साधक के लिए वैराग्य अति आवश्यक और आधारभूत है। इसीलिए भावनायोग के नाम से अध्यात्मयोग साधना का एक अंग भी निर्धारित किया है, जिसमे द्वादश अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करके साधक अपने वैराग्य को और भी सुदृढ़ करता है।

अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से लाभ

अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से वैराग्य भाव के दृढ़ होने के अतिरिक्त साधक को और भी कई लाभ होते है। उनमे से कुछ प्रमुख ये है—

(१) **यथार्थता की अनुभूति**—इन द्वादश अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से साधक को यथार्थता की स्पष्ट अनुभूति होती है। वह शरीर के—लोक के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अशरण भावना से उसे विश्वास हो जाता है कि धर्म के अतिरिक्त संसार में कोई भी शरण नही है।

(२) **मूर्च्छा और मलो की सफाई का अवसर**—अनादिकालीन मिथ्या संस्कारो और कर्म-मलो के लगे रहने से आत्मा का ज्ञान-दर्शन-चारित्र ससाराभिमुखी और मलिन होता है। उस मल और मिथ्या संस्कारो को परिमार्जन करने का अवसर साधक को इन अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन द्वारा प्राप्त होता है। संसार-सम्बन्धी उसकी मोह-मूर्च्छा का नाश होता है। अशुचि भावना से उसका देहाध्यास छूट जाता है, संसार भावना से उसे संसार दुःखमय दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार अन्य भावनाओ के चिन्तन से उसकी मूर्च्छा का नाश होता है।

(३) **मन की निर्मलता**—मिथ्या-संस्कार, मोह-मूर्च्छा का नाश होते का परिणाम यह होता है कि साधक के मन मे जो कलुषता थी उसका भी नाश हो जाता है, मन मे उठने वाले आवेग-सवेगो के भाव और सकल्प-विकल्प उपशान्त हो जाते है। इसका परिणाम मन की निर्मलता होता है।

साधक का मन ज्यो-ज्यो निर्मल होता है, उसमे वैराग्य भाव बढता जाता है, उसकी आध्यात्मिक उन्नति होती है, उसकी आत्म-चेतना की धारा उन्नति के सोपानो पर चढती जाती है।

इस प्रकार द्वादश अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन-मनन से साधक को अपरिमित लाभ होता है। यही कारण है कि गृहस्थ और गृहत्यागी—दोनो प्रकार के साधक अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करके आत्मिक उन्नति के प्रति सजग रहते हैं।

द्वादश अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन-मनन-अनुशीलन-अनुचिन्तन से साधक के हृदय मे निवृत्ति-निर्वेद और परम शान्ति का संचार होने लगता है, एवं उसका वैराग्य दृढ से दृढतर हो जाता है, इसीलिए इन बारह अनुप्रेक्षाओ को वैराग्य भावना कहा गया है।

योग भावनाएँ

इनके अतिरिक्त आगमो मे चार भावनाओ का और उल्लेख प्राप्त होता है। वे हैं—

(१) मैत्री भावना[1], (२) प्रमोद भावना[2], (३) कारुण्य भावना[3] और (४) माध्यस्थ भावना[4]।

आगमो के उपरान्त इनका सर्वप्रथम उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने किया है—

मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थानि सत्वगुणाधिक क्लिश्यमानाऽविनेयेषु।

—तत्त्वार्थ सूत्र ७/६

अर्थात्—प्राणीमात्र पर मैत्रीभाव, गुणाधिको पर प्रमोदभाव, दुःखितो पर करुणाभाव एवं अविनीत जनो पर माध्यस्थभाव रखना चाहिए।

इन चारो भावनाओ का पातंजल योगसूत्र[5] में भी विशद वर्णन हुआ है।

---

१ (ख) मित्ती मे सव्वभूएसु। —आवश्यक सूत्र ४
(ख) मेत्तिं भूएसु कप्पए। —उत्तरा० ६/२
(ग) न विरुज्झेज्ज केणइ। —सूत्रकृताग १/१५/१३

२ सुस्सूसमाणो उवासेज्जा सुप्पन्न सुतवस्सिय। —सूत्रकृताग १/६/३३

३ सव्वेसिं जीविय पिय नाइवाएज्ज कचण। —आचाराग १/२/३

४ (क) उवेह एण बहिया य लोग। से सव्व लोगम्मि जे केइ विण्णू।
आचाराग १/४/३
(ख) अणुक्कसे अप्पलीणे मज्झेण मुणि जावए। — सूत्रकृताग १/१/४/२

५ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु.ख पुण्यापुण्य विषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्। —पातजल योगसूत्र, समाधिपाद, सूत्र ३३

अर्थात्—मैत्री, करुणा, मुदिता (प्रमोद), उपेक्षा (माध्यस्थ) इन भावनाओ के आधार पर सुख, दु ख, पुण्य, अपुण्य (पाप) आदि विषयो का चिन्तन करने से चित्त मे प्रसन्नता व आल्हाद की उत्पत्ति होती है—चित्त स्वच्छ हो जाता है अर्थात् चित्त की शुद्धि होती है।

आचार्य अमितगति का इन भावनाओ के बारे मे प्रसिद्ध श्लोक है—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥

अर्थात्—समस्त सत्त्व (जीव, प्राणी, भूत) पर मैत्री हो, गुणीजनो के प्रति प्रमोद भाव हो—उनके गुणो के प्रति अनुराग और सन्मान की भावना रहे। दुःखी जीवो के प्रति करुणा की भावना रहे और जो मुझसे विरोध रखते हैं उनके प्रति उपेक्षा या माध्यस्थ्य भावना रहे, अथवा प्रतिकूल प्रसगो मे भी राग-द्वेष से दूर तटस्थ रहूँ; मेरी आत्मा सदैव इस प्रकार चिन्तन करे।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन भावनाओ को ध्यान को पुष्ट करने वाली बताया है—

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम् ॥

—योगशास्त्र ४/११

अर्थात्—मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना के साथ आत्मा की योजना करनी चाहिए—आत्मा के साथ इनका योग (सयोग) करना चाहिए। ये भावनाएँ रसायन के समान धर्मध्यान (ध्यान) को परिपुष्ट बनाती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन भावनाओं का वर्णन भी ध्यान के अन्तर्गत किया है।

आचार्य हरिभद्र ने जो आठ योगदृष्टियाँ बताई हैं, उनमे भी प्रथम दृष्टि का नाम उन्होने मित्रा[1] दिया है।

इन सब प्रमाणो के आधार पर मैत्री आदि चारो भावनाएँ योग से सम्बन्धित है, उसका कारण यह है कि इन भावनाओ की साधना साधक को समत्वयोग की साधना के निकट पहुँचा देती है। माध्यस्थ भावना तो स्पष्ट ही समत्वयोग की साधना है। इसी प्रकार अन्य तीनो भावना भी आत्मोत्कर्ष और अध्यात्मयोग मे सहायक बनती हैं। इसी कारण ये चारो भावनाएँ, योगभावना के रूप में वर्गीकृत की गई है।

---

१ मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा ।
नामानि योगदृष्टीना लक्षण च निबोधत ॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, १३

(१) मैत्री भावना : आत्मौपम्य भाव की साधना

मैत्री भावना का साधक सभी जीवों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझता है। इस भावना के दृढ़ अभ्यास से उसके हृदयगत ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता आदि के सस्कारो का परिमार्जन होकर उसमें विश्व-मैत्री की भावना का संचार हो जाता है। उसका अहिंसाभाव परिपुष्ट होता है, किसी के भी प्रति वैर-विरोध की भावना मन मे शेष नही रहती। वह सभी प्राणियो की हित/कल्याण-कामना करता है।

सभी की कल्याण-कामना की मंगल भावना से साधक का स्वयं अपना कल्याण होता है, उसके हृदय में प्राणिमात्र के प्रति बन्धुभाव तथा समत्व भावना का विकास होता है और वह समतायोगी बन जाता है।

मैत्री भावना का अनुचिन्तन करता हुआ साधक विचार करता है—ससार के सभी प्राणी मेरे अपने है, सभी के साथ मेरे (किसी न किसी पूर्व-जन्म में) सम्बन्ध बने है, इन्होने मुझ पर उपकार किये है, अतः ये सभी मेरे उपकारी हैं।

वर्तमान में कष्ट देने वालो के बारे में भी वह ऐसी भावना रखता है, सोचता है—यह व्यक्ति मेरे पूर्वकृत अशुभ कर्मों की निर्जरा में सहायक बन रहा है, अत· यह मेरा उपकारी है।

इस प्रकार की भावना से उसका मैत्रीभाव और भी परिपुष्ट बन जाता है। इसका प्रभाव अन्य प्राणियो पर भी पडता है, उनमें भी शत्रुभाव का अभाव हो जाता है। बड़े-बड़े साधको के समीप आकर जो सर्प-नकुल, मृग-सिह आदि पशु भी अपना जन्मजात वैर भूल जाते हैं, उनकी शत्रुता उपशान्त हो जाती है, उसका कारण साधक का उत्कृष्ट मैत्री-भाव ही है।

अतः मैत्री भावना साधक की, स्वयं को और उसके संपर्क में आने वाले अन्य सभी प्राणियो की दुर्वृत्तियो का परिमार्जन करके सुवृत्तियो को स्थापित करती है तथा आत्मौपम्य भाव को विकसित करती है।

(२) प्रमोद भावना : गुण-ग्रहण की साधना

आध्यात्मिक उन्नति और अध्यात्मयोग की साधना हेतु साधक के लिए आवश्यक है कि वह गुण ग्रहण करे। और साधक गुण तभी ग्रहण कर सकता है, जब वह गुणी जनों के प्रति अनुराग रखे, उनके प्रति प्रशसा और सन्मान के भाव रखे।

प्रमोद भावना की साधना द्वारा साधक अपनी गुण-ग्रहण की क्षमता को विकसित करता है। गुणियों के प्रति अनुराग और उनके प्रति आदर-सन्मान के कारण उसके हृदय मे भी वे गुण आ जाते हैं।

इस भावना का अनुचिन्तन करता हुआ साधक बार-बार उन गुणो का स्मरण करता है, गुणीजनो-गुरुजनो के प्रति विनय एव भक्ति का भाव रखता है। इस विनम्रतापूर्ण भक्ति की भावना से उसमें अनेक सद्गुणों का विकास हो जाता है तथा उसकी चारित्रिक एवं आध्यात्मिक उन्नति होती है।

इसीलिए प्रमोद भावना को समतायोग का नेत्र कहा गया है। जैसे नेत्र सुन्दर-असुन्दर सभी वस्तुओ को देखते है, किन्तु आकर्षित सुन्दर के प्रति ही होते हैं, इसी प्रकार गुणदृष्टि वाला साधक गुणो के प्रति ही आकर्षित होता है, गुणो को ही ग्रहण करता है।

यह गुण-ग्रहण ही प्रमोद भावना है।

(३) कारुण्य भावना : अभय की साधना

साधक न तो स्वयं कभी भयभीत होता है और न किसी अन्य को ही भयभीत करता है; वरन् वह अन्य भयत्रस्त, कष्ट से पीडित, दु:खी, आर्त प्राणियो के प्रति अनुकम्पा रखता है, उनको हितचिन्ता करता है तथा चाहता है कि सभी प्राणी दुःख से मुक्त हो, सुखी रहे।[1]

कारुण्य भावना का बार-बार अभ्यास करने से साधक का हृदय दया की भावना से परिपूर्ण हो जाता है, उसके हृदय मे वात्सल्य का सागर उमडने लगता है। वह स्व-दया और पर-दया—दोनो प्रकार की दया का पालन करने लगता है।

पर-दया मे वह किसी अन्य प्राणी को कष्ट नही देता, पीडित नही करता, ऐसे वचन भी नही वोलता जो किसी के हृदय को वेध दें तथा स्व-दया मे आर्त-रौद्रध्यान करके अपनी आत्मा को पीडित नही करता, विषय-कषायो की ज्वाला मे नही जलाता।

इस प्रकार वह स्वयं भी अभय रहता है और दूसरो को भी अभय देता हैं, सभी के सुख की कामना करता है और दुःखी एव पीडितो के प्रति अनुकम्पा-भाव रखता है।

---

१ सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दु:ख भाग् भवेत्॥

समतायोग की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह भावना समतायोग का हृदय है। शरीर में जो स्थान हृदय का होता है, वही कारुण्य भावना का समतायोग मे है। समतायोग की साधना वही साधक कर सकता है जिसका हृदय कोमल हो, जो परदुःखकातर हो, दूसरे का दुःख देखकर पसीज जाय। इसके विपरीत कठोर हृदय वाला समतायोग की साधना कर ही नही सकता।

तीर्थंकर से बड़ा समतायोगी कौन होगा? वे भी संसार के सभी जीवों के प्रति दया भाव रखते है, और इसीलिए वे प्रवचन फरमाते है ?[1]

अतः कारुण्य भावना के दृढ़ अभ्यास से साधक आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करता है, जो अध्यात्मयोग का लक्ष्य है।

(४) माध्यस्थ भावना विपरीतता में समत्व

(राग-द्वेषविजय की साधना)

माध्यस्थ भावना का दूसरा नाम उपेक्षावृत्ति है। उपेक्षा का आशय है—राग-द्वेष न करना, अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थितियो में सम रहना; अनुकूल मे राग न करना और प्रतिकूल के प्रति द्वेष न रखना। सदैव उपेक्षावृत्ति तथा माध्यस्थ भावना में रमण करना।

माध्यस्थ भावना द्विमुखी है—यह राग पर भी विजय प्राप्त करती है और द्वेष को भी निर्मूल करती है। इस प्रकार दोनो ओर से शोधन एवं परिमार्जन करके आत्मा को शुद्ध एवं निर्मल बनाती है।

साधक माध्यस्थ भावना का अनुचिन्तन करता है कि ये अनुकूल एव प्रतिकूल दोनों ही प्रकार की स्थितियाँ संयोगजन्य है और ये संयोग भी मेरे पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मों के परिणाम है। इनमें हर्ष अथवा शोक क्यो करना, क्योकि हर्ष और शोक दोनों ही अन्त में दुःख के—कर्मबन्ध के कारण बनते है, और वास्तव मे हर्ष तथा शोक दोनो ही भाव एक ही सिक्के दो पहलू हैं।

वह भगवान महावीर के इन शब्दो पर अपनी विचारधारा और आस्था केन्द्रित कर देता है—

---

१ सव्वजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवर द्वार

एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे, अतालिसे सो कुणइ पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥

—उत्तराध्ययन ३२/९१

अर्थात्—जो मनुष्य मनोज्ञ (मन के अनुकूल) भावो मे आसक्त होता है, वह मन के प्रतिकूल भाव मिलने पर उनमे द्वेष भी करने लगता है। इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष कभी राग से पीड़ित होता है तो कभी द्वेष से; दोनो ही स्थितियो मे वह दुखी होता है। किन्तु अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियो मे सम रहने वाले—विरागी साधक (मुनि) सदा सुखी रहते है।

फिर वह विचार करता है कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ न शाश्वत हैं, न स्थिर, ये तो क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, फिर इनमे हर्ष-शोक क्यो करना ?

इस प्रकार के अनुचिन्तन से माध्यस्थ भावना का साधक हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वात्मक भावो से परे हो जाता है, ऊपर उठ जाता है और समत्व/समभाव की स्थिति में पहुँच जाता है। वहाँ न इन्द्रिय तथा इन्द्रिय-विषयो की खटपट रहती है, न कषायो की ज्वाला जलती हैं, न राग-द्वेष की तूफानी हवाएँ चलती हैं, न मानसिक आताप-सन्ताप सताते हैं। वहाँ सब कुछ शान्त-प्रशान्त होता है, सुख का क्षीर सागर लहराता है।

अतः माध्यस्थ भावना की साधना राग-द्वेषातीत होने की साधना है, योग और समत्वयोग की अन्तिम परिणति है, लक्ष्य बिन्दु है, जहाँ पहुँच कर साधक कृतकृत्य हो जाता है।

योग-भावनाओं की फलश्रुति

इस प्रकार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ—इन चारो योग-भावनाओ की फलश्रुति वीतरागता की प्राप्ति है। इन योग-भावनाओ द्वारा साधक वीतरागता की साधना करता है और शनैः शनैः आत्मिक भावो की उन्नति करते हुए, प्रगति करता है तथा एक दिन आत्मोन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है, कृतकृत्य हो जाता है, मानव-जीवन का चरम लक्ष्य पा लेता है।

□□

१० बाह्यतप : बाह्य आवरण-शुद्धि साधना

'तप' का अभिप्राय

'तप' दो लघु अक्षरो से निर्मित एक छोटा-सा शब्द है; किन्तु है बड़ा शक्तिशाली। जब 'तप' का योग आत्मा से हो जाता है और यह तपोयोग बन जाता है तब असीमित शक्ति को प्रस्फुटित करता है।

जिस प्रकार वैज्ञानिक अणु का विखडन विद्युत तरंगो के माध्यम से करके असीमित ऊर्जा तथा शक्ति प्राप्त करते है, उसी प्रकार मानव अपने विद्युत शरीर में बहने वाली विद्युत धारा का तप के साथ सयोग करके, तप को तपोयोग में परिणत करके असीम शक्ति प्राप्त कर सकता है।

हुएक वैज्ञानिक अणुशक्ति के प्रयोग द्वारा अपने स्थान पर बैठा आ ही, सि र्फएक स्विच दबाकर, जापान जैसे एक देश को—जनपद को जीवन-रहित कर सकता है तो तपोशक्ति (तेजोलेश्या) के प्रयोग से एक तपस्वी १६½ जनपदों का विनाश करने की प्रचण्ड क्षमता रखे तो यह आश्चर्य की बात नही।

यह तो सिर्फ एक उदाहरण है, तपोशक्ति का सिर्फ व्यावहारिक स्थूल रूप है, किन्तु इसका सूक्ष्म रूप अनन्त और असीमित शक्तिशाली है। उसका कारण यह है कि तैजस् शरीर का स्वामी एवं सचालक आत्मा भी तो अनंत शक्तिशाली है। तपोयोग द्वारा आत्मा की वही शक्ति, जो आवृत दशा में होती है, प्रगट हो जाती है।

आत्म-शक्ति के प्रगटीकरण को प्रक्रिया और साधन है तप, तपो-साधना, तयोयोग साधना।

जिस प्रकार सूर्य तथा अग्नि के ताप से बाह्य मल जलकर वस्तु शुद्ध हो जाती है, अपने निर्मल और वास्तविक रूप में आ जाती है; उसी प्रकार तप के ताप से आत्मा पर लगे कर्मगल, कर्मग्रन्थियाँ, राग-द्वेष आदि आन्तरिक दोष जल जाते है, परिणामस्वरूप कर्मदलिक (आवरण) झड जाते हैं और

आत्मा का वास्तविक स्वरूप, उसके समस्त दिव्य गुण, अनन्त शक्ति प्रगट हो जाती है, वह अपने निजस्वरूप मे अवस्थित हो जाती है, कोटि-कोटि सूर्यप्रभा के समान भास्वर हो उठती है और करोडो चन्द्रमाओं की ज्योत्स्ना के समान अमृतरूप शांति मे स्थिर हो जाती है, अनन्त और अव्याबाध सुख मे रमण करती है।

और आत्मा अपनी स्वाभाविक दशा प्राप्त करता है—तयोयोग की साधना द्वारा।

तप के लक्षण

व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से 'तप' शब्द की रचना 'तप्' नामक धातु से हुई है। 'तप्' धातु का अर्थ है तपना। अतः आचार्य अभयदेव ने निरुक्त की दृष्टि से तप का लक्षण बताया—

रस-रुधिर-मांस-मेदास्थि-मज्जा-शुक्राण्यनेन तप्यन्ते कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्तः।

—स्थानागवृत्ति ५/१, पत्र २८३

अर्थात्—जिस साधना के द्वारा शरीर के रस, रक्त, मास, मेद (चर्बी) अस्थि (हड्डी), मज्जा और शुक्र तप जाते हैं, शुष्क हो जाते है अथवा अशुभ कर्म जल जाते है, उनका क्षय हो जाता है, उस साधना को तप कहते है।

आवश्यकसूत्र के टीकाकर मलयगिरि ने तप का यह लक्षण बताया है—

तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः।

—आवश्यक मलयगिरि, खण्ड २, अध्ययन १

अर्थात्—जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, वह तप है।

दशवैकालिक के चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर का भी यही अभिमत है—

तवो णाम तावयति अट्ठविह कम्मगंठि, नासेतित्तवुत्तं भवइ।

—दशवैकालिक सूत्र—जिनदास चूर्णि

अर्थात्—तप उस साधना को कहा जाता है जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थियो को तपाया जाता है, नाश किया जाता है।

कर्मग्रन्थियों को तपाना, नाश करना और आत्मा का शोधन करना—ये दोनो बातें एक ही है। जब कर्म नष्ट हो जायेंगे तो आत्मा शुद्ध हो ही जायेगी। इन दोनो मे सिर्फ अपेक्षाभेद है। कर्म की अपेक्षा से कर्मों को क्षय

करना तप है और आत्मा की अपेक्षा से तप का कार्य एवं लक्ष्य आत्म-शोधन अथवा आत्म-शुद्धि है।

तप का महत्त्व

आत्म-शुद्धि को ही बौद्धो ने चित्तशुद्धि कहा है और चित्तशुद्धि के लिए तपश्चरण करने की व्यवस्था की है। महामगलसुत्त में वर्णित चार उत्तम मगलो मे तप को प्रथम स्थान दिया है।

तथागत बुद्ध ने कहा है कि तप करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते है और अकुशल धर्म कम होते है तो उसे तप अवश्य करना चाहिए।[1]

इसी प्रकार वैदिक परम्परा में भी तप को बहुत उच्च स्थान दिया गया है। इसे आत्मा को तेजस्वी बनाने की साधना माना गया है।[2]

जैन धर्म में भी तप का बहुत महत्त्व है। इसे आत्म-शुद्धि और मुक्ति का प्रत्यक्ष कारण माना गया है। तपोयोग की साधना से साधक अपने पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा[3] करके आत्मा को शुद्ध बनाता है। इसीलिए जैन श्रमणो के लिए आगम ग्रन्थो में विभिन्न प्रकार के विशेषण[4] प्रयुक्त हुए है, जो उन्हे 'तपःशूर'[5] अथवा तपोयोग के उत्कृष्ट साधक के रूप में प्रतिष्ठित करते है।

तप के विभिन्न प्रकार

तपोयोग का जैन आगमों[6] और ग्रन्थो मे विस्तृत विवेचन मिलता है। भगवान महावीर ने तपोयोग को विस्तृत और व्यापक संदर्भ प्रदान किया है। भगवान महावीर स्वयं एक महान तपोयोगी थे।

---

१ अंगुत्तरनिकाय—दिट्ठिवज्ज सुत्त

२ (क) अजो भागस्तपसा त तपस्व। —ऋग्वेद १०/१६/१४

(ख) श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजात। —गोपथ ब्राह्मण १/१/६

(ग) तपसा चीयते ब्रह्म। —मुण्डकोपनिषद १/१/८

(घ) ऋत तप सत्य तप श्रुतं तपः शातं तपो दान तप.। —तैत्तिरीय आरण्यक १०/८

३ तपसा निर्जरा च। —तत्वार्थ सूत्र ६/३

४ उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले घोरे घोरगुणे घोर तवस्सी। —भगवती शतक १, उद्देशक ३

५ तवेसूरा अणगारा। —आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ४५०

६ देखिए—औपपातिक सूत्र, आचाराग, उत्तराध्ययन सूत्र आदि ग्रंथ।

जैन आगमो के अनुसार, अनाहार भी तपस्या है और कम खाना भी तपस्या है; कायोत्सर्ग भी तप है और ध्यान भी तप है, इन्द्रिय-सयम भी तप है और आसन भो तप है। अन्तःकरण अथवा चित्तशोधन की क्रिया भी तप हैं और स्वाध्याय तथा विनय की अन्तरंग वृत्ति भी तप है। सेवा भी तप है। इस प्रकार तप का आयाम, जैन आगमो के अनुसार बहुत ही व्यापक है।

इन तपो में अनाहार अथवा अनशन तप का पहला प्रकार है और व्युत्सर्ग अन्तिम। दूसरे शब्दो में, तप का प्रारम्भ आहार के विसर्जन से होता है और अन्त देह अथवा शरीर के प्रति अहता तथा कषाय, संसार एवं कर्म के विसर्जन में होता है।

तप के भेद-प्रभेदो का विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र[1] मे किया गया है।

तप के प्रमुख भेद दो हैं—(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप।

बाह्य तप छह प्रकार का है—(१) अनशन (२) ऊनोदरी (अवमौदर्य) (३) भिक्षाचरी (वृत्तिपरिसख्यान) (४) रस-परित्याग (५) कायक्लेश और (६) विविक्त शयनासन (प्रतिसंलीनता)।[2]

आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।[3]

विभाजन के कारण

यद्यपि तप तो एक ही है और उसका लक्ष्य है—आत्म-शोधन, किन्तु प्रक्रियाओ के आधार पर ये बारह भेद किये गये हैं। साथ ही भाव बिना तप का आध्यात्मिक दृष्टि से कोई मूल्य नही है, सिर्फ कायाकष्ट अथवा दिखावा मात्र है, इनसे शारीरिक अथवा मानसिक लाभ तो हो सकते हैं किन्तु आत्मिक लाभ नही होता—और भाव का अभिप्रेत आत्मिक भाव हैं जो अन्तर् जगत की ही वस्तु है, फिर भी तप के आभ्यन्तर और बाह्य दो भेद किये गये हैं। इस विभाजन के समुचित कारण हैं। अनशन आदि छह तपो की परिगणना बाह्य तपों में की गयी है, उसके कारण है—

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र ३०/७-३६

२ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाबाह्य तप।
—तत्त्वार्थ सूत्र ६/१६

३ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। —तत्त्वार्थ सूत्र ६/२०

(१) बाह्य तप का प्रभाव शरीर पर अधिक पडता है।
(२) ये तप बाहर दिखाई देते है।
(३) इनका सम्बन्ध अशन, पान, आसन, आदि बाहरी द्रव्यो से होता है।
(४) साधारण व्यक्ति बाह्य तप को तप के रूप मे स्वीकार करता है।
(५) ये बाह्य तप मुक्ति के बहिरग कारण बन सकते है।

बाह्य तप भी निरर्थक नहीं

यह सत्य है कि जैन तपोयोग की आधारभूमि आध्यात्मिक है। बाह्य तपों का प्रमुख सम्बन्ध बाहरी द्रव्यो से होता है, वे बाहर दिखाई देते है; किन्तु इसका यह अर्थ समझना भूल होगी कि आध्यात्मिक विकास मे इनका कोई स्थान ही नही है। साधक के जीवन में इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कोई व्यक्ति घी को पिघलाना चाहता है, तो वह किसी बर्तन मे रख कर ही घी को पिघला सकता है। यदि वह सीधा आग में घी को डाल देगा तो घी जल जायगा, आग भी लग सकती है।

घी को शुद्ध करने मे, पिघलाने मे, उसके मैल को दूर करने मे जो महत्त्व बर्तन का है, बर्तन को गरम करने का है; वही महत्त्व साधक को आत्मशुद्धि में बाह्य तप का है। जिस प्रकार मुक्ति की साधना औदारिक अथवा स्थूल शरीर से ही की जा सकती है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तपो की साधना भी बाह्य तपों की साधना से की जा सकती है। बाह्य तप, आभ्यन्तर तपो में सहायक हैं, आधारभूमिका हैं। अतः आध्यात्मिक साधना में इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही यह भी सत्य है कि बाह्य तपोसाधना से साधक को अनेक प्रकार के शारीरिक एव मानसिक लाभ होते है।

बाह्य तप के लाभ

आचार्य शिवकोटि ने मूलाराधना[1] मे बाह्य तप के कई लाभ बताये हैं, उनमे से प्रमुख है—

(१) काय की सलेखना होती है।
(२) आत्मा में सवेग जागता है।
(३) इन्द्रियों का दमन होता है।
(४) विषयो के प्रति आसक्ति घटती है।

---

१ मूलाराधना ३/२३७-२४४

(५) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिरता आती है।

(६) तृष्णा का क्षय होता है।

(७) आत्म-शक्ति बढती है।

(८) कष्टसहिष्णुता का अभ्यास होता है।

(९) देह, पदार्थ और सांसारिक सुखो के प्रति (भेदविज्ञान द्वारा) आसक्ति क्षीण होती है।

(१०) क्रोध आदि कषायो का निग्रह होता है।

(११) निद्रा विजय होती है।

(१२) प्रमाद और आलस्य पर विजय प्राप्त होती है।

(१३) मानसिक और शारीरिक लाघव (हल्कापन) सिद्ध होता है।

(१४) सन्तोष का भाव हृदय मे दृढ होता है।

(१५) समत्व की साधना होती है।

(१६) समाधियोग का स्पर्श होता है !....आदि....आदि

इस प्रकार बाह्य तपो का शरीर, मन और वृत्तियो पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। शरीर स्वस्थ एव नीरोग रहता है, उसमें चुस्ती तथा फुर्ती आती है, मानसिक शक्तियो मे भी वृद्धि होती है।

योग के प्रसग में तप का वर्णन इसलिए प्रासगिक ही नही अत्यावश्यक है कि 'तप' योग की ही व्यवस्थित, क्रमिक और अध्यात्ममूलक प्रक्रिया है। तपस्वी एवं योगी की भूमिका लगभग समान है। 'तप' सधने पर ही योग की योग्यता प्राप्त होती है।

बाह्य तप

(१) अनशन तप : आत्म-आवरणों का शोधन

अनशन, तपोयोग की साधना का प्रथम चरण है। अशन कहते है आहार को और अनशन का अभिप्राय है आहार का त्याग, आहार का विसर्जन। तपोयोगी सर्वप्रथम, साधना के प्रथम चरण मे आहार का त्याग करता है।

अनाहार का दूसरा नाम है उपवास। उपवास का अध्यात्मपरक अभिप्राय है—आत्मा के समीप रहना। तपोयोगी साधक आहार का त्याग करके, भोजन सम्बन्धी क्रियाओ को छोड़कर सारा समय आत्म-चिन्तन-मनन में व्यतीत करता है।

उपवास से साधक को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से भी बहुत लाभ होते हैं।

आयुर्वेद में उपवास को लघन कहा गया है, और लंघन को पर-मौषधि—'लघनं परमौषधम्' बताया गया है।

अनशन तप से शरीर की शुद्धि होती है, रक्त सचार ठीक होता है और पाचन क्रिया तेज होती है। परिणामस्वरूप उदर सम्बन्धी रोगो का उपशमन होता है। गैस, अग्निमन्दता, आदि रोग नही हो पाते। उपवास से पाचन तन्त्र को अवकाश मिलता है, इस अवकाश में वह पिछले अपचे हुए अन्न को पचा लेता है, अतः कब्ज नही हो पाता है और पेट मे जमा पुराना मल भी साफ हो जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा का तो मूल आधार ही उपवास है। शरीर और विशेष रूप से उदर का आन्तरिक भाग रबड़ जैसा लचीला है। भोजन से उदर की आतें आदि फैल जाती हैं और उपवास से वे अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाती है। उपवास से फोड़ा-फुन्सी आदि जल्दी ठीक होते है; क्योकि उपवास-काल में शरीर दूषित पदार्थों को बाहर निकाल देता है।

उपवास द्वारा रक्त के लाल कण (Red Corpsules) बढ जाते है, अतः रक्ताल्पता नही हो पाती। शरीर की अम्लता (acidity) को समाप्त करने में भी उपवास लाभप्रद होता है।

अतः डाक्टर फेलिक्स, एल.आसवाल्ड के शब्दो में—शरीर की आन्त-रिक सफाई का सर्वोत्तम तरीका उपवास है।

शारीरिक लाभो के अतिरिक्त उपवास से मानसिक लाभ भी बहुत होते है। सिर-दर्द, दिमाग का भारीपन आदि मिट जाते है। मस्तिष्क अधिक सक्रिय होता है और उसकी विचार-शक्ति बढ जाती है, नई-नई स्फुरणाएँ उत्पन्न होती है।

इन सब बातो का परिणाम यह होता है कि तपोयोगी साधक, अन-शन तप के फलस्वरूप मानसिक और शारीरिक रूप से योग साधना के लिए अधिक सक्षम हो जाता है, वह आगे के तपो की साधना सरलता से कर सकता है; क्योकि अनशन तप के आचरण से उसमे 'क्षुधाविजय' भूख को सहने की अद्भुत क्षमता आ जाती है। भूख को जीतने वाला सब को ही जीत सकता है और उससे तपःसाधना की आधारभूमि तैयार हो जाती है।

अत. अनशन तप तपोयोग की आधार-भूमि है।

अनशन तप के भेद-प्रभेद

आगमो[1] मे काल की दृष्टि से अनशन तप के दो भेद किये गये हैं—

(१) **इत्वरिक**—एक निश्चित काल सीमा तक आहार का त्याग, यह एक दिन के उपवास से लेकर छह मास तक का हो सकता है।

(२) **यावत्कथिक**—जीवन भर के लिए आहार का त्याग।

उत्तराध्ययन[2] सूत्र मे इत्वरिक तप को सावकांक्ष और यावत्कथिक तप को निरवकाक्ष कहा गया है। इसका कारण यह है कि इत्वरिक तप मे साधक को काल की निश्चित सीमा के उपरान्त आहार की आकांक्षा इच्छा रहती है और यावत्कथिक मे भोजन की इच्छा का ही नाश हो जाता है।

इत्वरिक तप के सक्षेप मे छह प्रकार है—(१) श्रेणी तप (२) प्रतर तप (३) घन तप (४) वर्ग तप (५) वर्ग-वर्ग तप और (६) प्रकीर्णक तप।

श्रेणी तप—चतुर्थभक्त (उपवास), षष्ठ तप (बेला), अष्ट तप (तेला) चौला, पंचोला, इस प्रकार बढते-बढते अष्टान्हिका, पक्षोपवास, मासोपवास, दो मास का उपवास, तीन मास का उपवास यावत् छह मास का उपवास—इस प्रकार का तप श्रेणी तप कहलाता है।

प्रतर तप—क्रमशः १, २, ३, ४, २, ३, ४, १, ३, ४, १, २, ४, १, २, ३, इत्यादि अंको के अनुसार तप करना, प्रतर तप है।

घन तप—किसी भी घन के कोष्ठो, यथा ८×८=६४ कोष्ठको में आने वाले अको के अनुसार तप करना, घन तप है।

वर्ग तप—६४×६४=४०९६ कोष्ठको में आने वाले अको के अनुसार तप करना वर्ग तप है।

वग-वर्गतप—४०९६×४०९६=१६७७२१६ कोष्ठको मे आने वाले अको के अनुसार तप करना वर्ग-वर्ग तप है।

प्रकीर्णक तप—इसके अनेक भेद है, यथा—कनकावली, मुक्तावली, एकावली, बृहत्सिंह क्रीडित, लघुसिंह क्रीडित, गुणरत्न सवत्सर, वज्रमध्य प्रतिमा, यवमध्य प्रतिमा, सर्वतोभद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा, भद्र प्रतिमा, आयबिल वर्द्धमान इत्यादि तप प्रकीर्णक तप कहलाते हैं।

---

१ भगवती २५/७

२ उत्तराध्ययन ३०/९

वैसे प्रकीर्णक तप के अन्तर्गत—(१) नवकारसी, (२) पौरसी, (३) पूर्वार्द्ध, (४) एकासन (५) एक स्थान (एकल ठाणा), (६) आयबिल (७) दिवस चरिम (८) रात्रि भोजन त्याग, (९) अभिग्रह, (१०) चतुर्थभक्त उपवास—इन दस तपों की गणना प्रमुख रूप से होती है।

अनशन तप का द्वितीय भेद **यावत्कथिक** है। इस तप में जीवन भर के लिए आहार का त्याग करके संथारा किया जाता है। इसमें धीरे-धीरे काया को क्षीण किया जाता है और साथ ही साथ कषायो को भी क्षीण किया जाता है। यह अन्तिम समय की साधना है। इसके बाद फिर कोई साधना शेष नही रहती।

तपोयोगी साधक अनशन तप के द्वारा शरीर और मन की शुद्धि करता है तथा आहार के विषय में अपनी आसक्ति कम करता है। वह आहार के त्याग के साथ ही साथ अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करता है।

इस प्रकार अनशन तप तपोयोगी साधक के लिए साधना की आधार-भूमि तैयार करता है।

(२) ऊनोदरी तप : इच्छा नियमन साधना

ऊनोदरी का अर्थ (ऊन=कम, उदर=पेट) भूख से कम खाना होता है। आगम साहित्य में ऊनोदरी के 'अवमौदरिका' एवं 'अवमौदर्य' ये दो नाम और मिलते हैं। शब्दभेद होने पर भी इनके अर्थ मे कोई अन्तर नही है।

स्थानांग[1] सूत्र में ऊनोदरी तप के तीन प्रकार बताये है—(१) उपकरण अवमौदरिका (२) भक्त-पान अवमौदरिका और (३) भाव (कषाय-त्याग) अवमौदरिका।

भगवती[2] में द्रव्य उनोदरी और भाव ऊनोदरी—ये दो भेद किये गये है।

उत्तराध्ययन[3] में ऊनोदरी के पाँच प्रकार बताये गये है—(१) **द्रव्य ऊनोदरी**—आहार की मात्रा भूख से कम लेना, इसी प्रकार वस्त्र आदि भी आवश्यकता से कम लेना। (२) **क्षेत्र ऊनोदरी**—भिक्षा के लिए स्थान निश्चित करके वही से भिक्षा लेना (३) **काल ऊनोदरी**—भिक्षा के लिए समय निश्चित

---

१ स्थानांग ३/३/१८२

२ ओमोयरिया दुविहा—दव्वमोयरिया य भावमोयरिया। —भगवती सूत्र

३ उत्तराध्ययन ३०/१०-११

करके उसी समय भिक्षा ग्रहण करना। (४) भाव ऊनोदरी—अभिग्रह लेकर भिक्षा के लिए जाना (५) पर्याय ऊनोदरी—उक्त चारो प्रकार की ऊनोदरी को क्रिया रूप मे परिणत करना।

उत्तराध्ययन मे वर्णित ऊनोदरी के ये पांचो भेद श्रमण की अपेक्षा से हैं।

वैसे तपोयोग की अपेक्षा से ऊनोदरी के प्रमुख भेद दो ही है—(१) द्रव्य ऊनोदरी और (२) भाव ऊनोदरी।

द्रव्य ऊनोदरी मे तपोयोगी साधक आहार-वस्त्र-उपकरण (सामग्री) आदि को कम करता है और भाव ऊनोदरी मे कषाय, राग-द्वेष, योगो की चपलता आदि को कम करता है, वचन की भी ऊनोदरी करता है यानी कम बोलता है। अल्पभोजन की तरह अल्पभाषण भी ऊनोदरी तप है।

तयोयोग की दृष्टि से ऊनोदरी, अनशन की अपेक्षा कठिन तप है। इसे वही साधक कर सकता है जिसका अपने मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण हो। भूखा रह जाना तो सरल है; किन्तु जिस समय षट्रस व्यजनो का थाल सामने रखा हो, पेट में भूख भी हो, मनुष्य खा भी रहा हो, 'और लीजिए' 'और लीजिए' की मनुहार भी हो रही हो, ऐसी स्थिति मे भूख से कम खाना—ऊनोदरी करना उसी व्यक्ति के लिए संभव है, जिसका अपने मन और इच्छाओ पर नियन्त्रण हो। यही स्थिति वस्त्र आदि के बारे में है।

कषायो और राग-द्वेष के वेग को कम करना तो और भी कठिन है। अन्दर से क्रोध उबलने को फटा पड रहा है, बाहर क्रोध को भडकाने वाले निमित्त भी हो फिर भी उस आवेग को दबाना, कम करना—बहुत ही कठिन कार्य है। इससे भी कठिन कार्य है लोभ को कम करना, सोने-चाँदी के अम्बार लगे हो, लाभ का अच्छा चास हो फिर भी अपनी आवश्यकता से कम लेना, कितना कठिन है।

अनशन मे तो सिर्फ पेट की भूख पर ही काबू किया जाता है, किन्तु ऊनोदरी मे मन के और कषायो के वेग पर भी नियंत्रण का अभ्यास किया जाता है, उन्हे कम किया जाता है।

तपोयोगी साधक अपनी साधना के बल पर इस कठिन कार्य को भी सरल बना लेता है और सफलतापूर्वक ऊनोदरी तप की साधना करता है।

द्रव्य-भाव ऊनोदरी तप की साधना से तपोयोगी साधक का प्रमाद कम हो जाता है, उसका आलस्य मिट जाता है तथा स्मृति, धृति, बुद्धि, सहिष्णुता, धैर्य आदि मानसिक शक्तियाँ बढती हैं।

(३) भिक्षाचरी तप : वृत्ति-सकुचन की साधना

श्रमण के लिए भिक्षा एक तप है और सामान्य भिक्षुक के लिए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन। भिक्षा और भिक्षाचरी तप में महान अन्तर है।

सामान्य भिक्षुक दीनवृत्ति से भिक्षा माँगता है, न मिलने पर रुष्ट होता है, दाता को कटुवचन भी कह देता है, चित्त में खेद करता है और यदि अच्छे पदार्थ मिल जायें तो हर्षित होता है, दाता की प्रशसा करता है, उसको दुआएँ देता है। उसकी भिक्षा पौरुषघ्नी (पुरुषार्थ का नाश करके अकर्मण्य और आलसी बनाने वाली) होती है। जबकि श्रमण अदीनभाव से अपनी मर्यादा और अभिग्रह के अनुकूल भिक्षा ग्रहण करता है, अस्वादिष्ट पदार्थ मिलने पर रुष्ट नही होता है और अच्छे पदार्थ मिलने पर तुष्ट नही होता, न मिलने पर खेद नही करता और मिल जाने पर हर्षित नही होता—दोनो ही स्थितियों में समभाव रखता है। इसीलिए श्रमण का भिक्षा ग्रहण करना तप है और उसकी भिक्षा 'सर्वसम्पत्करी' है। वह दाता के लिए भी कल्याणकारी है और श्रमण भी अपने शरीर को भोजन के रूप में भाडा देकर अपना कल्याण करता है।

श्रमण की भिक्षाचर्या को आचारांग,[1] उत्तराध्ययन,[2] आदि आगमो में 'गोयरग्ग' (गोचराग्र—गोचरी) भी कहा गया है। गोचरी का अभिप्राय है कि जिस प्रकार गो (गाय) घास को जड़ से नही उखाड़ती, एक ही स्थान को घास से बिल्लकुल साफ नही करती, अपितु चरती हुई खेत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच जाती है, और इस प्रकार अपनी क्षुधा-तृप्ति कर लेती है उसी प्रकार श्रमण भी अनेक घरो से थोड़ी-थोडी भिक्षा ग्रहण करता है, किसी एक गृहस्थ पर बोझ नही बनता।

दशवैकालिक[3] सूत्र मे भिक्षाचरी को माधुकरी वृत्ति भी कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मधुकर (भौंरा) अनेक फूलो से थोड़ा-थोडा रस लेता है, उसी प्रकार श्रमण भी थोड़ी-थोड़ो भिक्षा अनेक घरो से ग्रहण करता है तथा जिस प्रकार भौंरे के रस ग्रहण करने से पुष्प और भी महकते हैं (क्योकि भ्रमर पुष्प के अतिरिक्त रस को ही चूसता है) उसी प्रकार

---

१ आचारांग २/१

२ उत्तराध्ययन ३०/२५

३ दशवैकालिक सूत्र १/५—महुकार समा वुद्धा।

साधु के भिक्षा ग्रहण करने से दाता को लौकिक और पारलौकिक लाभ मिलते है।

तत्त्वार्थसूत्र[1] आदि कई ग्रन्थो में भिक्षाचरी के लिए वृत्तिपरिसंख्यान अथवा वृत्तिसक्षेप शब्द भी प्राप्त होता है।

यद्यपि भिक्षाचरी, गोचरी, माधुकरी वृत्ति और वृत्ति-संक्षेप—इन सभी का भाव समान है किन्तु योग की अपेक्षा से वृत्तिसक्षेप शब्द अधिक उपयुक्त है। क्योकि वृत्तिसंक्षेप शब्द की मूल ध्वनि है—वृत्तियो का, मन-वचन-काय और चित्त की वृत्तियो तथा कषाय आदि विभावो का सक्षेपीकरण, उनका जो फैलाव है, विस्तार है उसे समेटना, कम करना, सीमित दायरे मे ले आना, उनका संकुचन करना।

यह संकुचन गृहत्यागी श्रमण भिक्षाचरी (अपनी अनिवार्य आवश्यकताओ के साधनो को गृहस्थ श्रावक से प्राप्त करते समय) द्वारा अपनी मर्यादा और अनेक प्रकार के अभिग्रहो से करता है तथा गृहस्थ साधक (योगी) चौदह नियमो[2] को प्रतिदिन ग्रहण करके करता है। दोनो ही अपनी-अपनी मर्यादा, सीमा, योग्यता, क्षमता और पद के अनुकूल अपनी वृत्तियों का सक्षेपीकरण अथवा संकुचन करते है।

तपोयोग की साधना में वृत्तियो के संक्षेपीकरण का बहुत महत्त्व है। इससे साधक अपनी असीमित इच्छाओ तथा वृत्तियो और अनिवार्य आवश्यकताओ को सीमित कर लेता है। मन-वचन-काय की वृत्ति-प्रवृत्तियाँ सीमित होने से उसका सिन्धु के समान सावद्ययोग (पाप) बिन्दु के समान रह जाता है।

इस प्रकार वृत्तिसंक्षेप तप की साधना करके तपोयोगी त्याग की दृढ़ भूमिका अपने मन-मानस मे तैयार करता है।

(४) रस-परित्याग तप : अस्वादवृत्ति की साधना

किसी भी इन्द्रिय के विषय की ओर मन के राग भाव का न जोडना तप है। तपोयोगी रस-परित्याग तप का आचरण करता हुआ जिह्वा अथवा रसना इन्द्रिय के रस—स्वाद के प्रति अनासक्त भाव रखता है, सरस-स्वादिष्ट भोजन की प्राप्ति की इच्छा भी नही करता। जहाँ तक सम्भव हो सकता है वह ऐसा आहार ग्रहण नही करता।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ९/१९

२ उवासगदसाओ, पढम अज्झयण

रस दीप्तिकारक अर्थात् मन में उत्तेजना उत्पन्न करने वाले[1], विकृति बढ़ाने वाले होते है, अतः सरस आहार को विकृति भी कहा गया है।[2] शास्त्रों में ६ विकृतियाँ बताई गई है—(१) दूध, (२) दही, (३) नवनीत, (४) घृत, (५) तेल, (६) गुड़, (७) मधु, (८) मद्य और (९) मांस।[3] इनमें से अन्तिम तीन तो महाविकृतियाँ है, जिन्हें साधक ग्रहण करता ही नही। शेष छह विकृतियो का प्रयोग भी बड़ी सावधानी से करता है।

रसना इन्द्रिय का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मचर्य की साधना से है। रस-लोलुपी कभी भी ब्रह्मचर्य की साधना कर ही नही सकता, यहाँ तक कि वह अन्य सभी इन्द्रियों को भी वश में नही रख सकता। इसीलिए रस-परित्याग को तपो में स्थान दिया गया है और इससे सर्वेन्द्रिय संयम अपेक्षित है।

तपोयोगी साधक रस-परित्याग द्वारा अपनी सभी इन्द्रियों और मन को वश में रखने की साधना करता है, वह अपने मन में विकारी भावना नही आने देता।

भगवान महावीर ने रस-परित्याग तप की दो भूमिकाएँ बताई हैं—(१) रस को ग्रहण ही न करना और (२) ग्रहीत रस पर राग-भाव न करना।[3]

वस्तुतः साधक की रसो के प्रति गृद्धि और लोलुपता उसकी साधना में विघ्न बन जाती है, वह ध्यान और स्वाध्याय में अपना चित्त स्थिर नही कर पाता। रस की ओर उसका चित्त दौड़ता रहता है, रसपूर्ण आहार प्राप्त होने पर उसे हर्ष तथा रूक्ष आहार मिलने पर खेद होता है अतः उसका समताभाव खण्डित हो जाता है। इन्द्रिय-विषयों के प्रति उसका ममत्व-भाव हो जाता है।

रस-परित्याग तप की साधना का लक्ष्य भोजन में अस्वाद वृत्ति एवं अनासक्त भाव है। इस साधना से साधक को वैराग्य की दृढ़ता, सन्तोष की भावना और ब्रह्मचर्य की आराधना—ये तीन उपलब्धियाँ होती है।

इसीलिए रस-परित्याग की साधना करने वाला तपोयोगी साधक आहार करता हुआ भी अस्वादवृत्ति की साधना करता है।

---

१ पाय रसा दित्तिकरा नराण। —उत्तराध्ययन सूत्र ३२/१०

२ स्थानाग ९/६७४

३ जिब्भिन्दिय विसयप्पयार निरोहो वा, जिब्भिन्दिय विसयपत्तेसु अट्ठेसु राग-दोसनिग्गहो वा। —औपपातिक सूत्र, समवसरण प्रकरण

(५) कायक्लेश तप : काय-योग की साधना

यद्यपि 'कायक्लेश' शब्द का शाब्दिक अर्थ काया (शरीर) को कष्ट देना या शरीर से कष्ट सहना है किन्तु तपोयोग की अपेक्षा से इसका अर्थ है देह का ममत्व त्याग देना, निर्ममत्व भाव रखना तथा आसन आदि के अभ्यास द्वारा शरीर को साध लेना।

विभिन्न प्रकार के आसनो के अभ्यास से तपोयोगी अपने शरीर को इतना साध लेता है कि वह सर्दी-गर्मी के द्वन्दो को सहने मे सक्षम बन जाता है[1] तथा शारीरिक सुखो के प्रति उसमे आकांक्षा नही रहती।[2]

जैन आगमो[3] में तथा आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र[4] में काय-क्लेश तप के अन्तर्गत अनेक आसनो का वर्णन किया गया है जिनके द्वारा तपोयोगी साधक अपने शरीर को चचलतारहित, स्थिर और निश्चल बनाता है। उनमे से प्रमुख है—(१) कायोत्सर्गासन, (२) उत्कटिकासन, (३) पद्मासन, (४) वीरासन, (५) दण्डासन, (६) लगुडासन, (७) गोदोहिकासन, (८) पर्यंकासन, (९) वज्रासन आदि-आदि।

(१) **कायोत्सर्गासन**—सीधा तनकर दोनो एडियो को परस्पर मिलाकर अथवा चार अंगुल का अन्तर रखकर खड़ा होना। इसका दूसरा नाम खड्गासन भी है।

---

१ यहाँ पातजल योगसूत्र वर्णित अष्टाग योग के तृतीय अग 'आसन' का समावेश हो जाता है। देखिए—

स्थिर सुखमासनम्। ततो द्वन्द्वानभिघात:। —योगसूत्र २/४६,४७

निश्चलतापूर्वक बैठना आसन है। आसन की सिद्धि से सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वो का आघात नही लगता।

सार यह है कि कायक्लेश तप के अन्तर्गत 'आसन-जय' की साधना पूर्ण हो जाती है।

२ शरीरदु:खसहनार्थं शरीरसुखानभिवाछार्थं।

—तत्त्वार्थसूत्र ९/१९ श्रुतसागरीया वृत्ति

३ विभिन्न आसनो के आगमिक सन्दर्भ के लिए इसी पुस्तक के सिद्धान्त खण्ड मे 'जैन योग का स्वरूप' नामक अध्याय का 'जैन आगमो मे आसन' शीर्षक देखिए।'

४ हेमचन्द्राचार्य—योगशास्त्र ४/१२४-१३४

(२) उत्कटिकासन—इस प्रकार बैठना जिसमें दोनो पैरों की एड़ियाँ नितम्बों से लगी रहें।

(३) पद्मासन—बाँई जाँघ पर दायाँ पैर और दाईं जाँघ पर बाँया पैर रखकर और हथेलियों को एक-दूसरी पर रखकर नाभि के नीचे रखना।

(४) वीरासन—इसके दो प्रकार है—(१) बाँया पैर दाहिनी जाँघ पर और दायाँ पैर बाँई जाँघ पर रखकर बैठना; और (२) कोई व्यक्ति जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो और उसके नीचे से सिंहासन निकाल लिया जाय तब जो उसकी मुद्रा बनती है, वह वीरासन है।

(५) दण्डासन—जमीन पर सीधे इस प्रकार लेटना जिससे अँगुलियाँ, घुटने और पाँव जमीन से लगे रहें।

(६) लगुडासन—वक्र काष्ठ के समान भूमि पर लेटना।

(७) गोदोहिकासन—गाय दुहने की स्थिति में बैठना।

(८) पर्यंकासन—दोनों जंघाओं के निचले भाग पैरों के ऊपर रखने पर तथा दाहिना और बाँया हाथ नाभि के पास ऊपर दक्षिण और उत्तर रखने से पर्यंकासन होता है।

(९) वज्रासन—वज्र की आकृति के समान दोनो हाथ पीछे रखकर, दोनों हाथो से पैरो के अँगूठे पकड़ने पर जो आकृति बनती है वह वज्रासन है।

विभिन्न आसनो के अतिरिक्त औपपातिक सूत्र में मासिक प्रतिमाएँ आदि स्वीकार करना, सूर्य आदि की आतापना लेना, देह को कपड़े आदि से न ढँकना, खुजली चलने पर भी देह को न खुजलाना, थूक आने पर भी नही थूकना, देह के सभी संस्कार, सज्जा, विभूषा आदि न करना भी कायक्लेश तप के प्रकारो मे गिनाये गये हैं।[1]

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के आसनों तथा शारीरिक साधनाओं द्वारा तपोयोगी अपने स्थूल शरीर को साधता है।

कायक्लेश तप में तपोयोगी दो प्रकार के कष्ट सहन करता है—(१) प्राकृतिक; और (२) स्वेच्छा से ग्रहण किये हुए।

सर्दी-गर्मी आदि के कष्ट तो प्राकृतिक हैं, और आसन, केशलोच, आतापना आदि के कष्ट स्वेच्छा से स्वीकृत हैं।

---

१. औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०

ये दोनों प्रकार के कष्ट सामान्य मनुष्य को तो कष्टकर और दुःसह प्रतीत होते हैं किन्तु तपोयोगी साधक अपने शरीर को इतना साध लेता है कि ये कष्ट उसे पीडित नही करते। उसकी क्षमता इतनी विकसित हो जाती है कि वह इन कष्टो से प्रभावित भी नहीं होता, न उसको शारीरिक और मानसिक तनाव ही आता है और न पीड़ा की अनुभूति ही होती है।

(लेकिन विचारणीय तथ्य यह है कि क्या स्थूल (औदारिक) शरीर को साधने से ही तपोयोगी साधक की क्षमता विकसित हो जाती है कि उसे कष्टों की, पीडा की अनुभूति ही न हो; क्योकि अनुभूति तो स्थूल शरीर को होती ही नही, यह तो माध्यम है; अनुभूति तो तैजस् और प्राणमय शरीर के माध्यम से आत्मा ही करता है। अत: यह मानना अधिक उचित होगा कि तपोयोगी साधक स्थूल शरीर के साथ-साथ तैजस शरीर को भी साधता है। और तैजस अथवा प्राणमय शरीर को साधने का माध्यम है प्राण। वह प्राणायाम की साधना द्वारा ही तैजस शरीर को साधता है, उसे कष्टसहिष्ण बनाता है, जिससे कि वह (तैजस शरीर) कष्ट की अनुभूतियो से प्रभावित न हो और उन कष्टप्रद अनुभूतियो को आत्मा तक न पहुँचावे। इसीलिए तपोयोगी साधक प्राणायाम की साधना करता है।)

आचार्य हेमचन्द्र[1] ने प्राणायाम को मनोविजय का साधन और आचार्य शुभचन्द्र[2] ने इसे ध्यान की सिद्धि तथा मन को एकाग्र करने के लिए आवश्यक बताया है तथा इसकी फलश्रुति मे कहा गया है यह शरीर (स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीर) की शुद्धि करता है।[3]

प्राण श्वास-प्रश्वास की गति, उसका आयाम-विच्छेद-अवरोध करना प्राणायाम है।[4] प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँच प्रकार की वायुओ पर विजय प्राप्त करना, यह प्राणायाम है।[5] प्राणायाम के रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन भेद हैं—नाभि प्रदेश में स्थित वायु को नासिका-रन्ध्र से बाहर निकालना रेचक; बाहर के वायु को बलपूर्वक नासारन्ध्र से

१ योगशास्त्र ५/१

२ ज्ञानार्णव २९/१-२

३ योगशास्त्र ५/३२-३५

४ (क) तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद. प्राणायाम.। —पातंजल योगसूत्र २/४९
(ख) योगशास्त्र ५/४

५ योगशास्त्र ५/१३-४१

भीतर खीचना पूरक; और आकृष्ट वायु को बलपूर्वक शरीर के अन्दर किसी भी विशिष्ट स्थान पर रोकना कुम्भक है ।[1]

जैन विचारणा मे प्रत्येक क्रिया पर द्रव्य और भाव दोनो दृष्टियो से विचार किया गया है और द्रव्य की अपेक्षा भाव को अधिक महत्त्व दिया है; तथा अध्यात्ममूलक तपोयोग मे भाव का स्थान भी विशेष है। भाव या अध्यात्मपरक दृष्टि से बाह्य भाव का त्याग—रेचक, अन्तर्भाव की पूर्णता—पूरक; और समभाव में स्थिरता—कुम्भक है ।

इस प्रकार आसन और प्राणायाम के अभ्यास से तपोयोगी साधक अपने शरीर (स्थूल और सूक्ष्म) को साध लेता है। इस तप की साधना से साधक को विभिन्न प्रकार के लाभ होते है। उनमे से कुछ प्रमुख लाभ हैं—

(१) शारीरिक ताजगी और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।
(२) कष्टसहिष्णुता और सहनशक्ति बढती है।
(३) मांसपेशियों में लचीलापन आता है।
(४) रक्त संचालन यथोचित सीमा मे रहता है; न कम, न ज्यादा।
(५) हड्डियो में लचीलापन रहता है।
(६) थकान की अनुभूति कम होती है।
(७) शारीरिक और मानसिक क्षमता में वृद्धि होती है।
(८) शरीर की गन्दगी साफ हो जाती है।
(९) श्वास क्रिया पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है। आदि-आदि....

संक्षेप मे तपोयोगी कायक्लेश तप की साधना से काययोग पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेता है।

(६) प्रतिसंलीनता तप : अन्तर्मुखी बनने की साधना

संलीनता का अर्थ है—पूर्ण रूप से लीन होना और प्रति—किसी का वाच्य शब्द है। किसके प्रतिसंलीनता ? आत्मा के प्रतिसंलीनता। प्रतिसंलीनता शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया भी जा सकता है—प्रति—विपरीत, संलीनता—भली प्रकार लीन होना अर्थात् अब तक जो इन्द्रिय, योग बाह्य प्रवृत्तियो में लीन थे, उनकी वृत्ति को विपरीत करके, मोडकर अन्तर्मुख बनाना, आत्माभिमुख करना, आत्मा में लगाना। योगदर्शन मे जो आशय 'प्रत्याहार' से व्यक्त किया गया है, वही अभिप्राय प्रतिसलीनता से प्रकट होता है।

---

१ यहाँ कायक्लेश तप मे ही अष्टाग योग के चौथे अंग प्राणायाम का समावेश हो जाता है।

अतः प्रतिसंलीनता तप का वाच्यार्थ हुआ—आत्म-रमणता, आत्माभिमुख होना, अन्तर्मुखी बनना, आत्मा में पूर्ण रूप से लीन होना।

तपोयोगी साधक इस तप की साधना द्वारा अपनी वृत्ति-प्रवृत्तियो को अन्तर्मुखी बनाकर आत्माभिमुख होता है।

भगवती[1] और औपपातिक सूत्र में इसे प्रतिसलीनता कहा है तथा उत्तराध्ययन[2] और तत्वार्थसूत्र[3] मे इसे विविक्तशय्यासन कहा गया है। अनेक ग्रन्थो मे इसका नाम संलोनता, प्रतिसंलीनता और विविक्त शय्या—विविक्त शय्यासन मिलता है। किन्तु ये सभी नाम एकार्थवाची है, एक ही भाव को प्रगट करते है।

भगवती[4] मे प्रतिसंलीनता तप के चार भेद बताये है—

(१) इन्द्रिय-प्रतिसलीनता[5]
(२) कषाय-प्रतिसलीनता
(३) योग-प्रतिसलीनता
(४) विविक्त-शयनासन सेवना

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप की साधना

इन्द्रियाँ ५ हैं और उनके विषय २३ है। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। चक्षु-इन्द्रिय का विषय है रूप—यह रूपवान दृश्य और पदार्थों को देखती है। घ्राण इन्द्रिय सुगन्ध-दुर्गन्ध को ग्रहण करती है। रसना इन्द्रिय रसो का आस्वादन करती है। स्पर्श इन्द्रिय शोत-उष्ण, मृदु-कठोर आदि विभिन्न प्रकार के स्पर्शों का ज्ञान करती है।

अनादिकालीन सस्कारो के कारण ये इन्द्रियाँ ससाराभिमुखी होकर अपने-अपने विषयो की ओर दौड़ रही है। इनकी प्रमुख प्रवृत्ति बाह्याभिमुखी है, विषयो मे सुख लेने की है।

इन्द्रिय-प्रतिसलीनता तप की आराधना करता हुआ तपोयोगी साधक

---

१ भगवती २५/८०२

२ उत्तराध्ययन ३०/२८

३ तत्वार्थ सूत्र ६/१६

४ (क) भगवती २५/७
(ख) औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०

५ औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०

इन्हें इनके विषयों की ओर जाने से रोककर बाह्याभिमुखी से अन्तर्मुखी बनाता है, आत्मा की ओर मोडता है।

ऐसा वह दो प्रकार से कर सकता है—

(१) इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किये हुए विषयों में राग-द्वेष न करे, उनमें मन को न जोडे।

(२) इन्द्रिय-विषयो को ग्रहण ही न करे।

इनमें से प्रथम भूमिका प्रवृत्ति की है और द्वितीय भूमिका निवृत्ति की है।

जिस समय तपोयोगी साधक प्रवृत्ति करता है, उस समय यह सम्भव ही नही कि उसे कर्णकटु और कर्णप्रिय शब्द सुनाई ही न पड़ें, सुन्दर-असुन्दर दृश्य दिखाई ही न दें, सुगन्ध या दुर्गन्ध का अनुभव ही न हो, अथवा शीतलता-कठोरता का स्पर्श ही न हो। सक्षेप में सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो को ग्रहण करती ही हैं। किन्तु तपोयोगी साधक उनमें हर्ष-विषाद नही करता, राग-द्वेषात्मक वृत्तियो को नही जोडता, इन द्वन्द्वात्मक स्थितियों में—इन्द्रिय-विषयों मे सम और उदासीन रहता है।

दूसरी स्थिति निवृत्ति की है, चित्त की एकाग्रता की है। यह ऊँची स्थिति है। जब साधक का चित्त एकाग्र हो जाता है तो वह इन्द्रिय-विषयो को ग्रहण ही नही करता। वह सुनकर भी नही सुनता, देखकर भी नही देखता,—इसी प्रकार पाँचो इन्द्रियो के विषयो को ग्रहण ही नही करता।

इस स्थिति में साधक अभ्यास के उपरान्त पहुँचता है, अथवा सतत अभ्यास से साधक को यह स्थिति प्राप्त होती है। इस स्थिति में उसकी इन्द्रियाँ अपने सम्बन्धो से असयुक्त होकर साधक के चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाती है और फिर उस योगी की इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं।[1]

जब तपोयोगी साधक इस स्थिति में पहुँच जाता है, इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो उसकी इन्द्रिय-प्रतिसलीनता तप की आराधना पूर्ण हो जाती है।

---

१ 'प्रतिसलीनता तप' के प्रथम विभाग 'इन्द्रिय-प्रतिसलीनता तप' में अष्टांग योग के पाँचवे अग 'प्रत्याहार' का अन्तर्भाव हो जाता है जैसा कि पातजल योगसूत्र के निम्न सूत्रो से प्रगट होता है—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार। तत परमावश्यतेन्द्रियाणां।

—पातंजल योगसूत्र २/५४-५५

कषाय प्रतिसंलीनता तप

कषाय चार है—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ। कषाय ही जन्म-मृत्यु रूप संसार-परिभ्रमण का मुख्य कारण हैं।[1] देशोनकोटि पूर्व तक महान साधना करके जो फल प्राप्त किया जाता है, वह सपूर्ण उपलब्ध फल अन्तर्मुहूर्त की कषाय द्वारा ही भस्म हो जाता है।[2]

कषाय अन्तर् की ज्वाला है, भीषण अग्नि है, आध्यात्मिक दोष है।[3] यह अग्नि ठडी भी है और गरम भी है। माया और लोभ की कषायाग्नि ठंडी है तथा क्रोध और मान की अग्नि गरम है, धधकती ज्वाला है। लेकिन ठंडी और गरम दोनो ही प्रकार की आग आत्मा को परितप्त करती है।

इसीलिए तपोयोगी साधक कषाय प्रतिसंलीनता तप की आराधना द्वारा कषायो पर विजय प्राप्त करता है।

कषायों को विजय करने अथवा कषाय-प्रतिसलीनता तप की आराधना के दो प्रकार है—

(१) कषायो के उदय (आते हुए आवेग) का निरोध करना; तथा
(२) उदय में आये हुए कषायो को विफल (व्यर्थ—असफल) कर देना।

कषाय-प्रतिसलीनता तप के कषायो के आधार पर चार भेद हैं[4]—

(१) क्रोध-कषाय प्रतिसंलीनता तप
(२) मान-कषाय प्रतिसंलीनता तप
(३) मायाकषाय प्रतिसलीनता तप
(४) लोभकषाय प्रतिसंलीनता तप

तपोयोगी साधक क्रोध कषाय पर उपशम भाव से, मान पर मृदुता से, माया पर ऋजुता से और लोभ कषाय पर संतोष भाव से विजय प्राप्त करता है।[5]

---

१ आचारांग निर्युक्ति १८९

२ ज अज्जियं चरित्त देसुणणए वि पुव्वकोडीए।
त पि कसायमेत्तो नासेइ नरो मुहुत्तेणं॥ —निशीथभाष्य २७९३

३ कोह च माणं च तहेव माय, लोभ चउत्थं अज्झत्थदोसा।
—सूत्रकृताग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कध, वीरस्तव छठा अध्ययन, गाथा २६

४ औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०

५ उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
माय चऽज्जवभावेण, लोभ सतोसिओ जिणे॥ —दशवैकालिक सूत्र ८/३८

इन सैद्धान्तिक उपायो के साथ-साथ तपोयोगी साधक कषायो पर विजय प्राप्त करने के कुछ व्यावहारिक साधन भी अपनाता है।

उदाहरणार्थ—जब क्रोध का वेग मन मे आता है तो वह तुरन्त अन्तर्मुखी बनकर उस वेग को तटस्थ द्रष्टा के रूप मे देखता है, उसकी प्रेक्षा करता है; किन्तु उसमे अपने आप को संयोजित नही करता। इस प्रकार क्रोध का वेग निर्बल होकर उपशांत हो जाता है। दूसरा उपाय साधक यह करता है कि क्रोध के स्वरूप तथा उसके कटु परिणामो पर चिन्तन करने लगता है। इससे भी क्रोध उपशान्त हो जाता है।

मान कषाय पर विजय प्राप्त करने के इच्छुक तपोयोगी को अनित्य और अशरण भावना का चिन्तन लाभकारी है।[1] साथ ही अपने अहं अथवा मान कषाय के आवेग के उपशमन के लिए अपने से ज्ञान, चारित्र आदि में उच्च व्यक्तियो का, जैसे पच परमेष्ठी का चिंतन करता है। इसके अतिरिक्त वह छोटे-बड़े का भेद भाव हृदय से दूर करके सबको समान मानता है, समत्व भाव का विचार करता है। इस प्रकार वह मान के वेग—मान कषाय पर विजय प्राप्त करता है।

माया कषाय के विजय के लिए तपोयोगी ऋजुता/ऋजुयोग की साधना करता है। हृदय की सरलता, निष्कपटता, निश्छलता से ही माया कषाय पर साधक विजय प्राप्त करता है।

लोभ कषाय की विजय के लिए साधक के पास सर्वोत्तम उपाय इच्छाओ का संयम और यथालाभ संतोष भाव है।

इन उपायों से तपोयोगी साधक कषायो के आवेग को रोक कर तथा उन आवेगो को विफल करके कषाय प्रतिसलीनता तप की आराधना करता है और आन्तरिक दोषो से मुक्त होकर मानसिक तथा शारीरिक शान्ति प्राप्त करता है।

योगप्रतिसंलीनता तप

मन, वचन और काया—ये तीनों प्रवृत्ति के निमित्त हैं अत. योग कहे गये हैं। अकुशल मन तथा वाणी का निरोध करना, मन और वचन की कुशल प्रवृत्ति; एवं काय तथा शरीर के विभिन्न अवयवों की कुचेष्टा तथा

---

१ इन भावनाओ पर विशद चिन्तन इसी पुस्तक के 'भावना योग साधना' नामक अध्याय मे किया जा चुका है। —संपादक

व्यर्थ चेष्टा का निरोध और हाथ-पैर आदि सभी अंग-उपांगों को सुस्थिर कर, कछुए के समान अपनी सभी इन्द्रियो को गुप्त करके सुसमाहित होना, निश्चल होना, योग प्रतिसंलीनता है।[1]

तपोयोगी साधक के लिए योग प्रतिसंलीनता तप की कुछ भूमिकाएँ हैं।

मनोयोग प्रतिसंलीनता तप की—(१) अकुशल मन का निरोध, (२) कुशल मन की प्रवृत्ति, और (३) मन की एकाग्रता—ये तीन भूमिकाएँ हैं।

इसी प्रकार वचनयोग प्रतिसंलीनता तप की भी तीन भूमिकाएँ हैं—(१) अकुशल वचन का निरोध, (२) कुशल वचन की प्रवृत्ति और (३) वचन की एकाग्रता अथवा मौन।

काययोग प्रतिसंलीनता तप की भी तीन भूमिकाएँ हैं—(१) काय का अप्रशस्त प्रवृत्ति का निरोध, (२) प्रशस्त प्रवृत्ति करना और (३) काय की स्थिरता।

योग प्रतिसलीनता तप की आराधना करता हुआ साधक मन-वचन-काय—इन तीनो योगो को सुसमाहित करता है।

मनोयोग की साधना—मन सामान्यतः चंचल रहता है, वह स्थिर तो सिर्फ एकाग्र होने पर ही होता है; अन्यथा साधारणतया तो वह विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्पो मे ही उलझा रहता है। यहाँ तक कि जब मनुष्य निद्रा ले रहा होता है तब भी वह कल्पना लोक के, दुनिया भर के सैर-सपाटे कर रहा होता है जिसका प्रतिबिम्ब स्वप्न के रूप में प्रगट होता है।

संसाराभिमुख और विषय-कषायो में अनादिकाल से प्रवृत्त होने के कारण मन की प्रवृत्ति सामान्यतया अप्रशस्त रहती है, शुभ या प्रशस्त प्रवृत्ति तो बहुत ही कम यदा-कदा होती है।

तपोयोगी साधक सर्वप्रथम मन की अकुशल प्रवृत्ति का निरोध करता है, किन्तु मन बिना किसी आलम्बन के टिकता नही, प्रवृत्ति करना उसका स्वभाव है, इसलिए साधक उसे कुशल प्रवृत्ति में लगाता है और फिर कुशल

---

१ (क) औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०

(ख) भगवती सूत्र (२५/७) में मन-वचन-योग प्रतिसलीनता तप मे दो बातें और बताई गई हैं—

मणस्स वा एगत्तीभावकरणं—वइए वा एगत्तीभावकरण।

प्रवृत्ति से हटाकर उसे किसी एक ध्येय अथवा आलंबन पर स्थिर करता है, एकाग्र करता है।

सद्प्रवृत्ति के अभ्यास से शिक्षित हुए मन को ही एकाग्र किया जा सकता है। जैसे जंगल से पकड़े हुए बन्दर को शिक्षित करने के बाद ही मदारी उससे अपनी इच्छानुसार काम करवा सकता है, उसी प्रकार तपोयोगी साधक भी शिक्षित मन को किसी एक आलम्बन पर टिका सकता है, स्थिर कर सकता है। यह आलम्बन कोई भी हो सकता है, यथा—पुद्गल स्कन्ध, शरीर का कोई अवयव, कोई रूप अथवा श्वास-प्रश्वासप्रेक्षा। किसी भी वस्तु को तटस्थ द्रष्टा के रूप में सतत देखने के अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है।

इसी प्रकार तपोयोगी साधक वचनयोग की साधना करता है। सर्वप्रथम वह अनिष्टकारी, मर्मवेधी, कठोर, निष्ठुर, हिंसाकारी भाषा से बचने का अभ्यास करता है और प्रयत्नपूर्वक मिष्ट, सर्वसाताकारी, हितकारी भाषा बोलता है। इस प्रकार अकुशल वचनयोग के निरोध तथा कुशल वचन के प्रयोग में शिक्षित और अभ्यस्त होकर साधक मौन का अवलम्बन लेता है। इस प्रकार वह वचनयोग का संयम करता है।

मौन के अवलम्बन से पूर्व साधक प्रशस्त मनोयोग मे पूर्णतया अभ्यस्त हो जाता है अन्यथा मौन काल में दुर्विचार मन में आने की संभावना रहती है। तपोयोगी साधक इस विषय में विशेष सावधान और जागरूक रहता है।

काययोग की साधना में साधक अपने संपूर्ण शरीर को स्थिर करने का अभ्यास करता है। वह शरीर की व्यर्थ चेष्टाएँ नही करता तथा साथ ही इन्द्रियों को भी गुप्त करता है। योगो को सावद्य योग में प्रवृत्ति करते ही समस्त अंग-उपांगों को कूर्म के सदृश संकुचित कर लेता है।

इस प्रकार तपोयोगी साधक योग प्रतिसलीनता तप की आराधना द्वारा तीनो योगों को अपने वश में कर लेता है।

विविक्तशयनासन सेवना

तपोयोगी साधक के लिए आवश्यक है कि वह एकान्त शान्त स्थान का सेवन करे, रहे। स्थान ऐसा हो जहां स्त्री, पशु, नपुंसक न हो साथ ही वह स्थान निर्जीव हो[1] यानी घास आदि एकेन्द्रिय, कीड़े-मकोडे आदि त्रस जीवों से संकुलित न हो।

---

१ एगतमणावाए, इत्थी पसु विवज्जए।
सयणासण सेवणया, विवित्त सयणासण॥ —उत्तराध्ययन ३०/२८

साधु यानी गृहत्यागी श्रमण साधक तो अनिकेत होता है, वह अपने आवास-निवास के लिए विवेकपूर्वक स्थान की तलाश करता है, किन्तु गृहस्थ योगी साधक को भी विविक्त शयनासन का सेवन करना चाहिए।

विविक्त शयनासनसेवना के विषय में ध्यानशतक मे एक गाथा प्राप्त होती है—

निच्चं चिय जुवइ पसु नपुंसक कुसील वज्जियं जइणो।
ठाण वियण भणियं विसेसओ झाणकालम्मि॥

—ध्यानशतक ३५

अर्थात्—साधक सदा युवती, पशु, नपुंसक तथा कुशील (दुःशील) व्यक्तियो से रहित विजन (जन-रहित) स्थान मे रहे, विशेषतः ध्यान काल में तो विजन स्थान मे ही रहे।

विविक्त शयनासनसेवना का बहुत वडा वैज्ञानिक आधार है। यहाँ साधक को स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशील व्यक्तियो से रहित, एकांत, शात स्थान मे निवास और ध्यान का जो आदेश दिया गया है, वह सर्वथा उचित और विज्ञानसम्मत है।

शास्त्रीय (जैन ग्रन्थो की) भाषा मे यह सम्पूर्ण संसार परिणमन का ससार है, यहाँ प्रत्येक द्रव्य परिणमन कर रहा है, और आधुनिक विज्ञान की भाषा मे यह सम्पूर्ण जगत विकीरणो, प्रकम्पनो और तरंगो का संसार है। यहाँ प्रकाश की तरगें है, विद्युत तरंगें है, ध्वनि तरंगें हैं, रेडियोधर्मी तरगें हैं और भी अनेक प्रकार की तरगें है। ये तरगें सम्पूर्ण सृष्टि मे फैली हुई हैं। अचेतन द्रव्य (पुद्गल) की भी तरंगें हैं और चेतन द्रव्य की भी तरगें हैं। चेतन द्रव्य (पशु-पक्षी, मनुष्य) के मनोभावो-मनोविकारो-सदसद्भावनाओ की तरगें, इन सभी प्रकार की तरगो मे सर्वाधिक शक्तिशाली हैं। इसीलिए वे प्रकम्पन (vibration) भी अधिक उत्पन्न करती हैं और वातावरण को तथा दूसरे व्यक्तियो को भी शीघ्र प्रभावित करती है।

वैज्ञानिक शोधो से यह सिद्ध हो गया है कि सामान्य मनुष्य के विद्युत शरीर (Electric body—तैजस् शरीर) से विकीर्ण होने वाली मानवीय विद्युत तरगें,(Man Electric Waves) उसके स्थूल शरीर से ६ इन्च बाहर तक निकलती रहती हैं। अतः जिस स्थान पर मनुष्य बैठता है, उसको भी ये तरगें प्रभावित करती है और वहाँ स्थित पुद्गल स्कन्धो मे भी तीव्र प्रकम्पन होता है, उन प्रकम्पनो से सम्पूर्ण वातावरण प्रभावित हो जाता है। यदि

व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ हो और उसकी मनोभावनाओं का आवेग तीव्र हो तो उसकी मानवीय विद्युत तरंगों का विकिरण २½ व ३ (ढाई-तीन फीट) तक हो सकता है और उतनी ही अधिक मात्रा में वातावरण भी प्रभावित होता है।

चूँकि स्त्री मे स्त्री हारमोन्स (Female harmones) निःसृत होते है और वे पुरुष हारमोन्स (Male harmones) को अधिक मात्रा मे आकर्षित/प्रभावित करते है, इसलिए साधक को स्त्री-संपृक्त स्थान में रहने का आगमों में निषेध किया गया है। इतना विशेष है कि युवती स्त्री में स्त्री हारमोन्स अधिक मात्रा में बनते है और वृद्धा स्त्री मे इनकी मात्रा कम हो जाती है, इसलिए ध्यानशतक तथा आगमों की (उत्तराध्ययन सूत्र आदि की टीका) टीका में स्त्री का अर्थ प्रायः युवती किया गया है। फिर भी स्त्री शब्द में नारी मात्र का समावेश है।

नपुंसक की काम वासना का दृष्टान्त तो आगमों में नगर-दाह से दिया गया है, उसकी काम वासना भी अति तीव्र होती है, उसकी विचार तरंगे प्रायः वासनाप्रधान रहती है अतः उससे संपृक्त स्थान में तो तपोयोगी को बिल्कुल भी नही बैठना चाहिए। पशुओ में राजसिक और तामसिक तरंगें होती है, सात्विक तरगें नही होती,[1] इसलिए तपोयोगी का स्थान उनसे भी रहित होना चाहिए।

आसन आदि के प्रयोग के बारे में जो साधु के लिए यह विधान है कि 'जिस आसन पर स्त्री बैठी हो, विवशता होने पर भी साधु एक मुहूर्त के बाद ही उसका उपयोग करे' उसका कारण भी यही है कि स्त्री के विद्युत् शरीर से जो तरंगें निकलकर उस आसन के परमाणुओ को प्रकम्पित करती हैं, उसके आसन छोडने के एक मुहूर्त में वे परमाणु शान्त हो जाते हैं, उन पर हुआ विद्युत् तरंगो का प्रभाव समाप्त हो जाता है।

कुशील व्यक्ति की दुर्भावनाओं से भी वातावरण दूषित और मलिन हो जाता है, इसीलिए साधक को उससे रहित स्थान पर रहना चाहिए।

यद्यपि गृहत्यागी श्रमण तपोयोगी तो जीवन भर के लिए विविक्त शयनासन सेवन करता है, किन्तु जो गृहस्थ तपोयोगी साधक प्रतिसंलीनता तप की आराधना करता है, वह भी अपने आराधन और ध्यान काल में विविक्त शयनासन सेवन करे, यह अपेक्षित है।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० २५०

इसीलिए गृहस्थ साधको के लिए धर्मस्थान, उपासना गृह, चैत्य तथा पौषधशालाएँ और उपाश्रय आदि मे जाकर धर्मसाधना एवं तप-साधना की परम्परा रही है।

वाह्य तपों से तपोयोगी को लाभ

अनशन, अवमौदरिका, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, काय-क्लेश और प्रतिसलीनता—इन छह वाह्य तपो की आराधना-साधना से तपोयोगी साधक को अनेक लाभ होते हैं—

(१) शरीर-सुखता की भावना का विनाश होता है।

(२) इन्द्रियो का दमन होता है और उन पर नियन्त्रण स्थापित करने की क्षमता-सामर्थ्य प्राप्त होती है।

(३) वीर्य शक्ति का सदुपयोग होता है।

(४) तृष्णा का निरोध होता है।

(५) कपायो का निग्रह होता है।

(६) काम-भोगो के प्रति विरक्ति होती है।

(७) लाभ-अलाभ, सफलता-विफलता, प्राप्ति-अप्राप्ति में हर्ष-शोक की भावना में कमी आती है।

(८) समत्व भाव दृढ़ होता है।

(९) प्रमाद और आलस्य में कमी आती है।

(१०) शरीर में स्फूर्ति आती है।

(११) मानसिक शक्तियाँ और क्षमताएँ विकसित होती है।

(१२) बुद्धि मे नई-नई स्फुरणाएँ उत्पन्न होती हैं।

(१३) श्वास क्रिया पर नियन्त्रण होता है।

(१४) आसन सिद्धि होती है।

(१५) राग-द्वेष का उपशमन होता है।

(१६) स्थूल और सूक्ष्म शरीर का शोधन होता है।

(१७) तैजस् शरीर वलशाली होता है। उसका प्रभाव वढता है।

(१८) अन्तरंग तपो की साधना के लिए आधार भूमि तैयार होती है।

(१९) चित्त-शुद्धि होती है।

(२०) मन के संकल्प-विकल्प और आवेग-सवेगो का उपशमन होता है।

इस प्रकार तपोयोगी साधक बाह्य तपों की आराधना-साधना से बाह्य शुद्धि करके आन्तरिक शुद्धि की ओर—आभ्यन्तर तपों की ओर कदम बढाता है। दूसरे शब्दों में, बाह्य तप, आभ्यन्तर तपो की आधार-भूमि प्रस्तुत करते हैं। तपोमार्ग पर गति करने वाले साधक के लिए बाह्य तपो की साधना आवश्यक है। बाह्य तपों से बाह्य आवरण-शुद्धि के बाद ही साधक आत्म-शुद्धि के सोपान पर बढ पाता है।

□□

११ आभ्यन्तर तप : आत्म-शुद्धि की सहज साधना

जिस प्रकार बाह्य तप आत्म-आवरणों—तैजस् और औदारिक (सूक्ष्म एवं स्थूल—Electric and Material Body) शरीर की शुद्धि की प्रक्रिया है, साधना है, उसी प्रकार आभ्यंतर तप आत्मशोधन, साथ ही साथ आत्मा के साथ संपृक्त, बद्ध कार्मण शरीर के शोधन की, उसे निर्जीर्ण करने की साधना है। आत्म-शोधन का अभिप्राय ही कार्मण शरीर—कर्मग्रंथियों का क्षय करना (annihilation) है, क्योंकि आत्मा की शुद्धि ही कार्मण शरीर के विनाश में होती है।

कार्मण शरीर में राग-द्वेष—आभ्यन्तरिक दोष—क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि की अवस्थिति होती है। मोह के कारण ही आत्मा अशुद्ध हो रहा है, उसकी ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय स्वाभाविक दशा विभावरूप में परिणत हो रही है शुद्ध ज्ञायक भाव विकृत हो रहा है।

आभ्यंतर तपोयोगी साधक इन आभ्यंतर तपों की साधना, आराधना द्वारा उस कार्मण शरीर—राग-द्वेष-मोह का विनाश करके, क्षय करके आत्मा की शुद्ध स्वाभाविक दशा प्राप्त कर लेता है, शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध हो जाता है और अनन्त-अक्षय-अव्याबाध सुख में रमण करने लगता है, त्रैलोक्य और त्रिकाल का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है।

आभ्यंतर तपों की साधना में निरत साधक अपनी साधना-यात्रा प्रायश्चित्त—पापों के शोधन—आन्तरिक पापों के शोधन से शुरू करता है और देह विसर्जन—व्युत्सर्ग पर समाप्त करता है। दूसरे शब्दों में, योग (मन-वचन-काया—तीनों योग) शुद्धि से प्रारम्भ करके योग-निरुन्धन पर समाप्त करता है, योग की पराकाष्ठा करके योगातीत हो जाता है।

(१) प्रायश्चित्त तप : पाप-शोधन की साधना

आभ्यंतर छह तपों में प्रायश्चित्त प्रथम तप है। प्रायश्चित्त है भूल-शोधन—पाप शोधन की साधना[1]।

---

१ प्राय पापं विनिर्दिष्ट चित्त तस्य विशोधनम्। —धर्मसंग्रह ३, अधिकार

प्रायश्चित्त का लक्षण राजवार्तिक में इस प्रकार दिया गया है—'प्रायः' अपराध है और 'चित्त' का अभिप्राय है विशोधन; जिस प्रक्रिया अथवा साधना से अपराध की विशुद्धि होती है, वह प्रायश्चित्त है।[1]

प्राकृत भाषा में प्रायश्चित्त के लिए 'पायच्छित्त' का प्रयोग हुआ है। वहाँ भी 'पाय' का अर्थ पाप और उसको छेदन करने की प्रक्रिया को 'च्छित्त' बताया गया है। जो पाप का छेदन करता है, उसे नष्ट करता है, वह 'पायच्छित्त' है।[2]

यद्यपि तपोयोगी साधक बाह्य तपों—विशेष रूप से प्रतिसंलीनता तप की साधना-आराधना में इन्द्रियो को वश में करता है, क्रोध-मान आदि कषायों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है, मन-वचन-काय के योगों की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध करता है; फिर भी साधक की आत्मा अनादि काल से अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से ग्रसित है, संसाराभिमुखी है; रोकते-रोकते भी मन रूपी सारथी काया रूपी रथ को अशुभ मार्ग की ओर दौडाने की प्रवृत्ति कर बैठता है, साधक जरा भी असावधान हुआ, थोड़ा भी प्रमाद आया, लगाम ढीली हुई कि दुष्ट अश्व की भाँति मन कुमार्ग की ओर दौडा। यद्यपि साधक पूर्ण रूप से सावधान रहता है फिर भी प्रमाद के कारण कही न कही भूल हो ही जाती है, स्खलना हो जाती है।

तपोयोग में निरत साधक अपनी भूलो को पहचानता है, उन्हें समझता है, जानता है और उनकी शुद्धि का प्रयास करता है तथा भविष्य में उन भूलो को न करने का दृढ संकल्प करता है। भूल अथवा पाप-शोधन की सपूर्ण प्रक्रिया प्रायश्चित्त है। तपोयोगी साधक इस प्रक्रिया द्वारा प्रायश्चित्त तप की साधना आराधना करता है।

प्रायश्चित्त तप की आराधना के लिए आवश्यक है कि साधक का अन्तर्मानस सरल हो, पाप के प्रति उसके मन मे घृणा व भय हो, और उसके अन्तर्हृदय मे पाप-विशुद्धि की, अपनी आत्म-शुद्धि की तीव्र और उत्कट भावना हो, वही साधक प्रायश्चित कर सकता है। वही गुरु के समक्ष निष्कपट

---

१ अपराधो वा प्राय. चित्तशुद्धिः। प्रायस् चित्तं— प्रायश्चित्तं—अपराध-विशुद्धि.। —अकलकदेवकृत तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९/२२/१

२ पावं छिन्दई जम्हा पायच्छित्तं त्ति भण्णइ तेण। —पचाशक सटीक विवरण

हृदय से अपने दोषो को प्रकट करके, उनकी शुद्धि के लिए प्रार्थना कर सकता है।

प्रायश्चित्त तपाराधना के लिए साधक का हृदय सरल होना अनिवार्य है। सरल हुए बिना प्रायश्चित्त नही हो सकता।

प्रायश्चित्त के भेद

जैन आगमों में प्रायश्चित्त तप के सम्बन्ध में बहुत व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है। साधक की सूक्ष्म से सूक्ष्म मनःस्थिति को पकडकर प्रायश्चित्त के दस भेद व अनेक उपभेद बताये गये हैं। आलोचनार्ह, प्रतिक्रमणार्ह, मिच्छामि दुक्कडं[1] आदि प्रायश्चित्त के विविध प्रकार है। प्रायश्चित्त का प्रथम भेद आलोचनार्ह और अन्तिम भेद पारांचिकार्ह हैं।

आलोचनार्ह से लेकर पारांचिकार्ह तक के सभी प्रायश्चित्तो का उद्देश्य साधक को दंड देना नही, अपितु उसकी दोष-विशुद्धि का लक्ष्य है।

---

१. 'मिच्छामि दुक्कड', जैन साधना मे प्रयुक्त यह शब्द बहुत ही गुरु गभीरो रहस्य को लिये हुए है। तपोयोगी साधक के लिए इस शब्द के रहस्य क जानना अति आवश्यक है।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति मे इस शब्द का निर्वचन करके इसके रहस्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'मि' त्ति मिउमद्दवत्ते, 'छ' त्ति दोसाण छादने होइ।
'मि' त्ति अ मेराइ ठिओ 'दु' त्ति दुगछामि अप्पाण ॥
'क' त्ति कड मे पाव 'ड' त्ति डवेमि त उवसमेण।
एसो मिच्छा दुक्कड पयक्खरत्थो समासेण ॥

अर्थात्— मि'कार मृदुता से साधक अपने अन्तर्मानस को—कोमल तथा अहकार रहित बनाता है, तथा 'छकार' से साधक दोषो का त्याग करता है, 'मि' कार से वह अपनी सयम मर्यादा को दृढ करता है, 'दु'कार से वह अपनी पाप करने वाली आत्मा की निन्दा करता है, 'क'कार द्वारा वह अपने कृत दोषो को स्वीकार करता है और 'ड'कार द्वारा वह उन दोषो का उपशमन करता है, उन्हे नष्ट करता है।

इस प्रकार तपोयोगी साधक 'मिच्छामि दुक्कड' के उच्चारण के साथ हृदय मे दोषो की स्वीकृति, आलोचना, एवं निन्दा करके प्रायश्चित्त तप की साधना करता है।

साथ ही यह भी है कि दोष कितना भी छोटा या बडा हो, उसकी शुद्धि हो सकती है, कोई भी दोष ऐसा नही है जिसकी शुद्धि न हो सके।

(२) विनय तप : अहं विसर्जन की साधना

आभ्यन्तर तप का दूसरा अंग है विनय। विनय से अहंकार विगलित होकर हृदय कोमल बन जाता है। गुरुजनो एव अपने से छोटो-बड़ो के प्रति आदर बहुमान तथा सम्मान भाव तभी प्रदर्शित किया जा सकता है जब मन में समर्पण एव भक्ति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ हो। जैन आगमो में विनय के सात भेद[1] बताये गये हैं।

(१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय, (३) मनो-विनय, (५) वचन विनय, (६) काय विनय और (७) लोकोपचार विनय।

(१) **ज्ञानविनय**—तपोयोगी साधक ज्ञान और ज्ञानी दोनो की विनय करता है। ज्ञानविनय से उसका ज्ञान निर्मल होता है और ज्ञान प्राप्ति की ओर उसका आकर्षण बढ़ता है।

इसीलिए ज्ञानविनय के अन्तर्गत वह मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी की विनय करता है।

---

१ (क) औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०
(ख) भगवती २५/७
(ग) स्थानांग सूत्र ७/५८५
(घ) तत्वार्थ सूत्र मे विनय के चार प्रकार ही बताये है—
ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। —तत्त्वार्थ सूत्र ९/२३
(च) विनय के विशेषावश्यकभाष्य मे ५ प्रकार बताये है—
(१) **लोकोपचार विनय**—माता-पिता, अध्यापक आदि गुरुजनो का विनय,
(२) **अर्थ-विनय**—धन के लिए सेठ आदि धनवानो, राजा, नेता, आदि का विनय,
(३) **कामविनय**—काम-भोगो की इच्छापूर्ति के लिए स्त्री आदि का विनय,
(४) **भयविनय**—प्राणरक्षा अथवा अपराध हो जाने पर उसका दण्ड न भोगना पडे, इस उद्देश्य से राज्याधिकारियो तथा समाज-प्रमुखो एव असा-माजिक तत्वों का विनय।
(५) **मोक्षविनय**—आत्मकल्याण हेतु सद्गुरुओ की विनय करना।
इन मे से प्रथम विनय लोक व्यवहार तथा शिष्टाचार है, वह शुभ कर्मों का हेतु है। दूसरी, तीसरी, चौथी विनय, विनय न होकर चापलूसी है, अशुभ कर्मबन्ध का हेतु है। पाँचवी विनय ही वास्तविक विनय है, वही तप है क्योकि कर्मनिर्जरा का कारण है। —संपादक

(२) दर्शनविनय—दर्शनविनय में साधक सम्यग्दृष्टि के प्रति विश्वास तथा सम्यग् दृष्टि सम्पन्न व्यक्तियों के प्रति आदरभाव प्रगट करता है। यह विनय वह दो रूपों में करता है—(१) शुश्रूषा (सेवा) विनय के रूप में और (२) अनाशातना विनय के रूप में।

(१) अरिहन्त, (२) अरिहन्त प्ररूपित धर्म, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) स्थविर, (६) कुल, (७) गण, (८) संघ, (९) क्रियावन्त, (१०) सम आचार वाले, (११-१५) पाँच ज्ञान के धारक—इन पन्द्रह की आशातना न करना, बहुमान करना और स्तुति करना इस प्रकार अनाशातना विनय के (१५×२) ४५ भेद होते हैं।

दर्शनविनय तप की आराधना करने वाला साधक ४५ प्रकार की अनाशातना विनय करता है।

(३) चारित्रविनय—सामायिक चारित्र, आदि जो ५ प्रकार के चारित्र हैं, उन चारित्रो के धारक चारित्रनिष्ठ जो चारित्रात्मा है, उनके प्रति साधक विनय करता है, वह चारित्रविनय है।

(४) मनोविनय—मन को अकुशल वृत्ति से हटाकर पवित्र भावो में लगाना। साधक अपने मन को सदा पवित्र भावो मे लगाता है, इस प्रकार मनोविनय से वह मनःशुद्धि करता है।

(५) वचनविनय—वचन विनय तप की साधना द्वारा साधक अप्रशस्त वचन का प्रयोग न करके प्रशस्त वचन का प्रयोग करता है।

इस तप की साधना के प्रभाव से साधक के वचनयोग की शुद्धि होती है।

(६) काय विनय—ठहरना, चलना, बैठना, सोना आदि जितनी भी कायिक क्रियाएँ साधक करता है, उनमें उसकी विनम्रता और सरलता ही प्रगट होती है, अकड अथवा अभिमान नही।

साधक के मनोविनय का स्पष्ट रूप उसकी वचनविनय और काय-विनय मे प्रगट होता है। तथ्य यह है कि मनोविनय की अभिव्यक्ति वचन और काय मे होती है।

मन, वचन और काय की विनय साधक की तेजस्विता को बढाती है, तीनो योगो की सरलता और ऋजुता के कारण उसकी आध्यात्मिक और चारित्रिक उन्नति होती है, बड़ी सहजता से वह आत्मिक प्रगति के पथ पर बढ़ता है।

(७) **लोकोपचार विनय**—माता-पिता, गुरु-बन्धु, मित्र, स्वजन आदि के साथ उनकी मर्यादानुकूल आचरण सद्व्यवहार तथा शिष्टाचार आदि, को लोकोपचार विनय कहते है। इस के सात भेद है—(१) अभ्यासवर्तित (गुरु आदि के सन्निकट रहना), (२) परछन्दानुवर्ती (गुरु जनो आदि वरिष्ठ जनो की इच्छानुसार कार्य करना), (३) कार्य हेतु (गुरु जनो के कार्यों में सहयोग देना), (४) कृत प्रतिकृत्य (गुरु आदि वरिष्ठ व्यक्तियो के उपकारों का स्मरण करके उनके प्रति कृतज्ञ रहना) (५) आर्तगवेषणा (रोगी एव अशक्त श्रमणो के लिए आहार आदि की गवेषणा करना), (६) देश काल ज्ञाता (देश और समय के अनुसार व्यवहार करना), (७) सर्वत्र अप्रतिलोमता (किसी के विरुद्ध आचरण न करना)।

भगवान महावीर ने विनय को धर्म का मूल बताया है।[1] धर्म का मूल आधार होने से विनय तप है, निर्जरा का हेतु है।

साधक इन सातो प्रकार के विनय द्वारा अपने आचरण को, योगो को शुद्ध करता है। उसकी आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की शुद्धि होती है। लोकोपचार विनय से उसकी स्वय की प्रशंसा तो जगत में होती ही है, साथ ही धर्म संघ की भी प्रभावना होती है। अन्य पर-धर्मी व्यक्ति भी धर्म की ओर अभिमुख होकर आत्म-कल्याण मे तत्पर होते है।

(३) वैयावृत्य तप · समर्पण की साधना

वैयावृत्य का अभिप्राय है—पूर्णतया समर्पण। सेवा और वैयावृत्य में बहुत बड़ा अन्तर है। निःस्वार्थ सेवा करते हुए भी व्यक्ति मे इतना विचार तो रहता ही है कि 'मैं अमुक की सेवा कर रहा हूँ', या 'मुझे अमुक की सेवा करनी चाहिए,' अथवा 'सेवा करना मेरा कर्तव्य है।' किन्तु सेवा वैयावृत्य तब बनती है जब उसके ये विचार तिरोहित हो जाते हैं, वह सेवा मे तन्मय हो जाता हैं, उसे अपने आप का भी भान नही रहता। ऐसी सेवा ही तप की कोटि मे आती है, वैयावृत्य तप कहलाती है और कर्म-निर्जरा का हेतु बनती है।

तपोयोगी साधक वैयावृत्य तप की साधना उसमें तल्लीन और तन्मय होकर करता है। और जब उसे उत्कृष्ट तन्मयता (रसायन) आ जाता है, वैयावृत्य करते समय बाह्य भावो से विरत होकर, सुख की अनुभूति करने लगता है तब उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बंध भी हो सकता है।

---

१ धम्मस्स विणओ मूलं। —दशवैकालिक ९/२/२

णायाधम्मकहाओ[1] में तीर्थंकर गोत्र बन्ध के जो २० कारण बताये हैं, उनमें से आठ वैयावृत्य से सबधित है—अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, ज्ञानी, तपस्वी की भक्ति और संघ को समाधि पहुँचाना।

तपोयोग की दृष्टि से यहाँ 'भक्ति' या 'वल्लभता' शब्द का अर्थ तल्लीनता है। भक्तियोग की साधना मे भी भक्त अपने इष्टदेव के प्रति तन्मय हो जाता है, अपना स्वयं का भान भूल जाता है। यही बात वैयावृत्य तप के बारे मे लागू होती है। तपोयोगी साधक वैयावृत्य करते समय उसी मे तल्लीन और तन्मय हो जाता है।

स्थानांग,[2] भगवती,[3] औपपातिक[4] आदि आगमो मे वैयावृत्य तप के दस भेद बताए है—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर, (४) तपस्वी, (५) रोगी, (६) नवदीक्षित मुनि (७) कुल, (८) गण (९) सघ, (१०) साधर्मिक की सेवा भक्ति एवं वैयावृत्य करना।

तपोयोगी साधक इन सबकी वैयावृत्य करके महान कर्म निर्जरा करता है।

(४) स्वाध्याय तप : स्वात्मसंवेदन ज्ञान की साधना

आचार्य अभयदेव ने स्वाध्याय शब्द का निर्वचन करते हुए इसका लक्षण दिया है—" 'सु'-सुष्ठु, भलीभाँति, 'आङ्'—मर्यादा के साथ अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है।[5]

आवश्यकसूत्र मे श्रेष्ठ अध्ययन को स्वाध्याय[6] कहा है।

कुछ विद्वानो ने स्वाध्याय का लक्षण इस प्रकार भी दिया है—**'स्वयमध्ययनं स्वाध्याय'** अन्य किसी की सहायता बिना अध्ययन करना और अध्ययन किये हुए विषय का मनन एव निदिध्यासन करना। **स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्**—अपनी आत्मा का अध्ययन करना। **स्वेन स्वस्य अध्ययनं—स्वाध्याय** —स्वयं द्वारा स्वयं का अध्ययन करना।[7]

---

१ णायाधम्मकहाओ, अज्झयण ८, सुत्त १४
२ स्थानाग, स्थान १०
३ भगवती, २५/७
४ औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०
५ स्थानाग २/२३०
६ अध्ययन अध्याय शोभनो अध्याय. स्वाध्याय। —आवश्यक सूत्र ४ अ
७ जैन आचार · सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ ५८५

तपोयोगी-साधक श्रेष्ठ तथा आत्म-कल्याण के मार्गदर्शक ग्रंथों का भी स्वाध्याय करता है और एकान्त-शांत स्थान पर बैठकर अध्ययन किये हुए विषय का चिन्तन, मनन तथा निदिध्यासन भी करता है; साथ ही अपनी आत्मा के विषय में विचार करता है, स्वात्मा को जानने का प्रयास करता है, गुरु से अथवा ग्रंथों से सीखे ज्ञान को स्वात्मसवेदन ज्ञान के रूप में परिणत करता है, आत्मा के ज्ञायक स्वभाव तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख-वीर्य रूप आत्मिक गुणो का स्वसवेदन करता है।

स्वाध्याय तप तब सफल होता है, जब तपोयोगी साधक समस्त विकारों और विभावों से दूर होकर आत्मा के ज्ञान गुण मे स्वाद लेने लगता है, उसमे उसे सुख की अनुभूति होने लगती है। स्वाध्याय तप की साधना में निरत साधक इस स्थिति में पहुँचकर मन-बुद्धि-चित्त और इन्द्रियो से परे हो जाता है, अपनी आत्मा के ज्ञानमय स्वरूप का आनन्द लेने लगता है।

वैदिक परम्परा में इस स्थिति का नाम ही विज्ञानमय कोष में साधक की अवस्थिति है।

स्वाध्याय के भेद अथवा अंग

शास्त्रो मे स्वाध्याय के ५ भेद अथवा अग बताये गये है, जो इस प्रकार है—

(१) **वाचना**—तपोयोगी साधक सद्गुरुदेव से सूत्र पाठ की वाचना लेता है तथा उनके उच्चारण के समान ही उच्चारण करता है। वह हीनाक्षर, अत्यक्षर, घोषहीन, पदहीन आदि दोषो से बचता है। स्वयं भी जब सूत्र-पाठों तथा धर्मग्रन्थों का अभ्यास और स्वाध्याय करता है तब भी उच्चारण आदि के दोष नही लगाता, पाठ को समझते हुए वाचना करता है।

(२) **पृच्छना**—जब साधक स्वाध्याय करता है तो उसके मन में विभिन्न प्रकार के प्रश्न उठते है। उन प्रश्नों का समाधान वह गुरुदेव से करता है, और विषय को हृदयंगम करता है।

(३) **परिवर्तना**—सीखे हुए ज्ञान की परिवर्तना आवश्यक है, अन्यथा वह ज्ञान विस्मृति के गर्भ में समा जाता है। अत साधक अपने सीखे हुए ज्ञान को बार-बार दुहराता है। इससे उसका ज्ञान सदा ताजा बना रहता है।

(४) **अनुप्रेक्षा**—अनुप्रेक्षा का अर्थ है चिन्तन-मनन। साधक अपने गृहीत ज्ञान पर बार-बार चिन्तन-मनन करता है, गहराई से उसका अनुशीलन करता है। इससे उसका ज्ञान तलस्पर्शी बन जाता है।

(५) धर्मकथा—ज्ञान के परिपक्व होने पर साधक स्वयं तो उससे लाभान्वित होता ही है, अन्यो को भी प्रतिबुद्ध करता है।

स्वाध्याय तप की पूर्णता इन पाँचो अंगो के समन्वय से होती है।

स्वाध्याय तप की फलश्रुति

स्वाध्याय तप की आराधना से तपोयोगी साधक को अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त होते है—

(१) श्रुत का सग्रह होता है।

(२) शिष्य श्रुतज्ञान से उपकृत होता है, वह प्रेम से श्रुत की सेवा करता है।

(३) स्वाध्याय से ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म निर्जरित होते है।

(४) अभ्यस्त श्रुत विशेष रूप से स्थिर होता है।

(५) निरन्तर स्वाध्याय करने से सूत्र विच्छिन्न नहीं होते।

आगम साहित्य के चिन्तन-मनन-अध्ययन से अनेकानेक सद्गुणो का विकास होता है। ज्ञान की वृद्धि, सम्यग्दर्शन की शुद्धि, चारित्र की सवृद्धि होती है और मिथ्यात्व नष्ट होकर सत्य तथ्य को प्राप्त करने की जिज्ञासा वृत्ति जागृत होती है।[1]

(६) बुद्धि निर्मल होती है।

(७) प्रशस्त अध्यवसाय की प्राप्ति होती है।

(८) शासन की रक्षा होती है।

(९) सशय की निवृत्ति होती है।

(१०) परवादियों के आक्षेपो के निरसन की शक्ति प्राप्त होती है।

(११) तप-त्याग की वृद्धि होती है।

(१२) अतिचारो की शुद्धि होती है।[2]

(१३) चचल मन स्थिर होता है।

(१४) मन की एकाग्रता बढती है।

(१५) निर्विकारता आती है।

(१६) संयम मे मन स्थिर होता है।

(१७) अच्छे विचार और सुसस्कारो का निर्माण होता है।

---

१ स्थानांग ५

२ तत्त्वार्थराजवार्तिक—अकलकदेव

(१८) मस्तिष्क में नई-नई स्फुरणाएँ आती हैं।
(१९) आत्मानुभूति होती है।
(२०) आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है।

तपोयोगी साधक के लिए स्वाध्याय जीवन-रस के समान है। इस तप की साधना-आराधना से साधक अपने बहुत से जन्मो के संचित कर्मों को क्षण मात्र में नष्ट कर देता है।[1] इसीलिए मनस्वी आचार्यों ने स्वाध्याय तप के समान किसी भी जप-तप को नही माना[2]। भगवान महावीर ने स्वय अपने श्रीमुख से स्वाध्याय तप को सभी दुखो का अन्त करने वाला बताया है।[3]

स्वाध्याय तप की महिमा सभी धर्मों, पन्थो और सम्प्रदायो ने स्वीकार की है।

वस्तुतः स्वाध्याय तप तपोयोगी साधक के लिए चिन्तामणि रत्न के समान है। जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न से व्यक्ति की सभी लौकिक इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं उसी प्रकार स्वाध्याय तप से तपोयोगी साधक अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने मे सक्षम हो जाता है, उसकी आत्मा आत्म-भाव मे स्थिर हो जाती है।

(५) ध्यान तप : मुक्ति की साक्षात साधना

ध्यान (धर्मध्यान और शुक्लध्यान) तप मुक्ति की साक्षात साधना है। इस तप के प्रभाव से मनुष्य जीवन-मरण रूप संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है।[4]

(६) व्युत्सर्ग तप : ममत्व विसर्जन की साधना

व्युत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—विशेष प्रकार से उत्सर्ग करना, (वि+उत्सर्ग), त्यागना, छोड़ना।

आचार्य अकलंकदेव ने व्युत्सर्ग तप का लक्षण इस प्रकार दिया है—

---

१ बहुभवे सचियं खलु सज्झाएण खणे खवइ। —चन्द्रप्रज्ञप्ति ९१

२ न वि अत्थि न वि अ होई सज्झाय समं तवोकम्मं।

—चन्द्रप्रज्ञप्ति ८९, तथा बृहत्कल्प भाष्य ११६९

३ सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणे। —उत्तरज्झयणाणि २६/१०

४ ध्यान तप का विस्तृत विवेचन 'ध्यानयोग साधना' नामक अध्याय मे किया गया है।

सम्पादक

नि संगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन को आशा (लालसा) का त्याग ।[1]

व्युत्सर्ग तप की आराधना करता हुआ तपोयोगी साधक ममत्व-विसर्जन की साधना करता है ।

व्युत्सर्ग तप के भेद

व्युत्सर्ग तप के प्रमुख दो भेद है—(१) द्रव्य व्युत्सर्ग और (२) भाव व्युत्सर्ग ।

द्रव्य व्युत्सर्ग के उत्तर भेद चार है—(१) गण व्युत्सर्ग (२) शरीर व्युत्सर्ग (३) उपधि व्युत्सर्ग और (४) भक्तपान व्युत्सर्ग ।

(१) **गण व्युत्सर्ग**—तपोयोगी साधक की साधना के लिए गण (संघ) एक आलम्बन होता है । वहाँ उसकी साधना सुचारु रूप से चलती है । किन्तु साथ ही यह भी सत्य-तथ्य है कि साधक को आत्माभिमुखी साधना के लिए शान्त-एकान्त स्थान अत्यावश्यक है ।

गण व्युत्सर्ग तप का आशय यह है कि साधक गण में रहता हुआ भी गण के प्रति निःसंग रहे, जैसे जल मे कमल । किन्तु यदि किसी कारणवश गण मे उसकी साधना सुचारु रूप से नही चल पाती, उसकी समाधि भग होती है तो वह गण का व्युत्सर्ग भी कर सकता है ।

तपोयोगी साधक के लिए साधना और समाधि ही प्रमुख है, लेकिन जब गण उसी मे बाधक बनने लगे तो फिर उसके पास असमाधिकारक गण को छोडने के अलावा चारा ही क्या है ।

लेकिन गण छोड़ने का अभिप्राय साधक का स्वेच्छाचारी हो जाना नही है, वह विशिष्ट साधना के लिए गुरुजनो की अनुमति से ही गण छोडता है और उनकी अनुमति से वापिस गण मे सम्मिलित भी हो जाता है ।

(२) **शरीर व्युत्सर्ग**—इस तप का अभिप्राय है—शरीर के प्रति ममत्व का त्याग । इसका अपर नाम कायोत्सर्ग भी है ।

तपोयोगी साधक एकान्त-शान्त स्थान मे शरीर से निस्पृह होकर खम्भे की तरह सीधा खड़ा हो जाता है, उस समय वह शरीर को न अकडा-

---

१ नि सगनिर्भयत्वं जीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्ग ।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ९/२६/१०

कर रखता है और न झुकाकर ही। दोनों बाहों को घुटनो की ओर लम्बा करके प्रशस्त-ध्यान में निमग्न हो जाता है तथा उपसर्गों और परीषहो को सहन करता है।[1]

यह कायोत्सर्ग की साधना है।

कायोत्सर्ग की साधना लेटकर और बैठकर भी की जा सकती है।

यह शिथिलीकरण की प्रक्रिया है। इसमें मन-वचन-काय तीनों योगों को शिथिल करके सम अवस्था में लाया जाता है, इनके तनावों को दूर किया जाता है जिससे कायोत्सर्ग की स्थिति में सहज रूप से आया जा सके।

कायोत्सर्ग की साधना में साधक धीरे-धीरे अपने श्वास को सूक्ष्म करता चला जाता है। श्वास को स्थूल से सूक्ष्म करने की क्रिया यौगिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया द्वारा जब श्वास सूक्ष्म हो जाता है तो साधक को शारीरिक एवं मानसिक शान्ति प्राप्त होती है, उसके तनाव अनुबन्ध शिथिल जाते हैं।

कायोत्सर्ग द्वारा तपोयोगी साधक मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों को स्थिर करता है। इस स्थिरीकरण से उसका अपने स्थूल और सूक्ष्म शरीर (औदारिक और तैजस) के प्रति ममत्व भाव टूटता है, ममत्व ग्रंथियाँ टूटती है, काया और आत्मा की अभिन्नता की भ्रान्ति मिटती है। उसकी आत्मा में हल्कापन आता है। आत्मा की अनुभूति होती है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग या शरीर व्युत्सर्ग तप से साधक का देहात्म-भाव समाप्त हो जाता है।

(३) **उपधि व्युत्सर्ग**—जब साधक अपने शरीर को ही अपना नहीं मानता, उसके प्रति ही उसका ममत्व टूट जाता है तो उपधि (धार्मिक उपकरण) को अपना कैसे मानेगा ? तपोयोगी साधक उपधि के प्रति भी मोह नही रखता।

(४) **भक्तपान व्युत्सर्ग**—आहार-पानी के प्रति अनासक्ति। आहार आदि स्थूल शरीर को चलाने के साधन हैं। जब साधक को देह से ही ममत्व नहीं नही रहता तो आहार आदि के प्रति ममत्व का प्रश्न ही कहाँ है ? इस स्थिति में साधक आहार करता है तो उसी प्रकार जैसे बिल मे सर्प प्रवेश करता है, अर्थात् उसका भोजन के प्रति अनासक्त भाव हो जाता है।

---

१ मूलाराधना २/११६ विजयोदया टीका

भाव व्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं—

(१) **कषाय व्युत्सर्ग**—क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों कषायों की अवस्थिति कार्मण शरीर में है। कषाय-व्युत्सर्ग तप की साधना में निरत साधक अपने कार्मण शरीर के शोधन का प्रयास करता है। वह जानता है कि कषाय शुद्धोपयोग मे मलिनता उत्पन्न करते हैं।[1] और साधक अपने चरण शुद्धोपयोग की ओर बढाता है, इस कार्य हुतु वह कषायों का परि-मार्जन करता है, उनका विसर्जन करता है, जिससे उसके चैतन्योपयोग में विक्षोभ न हो, चेतना की अखंड धारा, उसका शुद्धोपयोग निराबाध गति से बहता रहे।

(२) **संसार व्युत्सर्ग**—साधक चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण के हेतु आस्रवों का विसर्जन करता है। कामना-वासनारूपी भाव-संसार को नष्ट करता है। भाव संसार के नष्ट होते ही द्रव्य संसार का स्वयमेव ही नाश हो जाता है।

(३) **कर्म व्युत्सर्ग**—इस तप की साधना में साधक कर्म-बधन के हेतुओ का त्याग कर देता है। कर्मबन्धन के हेतुओ के त्याग से उसकी आत्मा विशुद्ध से विशुद्धतर होती जाती है। मोक्ष क्षण-प्रति-क्षण उसके समीप आता जाता है।

जैन तपोयोग में तप की साधना अनशन (स्थूल शरीर को पुष्ट करने वाले भोजन का त्याग) तप से शुरू होकर व्युत्सर्ग तप पर समाप्त होती है। प्रथम सोपान अनशन तप में साधक देह की पुष्टि के साधनों का त्याग करता है और अन्तिम तप में देह के प्रति ममत्व का विसर्जन।

साधक के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दोनो ही प्रकार के तप आव-श्यक हैं।[2] बाह्य तप क्रियायोग के प्रतीक हैं और आभ्यन्तर तप ज्ञानयोग के[3]। और ज्ञान तथा क्रिया के समन्वय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है—

ज्ञान क्रियाभ्या मोक्ष। □□

---

१ प्रज्ञापना पद १३

१२ ध्यान योग-साधना

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—

भंते! एक आलंबन पर मन को सन्निवेश (स्थिर) करने से जीव को क्या लाभ होता है?

भगवान ने बताया—गौतम! एक आलबन पर मन को सन्निवेश करने से चित्त का निरोध होता है।[1]

चित्तनिरोध का आशय है—मन की चचलता का निग्रह, मन की स्थिरता अथवा एक विषय पर केन्द्रीकरण।

मन की दो अवस्थाएँ हैं—चचल और स्थिर।[2] इनमें से स्थिर अवस्था ध्यान है।

ध्यान का लक्षण

व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से ध्यान शब्द की निष्पत्ति 'ध्यै चिन्तायाम्'—इस धातु से हुई है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'ध्यान' का अर्थ चिन्तन है।

किन्तु योगमार्ग की अपेक्षा से 'ध्यान' का आशय कुछ भिन्न है। यहाँ चित्त को किसी एक आलम्बन पर स्थिर करना 'ध्यान' माना गया है।[3] उमास्वाति ने एकाग्रचिन्ता, तथा शरीर, वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा है।[4]

---

१ उत्तराध्ययन २९/२६

२ ज थिरमज्झवसाणं झाण जं चलं तयं चित्त। —ध्यानशतक २

३ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४६३

४ तत्त्वार्थ सूत्र ९/२७

पतंजलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से माना है। उनका अभिमत है—जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्ति की एकतानता ध्यान है।[1] विसुद्धिमग्गो में भी ध्यान को मानसिक ही माना है।[2]

किन्तु जैन योग साधना में ध्यान को मानसिक, वाचिक और कायिक—तीनो प्रकार का माना है।

ध्यानयोगी साधक जब 'मेरा शरीर अकंपित हो' इस तरह स्थिर-काय बनता है, वह उसका कायिक ध्यान है। इसी तरह जब वह सकल्पपूर्वक वचनयोग को स्थिर करता है तब उसे वाचिक ध्यान होता है और जब वह मन को एकाग्र करता है तथा वाणी और शरीर को भी उसी लक्ष्य पर केन्द्रित करता है तब उसको कायिक, वाचिक तथा मानसिक—तीनो ध्यान एक साथ हो जाते हैं।[3]

यही पूर्ण ध्यान है तथा इसी में एकाग्रता एवं अखंडता होती है और एकाग्रता घनीभूत होती है।

वस्तुतः ध्यान वह अवस्था है, जिसमें साधक के चित्त की अपने आलं-बन मे पूर्ण एकाग्रता होती है, मन चेतना के विराट सागर मे लीन हो जाता हैं, वचन और काय भी उसी मे तल्लीन हो जाते है, तीनो योगो की चचल अवस्था, स्थिर रूप में परिणत हो जाती है।

इसीलिए जैन योग की दृष्टि से तीनों योगो का निरोध तथा स्थिरता ही ध्यान है; क्योकि जब तक तीनो योगो का निरोध नही हो जाता, तब तक संवरयोग की साधना नही हो सकती। आस्रव का निरोध ही तो सवर हैं और मन-वचन-काय योग की प्रवृत्ति ही आस्रव है। इसका फलित यह है कि ध्यान की पूर्णता के लिए तीनो योगो का निरोध आवश्यक है और तभी कर्मो की निर्जरा होती है जो ध्यानयोग का प्रमुख लक्ष्य है।

ध्यान-साधना के प्रयोजन एवं उपलब्धियाँ

तपोयोगी साधक ध्यान तप की साधना एक ही लक्ष्य को लेकर करता है, और वह है—मुक्ति, कर्म-बन्धनो से मुक्ति, जन्म-मरणरूप चातुर्गतिक ससार से मुक्ति। और इस साधना को यदि ससार की अपेक्षा से देखा जाय

---

१ पातजल योग सूत्र ३/२

२ विसुद्धिमग्गो, पृष्ठ १४१-१५१

३ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४७४, १४७६-७८

तो यह अप्रयत्न है, अप्रवृत्ति है, निवृत्ति है और है निवृत्ति की साधना, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को रोककर उन्हें स्थिर करना, एक ध्येय पर लगाना, दृढीभूत करना।

ध्यान की साधना तपोयोगी साधक सत्य की खोज के लिए करता है। सत्य की खोज के दो मार्ग हैं—भौतिक और आध्यात्मिक, प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। सत्य की जितनी भी खोज वैज्ञानिक करता है, वह सब प्रवृत्तिपरक है, क्योकि उसका क्षेत्र ससार है, जड पदार्थ है, पुद्गल है। किन्तु तपोयोगी का क्षेत्र अध्यात्म है, अतः उसकी खोज का मार्ग भो निवृत्तिपरक है, वह ध्यान तप की साधना द्वारा चित्त को एकाग्र करके चेतना की अतल गहराइयो में उतरता है और आध्यात्मिक सत्य को खोजकर उसकी स्वतत्र सत्ता का, आतमा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है। अब तक जो उसे कषायात्मा आदि का अनुभव हो रहा था, उसके स्थान पर वह शुद्धात्मा का अनुभव करता है तथा अपने ज्ञायक भाव को प्रतिष्ठित करता है। साथ ही अपनी चेतना की धारा को व्यापक बनाता है।

अध्यात्मयोगी साधक योग की साधना द्वारा पदार्थों के प्रति प्रतिबद्धता को तोडता है, इसका प्रतिफलन दु.ख-मुक्ति के रूप में होता है। दुःख-मुक्ति के साथ ही उसका मन (चित्त), अन्तर्मुखी, निर्मल और सशक्त बनता है।

मानव के मन की स्थिति शरीर में वही है जो नगर में पावर हाउस की होती है। पावर हाउस से विद्युत की धारा जब नगर में फैल जाती है तो पावर हाउस रिक्त हो जाता है, उसकी ऊर्जा, शक्ति और क्षमता क्षीण हो जाती है, यही स्थिति मन (मस्तिष्क) की है। पावर हाउस को पुनः शक्तिशाली नई विद्युत के उत्पादन एव सचयन से किया जाता है और मन (मस्तिक) को शक्तिशाली ध्यान से बनाया जाता है। स्मृति, विश्लेषण, चयन आदि कार्य मानव शरीर में लघुमस्तिष्क (Cerebellum) द्वारा किये जाते है और ध्यान द्वारा इन शक्तियो का विकास होता है।

आध्यात्मिक भाषा में प्रवृत्ति से शक्ति क्षीण होती है और निवृत्ति से शक्ति का सचय होता है। व्यक्ति चलने से थकता है, बोलने से थकता है और मन के संकल्पो-विकल्पो, कषायो के आवेगो-सवेगो से थकता है। यह सब कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति ही तो है और इन तीनो योगों की स्थिरता, प्रवृत्ति का अभाव अथवा निवृत्ति तथा एकाग्रता—एकनिष्ठता ही

ध्यान है। इसीलिए ध्यान से असीम शक्ति का संचयन होता है। ध्यान के बाद साधक को स्फूर्ति का अनुभव होता है।

सूर्य की किरणो मे आग लगाने की शक्ति मौजूद है किन्तु जब तक वे किरणें बिखरी रहती हैं, आग नही लगा सकती; किन्तु आतिशी शीशे के माध्यम से उन किरणो को जब घनीभूत कर लिया जाता है, केन्द्रित करके किसी एक स्थान पर प्रक्षिप्त कर दिया जाता है तो नगर भी भस्म किया जा सकते हैं। सूर्यकिरणो (सौर ऊर्जा) द्वारा जलाये जाने वाले चूल्हे (Sun stoves) तथा अन्य उपयोग इसी बात के प्रमाण हैं।

इसी प्रकार आत्मशक्ति जब ध्यान-तप के माध्यम से एकीभूत और घनीभूत हो जाती है तो वह ध्यानाग्नि का रूप धारण कर लेती है और कर्ममल को जलाकर आत्मा को उसी प्रकार शुद्ध कर देती है, जिस प्रकार भौतिक अग्नि स्वर्ण मे मिले मैल को जलाकर उसे कुन्दन (पूर्णतया शुद्ध स्वर्ण) बना देती है।

जिस तरह किसान गेहूँ के लिए ही खेती करता है किन्तु उसे भूसा स्वयमेव ही प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अध्यात्मयोगी साधक की अन्तर्दृष्टि स्वयमेव ही जागृत हो जाती है, उसकी लेश्या रूपान्तरित हो जाती है और आभामडल स्वच्छ हो जाता है, साथ ही शक्तिशाली भी बनता है तथा साधक को अतीन्द्रिय ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है और उसके चक्रस्थान (चैतन्य केन्द्र) भी जागृत हो जाते है।

साधक को यह सब उपलब्धियाँ मन की चचलता को रोकने से, उसे स्थिर करने से प्राप्त होती हैं। मन की चचलता को रोकना ही ध्यान-तप का प्रयोजन है।

मन की चंचलता के कारण

मन की चचलता का प्रमुख हेतु वृत्तियाँ है और वातावरण उन बाह्य वृत्तियो की उत्तेजना तथा सक्रियता में सहायक होता है। वृत्तियो का दायरा जितना विस्तृत होगा, जितनी उनकी उत्तेजना अधिक होगी; मन उतना ही अधिक चचल होगा। इसके विपरीत वृत्तियाँ जितनी क्षीण होगी, उनका दायरा जितना सीमित और सकुचित होगा, मन भी उतना ही कम चचल होगा।

वर्तमान काल की प्रवृत्ति अल्पकालीन अथवा क्षणिक होती है। किन्तु उन वृत्ति-प्रवृत्तियो की स्मृति मस्तिष्क मे रह जाती है और गहरी वृत्तियो के सस्कार बन जाते है। भविष्यकाल सम्बन्धी वृत्ति कल्पना तथा सकल्प

विकल्प, आशा-निराशा, सफलता-असफलता, विभिन्न प्रकार की चिन्ता-दुश्चिन्ता के रूप में होती है।

इस प्रकार वृत्तियों के तीन रूप हो जाते है, वर्तमान काल सम्बन्धी, भूतकाल सम्बन्धी स्मृति और संस्कार, तथा भविष्य काल सम्बन्धी सकल्प-विकल्पात्मक कल्पनाएँ और चिन्ताएँ। इनमें से भूत-भविष्य सम्बन्धी वृत्तियाँ ध्यानयोगी साधक की ध्यान साधना में अधिक विक्षेप उत्पन्न करती है। जब साधक चित्त को एकाग्र करता है, एक ध्येयनिष्ठ करता है तो उसका अव-चेतन मन जागृत हो जाता है उसमें अनेक वर्षों पूर्व के ही नहीं; पूर्वजन्मो के संस्कार भी अगडाई लेकर उठ खड़े होते हैं और साधक के स्मृति पटल पर आकर उसके मानस को विक्षुब्ध कर देते हैं। साधक चकित रह जाता है, सोचता है—ऐसा विचार तो मैंने इस जीवन में कभी किया ही नही था। उसका यह सोचना सही भी होता है। लेकिन इन संस्कारों को निर्जीर्ण तो करना ही होता है, क्योकि बिना संस्कारो (पूर्व-जन्मों तक के सस्कार) के नष्ट हुए चित्त-शुद्धि निष्पन्न ही नही हो सकती। अतः साधक इन सस्कारो अथवा भूत-भविष्यत्कालीन वृत्ति-प्रवृत्तियों की सिर्फ प्रेक्षा करता है, अपने ध्येय से इधर-उधर डगमगाता नही, उस पर दृढ़ रहता है और उन वृत्ति-प्रवृत्तियों में राग-द्वेष नही करता।

अनुकूल वृत्ति राग का कारण बनती है और प्रतिकूल वृत्ति द्वेष का। इन दोनों के कारण ही मन का सागर प्रकंपित रहता है, उद्वेलित रहता है, चंचल बना रहता है और ध्यानयोग की दृढता से जब चंचल मन स्थिर हो जाता है तभी साधक को आत्म-दर्शन होता है;[1] तथा मन के प्रसार को रोक देने पर आत्मा परमात्मा बन जाती है।[2]

इसीलिए आचारांग सूत्र मे भगवान महावीर ने साधक को साधना का सूत्र दिया है—'वर्तमान क्षण को जानो।[3] तथा वर्तमान कम्पन के प्रेक्षक बनो।' इन सूत्रो को हृदयगम कर ध्यान करने वाला साधक सतत जागरूक और अप्रमत्त रहता है।

ध्यान का काल-मान

यद्यपि अध्यात्मयोगी साधक की प्रबल भावना होती है कि वह दीर्घ

---

१ मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले। —तत्वसार ४१

२ णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पा हवइ। —आराधनासार २०

३ इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति अन्नेसी। —आचारांग १/५/५०१

काल तक ध्यान करता रहे, किन्तु अनादि काल से मन और इन्द्रियों का प्रवाह वहिर्मुखी होने के कारण ध्यान का प्रवाह लम्बे समय तक नही चल पाता। साधक अपने मन को अन्तर्मुखी वनाने का, एक ध्येय पर टिकाने का प्रयास करता है; किन्तु मन दुष्ट अश्व की भाँति वाहर की ओर दौडता है। यद्यपि वार-वार के अभ्यास और वैराग्य की भावना से मन स्थिर होने लगता है, फिर भी अनन्त पर्यायात्मक द्रव्य की किसी एक पर्याय पर साधक का चित्त अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट से कम समय) तक ही स्थिर रह सकता है।[1] हाँ, अनेक पर्यायो का आलम्वन लेने पर, ध्येय वदल जाने पर ध्यान का प्रवाह लम्वे समय तक भी चल सकता है।[2]

ध्यान की पूर्वपीठिका : धारणा

साधक अपने चित्त को एक ध्येय पर निश्चल रूप से टिकाने अथवा एकाग्र करने का पूर्ण प्रयास करता है; फिर भी मन चंचल मर्कट के समान एक ध्येय पर टिकता नही, इधर-उधर दौड लगाता रहता है। अतः साधक ध्यान की सिद्धि से पहले ध्यान की पूर्वपीठिका के रूप में धारणा का अभ्यास करता है।

चित्त को एकाग्र करने के लिए उसको किसी एक-देश—स्थानविशेष पर लगा देना—जोड देना धारणा है।[3]

यहाँ 'देश—स्थानविशेष' शब्द नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भृकुटि, तालु, आँख, मुख, कान, मस्तक, जिह्वा का अग्रभाग आदि स्थानो का वाचक है। साधक इनमे से किसी एक अथवा क्रमशः सभी पर चित्त को लगाता है।[4]

इन स्थानो के अतिरिक्त तान्त्रिक और हठयोग के ग्रन्थो में आधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धि चक्र, आज्ञा चक्र और अजरामर चक्र—इन सात चक्रो पर भी चित्त को जोडने अथवा लगाने का उल्लेख है। हठयोगी साधक इन चक्र-स्थानो पर मन और पवन (प्राण—

---

१ तत्वार्थ सूत्र ६/२७ तथा इस सूत्र का भाष्य

२ ध्यानशतक, ४

३ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —पातजल योगसूत्र ३/१

४ नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे—इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा। —व्यास भाष्य

श्वास) को रोकता है, स्थिर करता है तथा मन एवं पवन को भ्रमर के समान गुञ्जारव करता हुआ घुमाता है।

जैन योग-सम्बन्धी ग्रन्थो में और विशेष रूप से आगम ग्रन्थों तथा विक्रम की आठवी शताब्दी से पूर्व रचित ग्रन्थो में धारणा को धर्मध्यान के एक भेद आलम्बन ध्यान में समाहित किया गया है। आलम्बन की अपेक्षा से धर्मध्यान के तीन भेद किये गये है—(१) परावलम्बन, (२) स्वावलम्बन और (३) निरवलम्बन।

स्वावलम्बन ध्यान मे स्वशरीरगत किसी एक स्थान अथवा अनेक स्थानों पर चित्त लगाया जाता है।

राजयोग में धारणा के स्थान पर 'त्राटक' शब्द का प्रयोग हुआ है। योग-प्रदीप नामक ग्रन्थ में त्राटक के तीन भेद बताये गये है—(१) आंतर त्राटक (२) मध्य त्राटक और (३) बाह्य त्राटक।

आंतर त्राटक मे साधक अपने भ्रूमध्य, नासाग्र, नाभि आदि स्थानों पर चित्तवृत्ति को लगाता है। धातु अथवा पत्थर-निर्मित वस्तु, काली स्याही आदि के धब्बे पर टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य त्राटक है। दीपक, चन्द्र, नक्षत्र, प्रातःकालीन सूर्य आदि दूरवर्ती पदार्थों पर दृष्टि स्थिर करना बाह्य त्राटक है।[1]

जैन योग मे जो 'एगपोग्गलनिविट्ठ दिट्ठी' और 'एगपोग्गलठितीए दिट्ठीए' शब्दों का प्रयोग हुआ है, उसके अन्तर्गत ही योग का धारणा और त्राटक अंग समाहित हो जाता है।

वस्तुतः धारणा,[2] ध्यान की पूर्वभूमिका है। अनादि काल से चंचल मन अचानक ही एक ध्येय पर एकाग्र नही हो जाता। धारणा के अभ्यास में साधक मन की चंचलता को सीमित करता है, असंख्य भावों, विचारों और वस्तुओं पर दौड़ते हुए मन को सात-पाँच-तीन-दो स्थानों पर दौड़ाता है और फिर एक स्थान पर उसे रोकने का प्रयास करता है। जब मन एक स्थान पर रुकने का अभ्यस्त हो जाता है तब ध्यान की स्थिति आती है। साधक ध्यान-योगी बनता है।

---

१ योग की प्रथम किरण, पृष्ठ १३१

२ धारणा शब्द विपश्यना आदि साधनाओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, उनका वर्णन इसी अध्याय में आगे किया गया है। —सम्पादक

धारणा का विषय पहले तो स्थूल होता है और फिर सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर होता चला जाता है। ज्यो-ज्यों साधक सूक्ष्म ध्येय पर चित्त को स्थिर करता जाता है, त्यो-त्यो वह प्रगति करता जाता है और चेतन स्वरूप को ध्येय बनाकर उसका साक्षात्कार करने मे सक्षम हो जाता है। यह उस साधक की ध्यानावस्था है।

इस प्रकार धारणा, ध्यान की पूर्वपीठिका और चित्त को एकाग्र एव स्थिर बनाने मे सहायक होती है।

धारणा और ध्यान मे अन्तर

धारणा और ध्यान में इतना अन्तर है कि धारणा में ध्येय के एक देश मे साधक अपनी चित्तवृत्ति को स्थापित करता है और ध्यान मे उसकी (चित्तवृत्ति की) एकाग्रता निष्पन्न होती है। इसीलिए योगसूत्रकार महर्षि पतजलि ने देशविशेष मे ध्येय वस्तु के ज्ञान की एकतानता को ध्यान कहा है।[1]

दूसरे शब्दो मे, जिस देशविशेष पर साधक धारणा का अभ्यास करते हुए अपने चित्त को स्थापित करता है, उसमे ध्येय वस्तु का ज्ञान अन्य किसी वस्तु के ज्ञान से अनभिभूत होकर जब एकाकार होता है तब उस साधक का ध्यान निष्पन्न होता है। ध्यान में चित्त की एकाग्रता अत्यन्त अपेक्षित होती है।

ध्यान का महत्त्व

ध्यान चित्त की एकाग्रता है। इसीलिए ध्यान, योग का सर्वस्व है, प्राण है और अष्टाग योग के अन्य सभी अगो से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सम्पूर्ण योग की आत्मा है।

ध्यान से कर्मों का क्षय बडी तीव्रता से होता है। कर्म-राशि को भस्म करने के लिए ध्यान जाज्वल्यमान अग्नि के समान है। इसके प्रकाश मे राग-द्वेष-मोह का अन्धकार बडी शीघ्रता से विनष्ट होता हैं। ध्यान से निष्पन्न होने वाली एकाग्रता से आध्यात्मिक विकास और आत्मिक विशुद्धि में अभूतपूर्व प्रगति होती है।

यही कारण है कि जैन आगमो मे ध्यान का सविस्तृत वर्णन तो हुआ

---

१ पातजल योगसूत्र ३/२

ही है साथ ही साथ आत्म-कैवल्य और आत्मनिर्वाण के साथ उसकी निकटता भी प्रदर्शित की गई है।

ध्यान के भेद-प्रभेद

जैन आगमों तथा ग्रन्थो में ध्यान के चार भेद[1] बताये गये है—(१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान, (४) शुक्लध्यान।

इनमें से प्रथम दो—आर्त और रौद्रध्यान अप्रशस्त हैं और बाद के दो—धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान प्रशस्त है। अप्रशस्त होने के कारण प्रथम दो ध्यान संसार के कारण है, कर्मबन्धन के हेतु है और बाद के दो ध्यान संसार से मुक्ति और कर्मक्षय के कारण है। प्रथम दो ध्यानों की संज्ञा दुर्ध्यान और अन्तिम दो ध्यानो की संज्ञा सुध्यान भी है।

संसार बन्धन के कारण होने की वजह से प्रथम दो ध्यानो को तप के अन्तर्गत नही माना गया और न ही इन्हे योग मे गिना गया है। तप के अन्तर्गत सिर्फ धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही आते हैं। अतः तपोयोगी साधक के लिए धर्मध्यान शुक्लध्यान ही ग्राह्य और उपादेय है तथा आर्त-रौद्रध्यान सर्वथा त्याज्य एव हेय है।

फिर भी जैसे दोष को जाने बिना दोष का परिमार्जन नही किया जा सकता उसी प्रकार आर्त-रौद्रध्यान को जानना और जानकर उन्हे छोड़ना ध्यानयोगी साधक के लिए अनिवार्य है। इसी हेतु से ध्यान के अन्तर्गत आर्त-रौद्रध्यान का विवेचन हुआ है।

आर्तध्यान

आर्तध्यान के उत्तर भेद चार[2] है—(१) इष्टवियोग, (२) अनिष्ट-

---

१ (क) भगवती २५/७, स्थानाग स्थान ४, औपपातिक सूत्र तपोऽधिकार सूत्र ३०
(ख) ज्ञानार्णव ३/२८-३१, मे आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान के (१) अशुभ, (२) शुभ और (३) शुद्ध—ये तीन भेद बताये है। किन्तु इन तीनो का आगमोक्त चार ध्यानो मे समावेश हो जाता है।
(ग) नमस्कार स्वाध्याय पृष्ठ २७५ मे ध्यान के २८ भेद भी बताये हैं।
(घ) तत्वार्थ सूत्र ९/२९-३०

२ (क) भगवती २५/७,
(ख) औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०
(ग) स्थानाग, स्थान ४
(घ) तत्त्वार्थ सूत्र, ९/३१-३४

संयोग, (३) प्रतिकूल वेदना अथवा पीड़ा चिन्तवन और (४) काम-भोगो की लालसा अथवा निदान।

(१) **इष्टवियोग आर्तध्यान**—धन-ऐश्वर्य, स्त्री-पुत्र आदि सासारिक काम-भोग के पदार्थ तथा यश-प्रतिष्ठा आदि का वियोग न हो जाय, इस प्रकार की चिन्ता करते रहना तथा वियोग होने पर उनके लिए हाय-हाय करते रहना, झुरते रहना, उदास और गमगीन बने रहना इष्टवियोग आर्तध्यान है।

(२) **अनिष्टसंयोग आर्तध्यान**—अनिष्ट और अप्रिय वस्तुओ, यथा—कोई मेरा शत्रु न बन जाये, कोई मुझे हानि न पहुँचा दे, मुझे हानि न हो जाय आदि ऐसी अनिष्ट वस्तुओ के सयोग की सम्भावना से चिन्तित, दुखी और उदास रहना तथा अनिष्ट सयोग हो जाने पर आकुल-व्याकुल हो जाना और सतत यह चिन्ता करते रहना कि इस आपत्ति से कब छुटकारा मिलेगा, यह सब अनिष्टसयोग आर्तध्यान है।

(३) **प्रतिकूल वेदना आर्तध्यान**—शारीरिक एवं मानसिक आधि-व्याधियो से ग्रस्त जीव उनसे छुटकारा पाने का जो रात-दिन चिन्तन किया करता है, वह प्रतिकूल वेदना आर्तध्यान है। साथ ही भविष्य मे कोई रोग न हो जाय, इस बात की चिन्ता करते रहना, रोग होने पर सतत रोग और पीडा में ही चित्तवृत्ति लगाये रखना अथवा भूतकाल में हुए रोग जो उपशमित हो चुके है, उनकी स्मृति करके दुःखी होते रहना—यह सब प्रतिकूल वेदना या पीड़ा चिन्तवन आर्तध्यान है।

(४) **निदान आर्तध्यान**—जो काम-भोग इस जीवन मे प्राप्त न हो सके हो, उन्हे अगले जीवन मे प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा और लालसा रखना, अपने प्रबल शत्रु से अगले जन्म में बदला लेने की प्रवल इच्छा रखना, आदि निदान आर्तध्यान है।

निदान की विशेषता यह है कि किसी भी प्रकार की विवशता (शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि) के कारण जिन काम-भोगो, वैर-वन्ध आदि को व्यक्ति इस जन्म मे पूरा नही कर पाता और उसके हृदय में उनके प्रति उद्दाम लालसा होती है, तो उन्हे अगले जन्मो में पूरा करने का वह दृढ़ सकल्प कर लेता है। यही निदान है।

संसार के अधिकांश प्राणी इस आर्तध्यान में ही निमग्न रहते हैं। कही इष्टवियोग का दुःख है तो कही अनिष्टसंयोग की पीड़ा है, कही रोग की चिन्ता है तो कही काम-भोगो की उद्दाम लालसा प्राणियो को जला रही

है। सार यह कि देव-दुर्लभ मानव-जीवन इस दुर्ध्यान—आर्तध्यान में भस्मीभूत हो रहा है।

इस दुर्ध्यान से ध्यानयोगी साधक को विशेष रूप से सावधान रहने तथा बचने की आवश्यकता है।

रौद्रध्यान

क्रूर, कठोर एव हिंसक व्यक्ति को रुद्र कहा जाता है। इन अतिशय क्रूर भावनाओ तथा प्रवृत्तियो से संश्लिष्ट ध्यान रौद्रध्यान है। क्रूरता और कठोरता का मूल कारण हिंसा, झूठ, स्तेय और विषय-सरक्षण की प्रवृत्ति है। इन प्रवृत्तियो के आधार पर रौद्रध्यान के भी चार[1] प्रकार है—(१) हिंसानुबन्धी, (२) मृषानुबन्धी, (३) स्तेयानुबन्धी और (४) विषय-संरक्षणानुबन्धी।

(१) **हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान**—रौद्र ध्यान के इस प्रथम प्रकार का आधार क्रोध कषाय है। क्रोध कषाय से सश्लिष्ट चिन्तन ही हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है। ऐसा व्यक्ति बहुत ही क्रूर और कठोर होता है। इसमे क्रोध का विष अधिक होता है। इसका स्वभाव निर्दय और बुद्धि पापमयी होती है। दूसरे प्राणियो को दुखी और पीडित देखकर यह हर्षित एव आनन्दित होता है। यह स्वयं भी प्राणियो को मारने मे तनिक भी नही हिचकिचाता। यह पाप कार्यों मे कुशल, दूसरो को पाप का उपदेश देने वाला तथा पापी जीवो की सगति करने वाला होता है।

ऐसे व्यक्ति के प्रमुख लक्षण—हिंसा के साधनो को एकत्र करना, हिंसक प्राणियों का पोषण करना, व्यर्थ की हिंसा करना और दयालु पुरुषो से द्वेष करना, उनकी मानहानि, अर्थहानि की योजनाओ में सदा तल्लीन रहना, आदि है।

इनकी लेश्या (कषायरजित परिणाम) अत्यधिक सक्लिष्ट और दुष्प्रभाव वाली होती है।

ध्यानयोगी साधक इस ध्यान को कभी नही करता, इससे दूर ही रहता है।

---

१ (क) भगवती २५/७
(ख) औपपातिक तपोऽधिकार सूत्र ३०
(ग) स्थानाग, स्थान ४
(घ) तत्त्वार्थ सूत्र ९/३६

(२) मृषानुबन्धी रौद्रध्यान—इस ध्यान वाले मनुष्य का चित्त सदा झूठ-फरेब, छल-कपट आदि में लगा रहता है। फलस्वरूप, वह सफेद झूठ बोलता है और अपना झूठ पकडे जाने पर भी ढीठ बना रहता है। ठगी, विश्वासघात, धूर्तता आदि उसके स्वभाव में होते है। वह दूसरे के साथ ठगी, कपट आदि करके प्रसन्न होता है।

(३) स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान—ऐसा व्यक्ति चोरी, तस्करी आदि के विषय में ही चिन्तन करता रहता है। परिणामस्वरूप वह सभी प्रकार की चोरियाँ भी करता है और अपनी चोरी की कला पर प्रसन्न होता है, गर्व करता है, इठलाता है और शेखी बघारता है।

(४) विषय संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान—काम-भोग के साधन एव धन आदि के संरक्षण, उन्हे और अधिक बढाने की लालसा, व्यापार आदि तथा धनोपार्जन के साधनो की, लाभवृद्धि की अभिलाषा आदि सभी विषय सरक्षणानुबन्धी चिन्तन रौद्रध्यान हैं। ऐसा मनुष्य काम-भोग के साधन, धन आदि सासारिक वैभव के संचय और सरक्षण मे सतत व्यस्त रहता है, उन्ही के बारे मे उसका चिन्तन चलता रहता है।

आर्त और रौद्र दोनो ही ध्यान आत्मा की अधोगति के कारण है। इनके मूल कारण राग-द्वेष-मोह और क्रोध आदि कषाय हैं। इसीलिए ये भव-भ्रमण और ससारवृद्धि के हेतु हैं। अतः इनकी गणना तपोयोग के अन्तर्गत नही की गई है।

तपोयोग के अन्तर्गत न होने पर भी ध्यानयोगी साधक के लिए आर्त-रौद्रध्यान को जानना जरूरी है। साधना मे सफलता प्राप्त करने के लिए साधक का इनका ज्ञान होना अनिवार्य है। अन्यथा वह इन दोनो ध्यानो से बचेगा कैसे ?

जो महत्त्व स्वर्णशोधक (Refiner) के लिए स्वर्ण मे मिले मैल को जानने का है, वही महत्त्व तपोयोगी साधक को इन आर्त-रौद्रध्यान को जानने का है। इन दोनो ध्यानो को जानकर इन्हे छोडना, यही ध्यानयोगी के लिए इष्ट है। इन दोनो ध्यानो का विसर्जन योग-मार्ग मे सहायक बनता है, यही इनको जानने की उपयोगिता है।

धर्मध्यान : मुक्ति-साधना का प्रथम सोपान

साधक के वे सब क्रिया-कलाप एव विचारणा, जिनमे धर्म की प्रमुखता हो और आर्त-रौद्र परिणाम न हो, धर्म-क्रियाओ में परिगणित होती

हैं, सामान्यतया उन्हें धर्म-ध्यान कहा जाता है। किन्तु योग की दृष्टि से धर्मध्यान का अभिप्राय कुछ अधिक गहरा है।

सामान्यतया धार्मिक अनुचिन्तन और तत्त्व-विचारणा को धर्मध्यान कहा जाता है, और है भी; लेकिन साधक—तपोयोगी साधक का धर्मध्यान तत्त्व-विचारणा और तत्त्व-चिन्तन से और भी गहरा होकर तत्त्व-साक्षात्कार तक पहुँचता है। ध्यानयोगी अपने निर्मल अध्यवसाय की प्रबलता से तत्त्वों के साक्षात्कार में प्रयत्नशील रहता है।

वस्तु अनन्त पर्यायात्मक है, अनन्त धर्मात्मक है। ध्यानयोगी साधक अपने ध्यान के लिए किसी भी एक अथवा अनेक गुणो, धर्मो तथा पर्यायो को ध्येय बनाकर, उनका आलम्बन लेकर अपने चित्त को उन ध्येयो अथवा आलम्बनो पर एकाग्र करता है; तब उसकी ध्यानयोग साधना सधती है।

धर्मध्यान की साधना मोक्ष का परम्परा कारण है, प्रथम सोपान है। तपोयोगी साधक मुक्ति-प्राप्ति के लिए विशिष्ट साधना करता है।

साधना की विशिष्टता, ध्याता की योग्यता, ध्यान के अवलम्बन आदि के आधार पर ध्यान के आठ अग माने गये है।

(१) **ध्याता**—ध्यान करने वाला साधक। साधक के चार लक्षण अथवा गुण शास्त्रो में बताये गये हैं—(क) **आज्ञारुचि**—यहाँ रुचि का अर्थ दृढ विश्वास—गहरी निष्ठा है। साधक को जिनेश्वर देव की आज्ञा, आर्हत् प्रवचन और सद्गुरुओ पर पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। (ख) **निसर्गरुचि**—आर्हत् धर्म, सर्वज्ञ और सद्गुरुओं की ओर उसकी स्वाभाविक रुचि होनी चाहिए। उसमे किसी प्रकार की लौकिक कामना, दबाव अथवा एषणा नही होनी चाहिए। ऐसी स्वाभाविक रुचि की उपलब्धि साधक को उसके दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से होती है। (ग) **सूत्ररुचि**—सूत्र अर्थात् आर्हत्-प्रवचन को सुनने, समझने और हृदयंगम करने की साधक मे तीव्र रुचि होना आवश्यक है; (घ) **अवगाढ रुचि**—साधक की रुचि अत्यन्त गहरी होनी चाहिए। यदि उसकी श्रद्धा, विश्वास आदि ढुलमुल होगे तो वह ध्यान-साधना में कभी भी सफल नही हो सकता।

इनके अतिरिक्त साधक के मन-मस्तिष्क में अपने स्वरूप को जानने की तथा संसार से मुक्त होने की प्रबल इच्छा आवश्यक है। साथ ही मन को नियन्त्रित करने, इन्द्रियो को वश मे रखने और आत्मा को संवृत रखने की क्षमता भी जरूरी है।

इन गुणों और क्षमताओं का धारक साधक ही ध्यान का अधिकारी होता है।

(२) ध्येय—ध्यान करने योग्य पदार्थ, वस्तु और आलम्बन जिसका ध्यान किया जा सके, जिस पर मन को टिकाया जा सके, एकाग्र किया जा सके।

(३) ध्यान—किसी एक विषय पर मन को केन्द्रित करना।

(४) ध्यान का फल—यह कर्मनिर्जरा है। इससे चित्त की पवित्रता और अन्तर्मुखी वृत्ति का विकास होता है।

(५) स्वामी—ध्यान का स्वामी तो अप्रमत्त मुनि है, किन्तु सयम की दिशा मे बढता हुआ साधक भी ध्यान का स्वामी होता है।

(६) क्षेत्र—वह स्थान जहाँ अवस्थित होकर ध्यान किया जा सके। वह स्थान जन-कोलाहल तथा डांस-मच्छर आदि की बाधा से रहित होना चाहिए। स्थान की शुचिता भी शुभ-ध्यान की स्थिरता में सहायक होती है।

साधक को ध्यान के लिए ऐसा स्थान चुनना चाहिए जहाँ राग-द्वेष के निमित्तो की अल्पता हो।

(७) काल—ध्यान का सर्वोत्तम समय ब्राह्म मुहूर्त है। उस समय मन प्रफुल्लित रहता है तथा शरीर मे ताजगी। ऐसे समय में चित्त सरलता से एकाग्र हो जाता है।

(८) योगमुद्रा—इसे आसन भी कहते है। जिस आसन से भी साधक का चित्त सरलता से एकाग्र हो सके और साधक अधिक समय तक सुखपूर्वक स्थिर रह सके, वही आसन साधक के लिए उचित है।

ध्यान-साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधक के लिए इन आठों अंगो की अनुकूलता अपेक्षित होती हैं, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका अभ्यास दृढ होता जाता है, इन अंगो की अनुकूलता न होने पर भी वह ध्यान मे लीन हो सकता है।

धर्मध्यान के आगमोक्त चार भेद

भगवती, स्थानाग, औपपातिक आदि आगमो तथा तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के चार भेद[1] बताये गये हैं—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय,

---

१ (क) भगवती २५/७
(ख) स्थानाग ४/१
(ग) औपपातिक सूत्र ३०
(घ) तत्त्वार्थसूत्र ९/३७

(३) विपाकविचय, (४) संस्थानविचय। धर्मध्यान के ये चारो भेद आगमोक्त हैं।

(१) **आज्ञाविचय धर्मध्यान**—आज्ञा का अभिप्राय है—किसी विषय को भली प्रकार जानकर उसका आचरण करना—(आसमान्तात् ज्ञायते आचरति)। योग-मार्ग में इसका अभिप्राय अरिहंत भगवान की आज्ञा, उनके द्वारा प्रणीत धर्म से है, तथा विचय का अर्थ है विचार; उस पर चित्त को एकाग्र करना धर्मध्यान है।

सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर देव ने वस्तु को प्रत्यक्ष देख-जानकर उसका उपदेश दिया है। उस उपदेश को जान-सुनकर साधक उन शब्दो के अर्थ को समझता है और फिर उन सभी तत्त्वो का आलम्बन लेकर साधक उनका साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। साधक द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार करने का यह प्रयत्न, आज्ञाविचय धर्मध्यान की साधना है। इसी साधना को **'आणाए तवो, आणाए संजमो'**[1] तथा **'आणाए मामग धम्म'**[2] सूत्र वाक्यों से प्रगट किया गया है।

(२) **अपायविचय धर्मध्यान**—अपाय का अर्थ दोष अथवा दुर्गुण हैं। राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि दोष हैं। उन दोषो की विशुद्धि के बारे में एकनिष्ठ होकर चिन्तन करना, अपायविचय धर्मध्यान है। साधक इस ध्यान मे दोषो को जानता-समझता व देखता है और उनसे बचने के उपायो का चिन्तन करता है।

(३) **विपाकविचय धर्मध्यान**—विपाक का अभिप्राय है कर्मफल। कर्मफल शुभ और अशुभ दोनो प्रकार का होता है। ध्यानयोगी साधक इन दोनो प्रकार के विपाको को जानकर कर्मबन्ध की प्रक्रिया से छुटकारा पाने के प्रयासो का चिन्तन करता है। विपाको को ध्येय बनाकर उन्हे अपने निज-स्वभाव से पृथक समझने की साधना करता है। साथ ही साधक गुणस्थानों के आरोह क्रम से इन कर्मों से आत्मा के सम्बन्ध विच्छेद के विषय में चिन्तन करता है।

(४) **संस्थानविचय धर्मध्यान**—सस्थान का अर्थ आकार है। ध्यानयोगी साधक इस धर्मध्यान में लोक के स्वरूप, छह द्रव्यो के

---

१ सम्बोधसत्तरि ३२

२ आचारांग ३/२

गुण-पर्याय, चातुर्गतिक संसार, द्रव्यो के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, लोक की शाश्वतता-अशाश्वतता, द्रव्य की परिणामिनित्यत्वता, देव-मनुष्य-नारक-तिर्यंच चतुर्गति और लोक के ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यग् भाग आदि का चिन्तन करता है। उक्त विषयो पर ध्यान केन्द्रित करता है तथा इस प्रकार आत्म-विशुद्धि करता है।[1]

धर्मध्यान के आलम्बन

अपने निश्चित ध्येय तक पहुँचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को आलम्बन की आवश्यकता पडती हैं। धर्मध्यान के साधक को भी इसी प्रकार आलम्बन आवश्यक है।

धर्मध्यान के आलम्बन चार है—(१) वाचना, (२) पृच्छना (३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा।

ये चारो स्वाध्याय तप के भी भेद है किन्तु स्वाध्याय से ध्यान में इतनी विशेषता है कि इनमें गहराई अधिक होती है और एकनिष्ठता का भी समावेश हो जाता है। स्वाध्याय तप मे तो ये स्वाध्याय के अंग हैं और ध्यान तप में ये आलम्बन हैं। इन आलम्बनो के सहारे ध्यानयोगी ध्यान में प्रवेश और प्रगति करता है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

अनुप्रेक्षा का अर्थ है—गहराईपूर्वक चिन्तन करना और उस चिन्तन मे तल्लीन हो जाना। धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—(१) एकत्वानुप्रेक्षा, (२) अनित्यानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा और (४) ससारानुप्रेक्षा।[2]

इन अनुप्रेक्षाओ का ध्यानयोग के सन्दर्भ मे विशेष महत्त्व है। अनुप्रेक्षायोग की साधना मे तो साधक चिन्तन-मनन तक ही सीमित रहता है

---

१ भगवान महावीर की ध्यानचर्या का वर्णन करते हुए बताया गया है—

अविझाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाण।
उड्ढ अहे तिरिय च, पेहमाणे समाहिपडिन्ने ॥

—आचाराग अ० ९, उ० ४, सूत्र १०८

भगवान महावीर ध्यान के योग्य आसन पर निश्चलरूप से स्थिर होकर ऊर्ध्व, अध और तिर्यक् लोकगत जीवाजीव पदार्थों का द्रव्य-पर्यायरूप से चिन्तन करते और आत्मशुद्धि का निरीक्षण करते थे।

२ अनुप्रेक्षाओ का विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक के 'भावना योग साधना' नामक अध्याय में किया गया है। —सम्पादक

किन्तु ध्यानयोग की भूमिका में इन अनुप्रेक्षाओ पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। एकत्व भावना के ध्यान में साधक स्वय को एक देखता है अर्थात् राग-द्वेष-कषाय आदि से अपनी आत्मा को विमुक्त देखता है। पर्याय दृष्टि से अनित्य अनुभव करता है। अशरण अनुप्रेक्षा द्वारा शुद्ध भावो को ही एक मात्र शरण और त्राता अनुभव करता है। संसारानुप्रेक्षा में वह ममत्व विसर्जन की साधना करता है।[1]

ध्येय की अपेक्षा से ध्यान के भेद

ध्येय की अपेक्षा से भी आचार्यों ने ध्यान के भेद किये है। इस अपेक्षा से ध्यान के तीन भेद है—(१) परावलम्बन ध्यान, (२) स्वावलम्बन ध्यान, (३) निरवलम्बन ध्यान।

(१) **परावलम्बन ध्यान**—यह ध्यान बाहरी अवलम्बनो का आधार लेकर किया जाता है। साधक इस प्रकार के ध्यान में बाह्य वस्तुओ अथवा पदार्थों का अवलम्बन लेता है। दशाश्रुतस्कंध मे बारहवी भिक्षु प्रतिमा में जो 'एक पुद्गल पर दृष्टि निक्षेप' ध्यान का वर्णन हुआ है, वह इसी ध्यान के अन्तर्गत है।

(२) **स्वावलम्बन ध्यान**—इसमें साधक बाहरी पदार्थों का अवलम्बन नही लेता; अपने विचारों एवं कल्पनाओ द्वारा निर्मित भावो कल्पना-चित्रों पर चित्त को एकाग्र करता है।

(३) **निरवलम्बन ध्यान**—इस ध्यान में साधक न बाहरी अवलम्बनो का आश्रय लेता है और आन्तरिक अवलम्बनो का। वह स्थिति पूर्णतया विचार और विकल्पशून्य होती है।

इस साधना में साधक का ध्यान स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता चला जाता है। सूक्ष्म होने पर साधक का चित्त स्थिर और सकल्प-विकल्प रहित हो जाता है, उसकी धर्मध्यान की साधना पूर्ण हो जाती है।

योग की अपेक्षा से धर्मध्यान के भेद

त्रियोग का निरोध और निश्चलता योग है। योग साधना का ध्येय तीनो योगो और विशेषरूप से मनोयोग को—चित्तवृत्ति को स्थिर करना, एक ध्येय पर लगाना है। चित्त की स्थिरता के लिए आचार्य हेमचन्द्र तथा शुभचन्द्र ने पाँच धारणाएँ बताई हैं—(१) पार्थिवी धारणा,

---

१ ध्यानशतक ३१

(२) आग्नेयी धारणा, (३) वायवी धारणा, (४) वारुणी धारणा और (५) तत्त्वरूपवती धारणा।[1] इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **पार्थिवी धारणा**—किसी भी आसन से बैठकर साधक मेरुदण्ड को सीधा रखता है और फिर नासाग्र पर दृष्टि को जमाकर अथवा आँखें बन्द करके कल्पना द्वारा इस चित्र को स्पष्ट सामने लाता है—मध्यलोक के समान विशाल और गोल आकृति का एक क्षीर सागर है, जिसमे दूध के समान सफेद जल भरा है। सागर मे हल्की-हल्की सहज तरगें उठ रही हैं। उसके मध्य में स्वर्ण के समान पीले रंग का चमकता हुआ हजार पखुडियो का एक कमल है। कमल की कर्णिका मेरु पर्वत के समान उत्तु ंग है। उसके सर्वोच्च शिखर पर अर्द्ध चन्द्राकार पाड्कशिला पर धवल श्वेत वर्ण का सिंहासन है। उस सिंहासन पर मेरा आत्मा (मैं स्वयं) आसीन है। कमल की कर्णिका और पंखुडियो से पद्मराग (पीला रंग) बिखर कर चारो ओर फैल रहा है और उसने समस्त दिशा-विदिशाओ को पीला कर दिया है।

यह सम्पूर्ण कल्पना चलचित्र के चित्रो के समान साधक के दृष्टि-पथ पर साकार होती है और वह पृथ्वी के बीज 'हं' 'सोऽहं का जप-ध्यान करता रहता है।

इस प्रकार की धारणा से साधक का मन ध्येय मे बँध जाता है, स्थिर हो जाता है।

वह पार्थिवी धारणा का स्वरूप है।

(२) **आग्नेयी धारणा**—पार्थिवी धारणा के पश्चात् साधक आग्नेयी धारणा की साधना करता है।

साधक पाडुकशिला स्थित सिंहासन पर विराजमान अपने आत्मा का चिन्तन करने के बाद, अपने नाभि-स्थान मे सोलह पखुडियो वाले एक कमल की रचना करता है, उन सोलह पखुडियो पर सोलह मातृ का वर्ण (अं, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ,ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, औ, औं, अ, अ) की स्थापना करता है तथा मध्य कर्णिका पर देदीप्यमान अग्नि के समान 'ह्र्ँ' या 'अर्हं' अक्षर की स्थापना करता है। तदुपरान्त हृदय स्थान पर धूम्र वर्ण के एक उल्टे लटके (अधोमुख) अष्ट दल कमल की कल्पना करता है, जिसकी आठो पखुडियो पर अष्ट कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और

---

१ हेमचन्द्राचार्य—योगशास्त्र ७/९

अन्तराय) की स्थापना करता है। तदुपरान्त ऐसा चिन्तन करता है कि 'अर्ह' या 'ह्र' अक्षर की रेफ से धुँआ निकल रहा है और फिर धुँआ धगधगाती जाज्वल्यमान अग्नि में परिवर्तित हो गया है। उस अग्नि ने अष्टकर्मों सहित अष्ट दल कमल को भी भस्म कर दिया है तथा वह ज्वाला मस्तक (कपाल) तक पहुँच गई है। वहाँ से अग्नि की एक लकीर बाईं ओर नीचे की तरफ तथा दूसरी दाईं ओर नीचे की तरफ उसके आसन तक आ पहुँची है तथा आसन के आधार से चलकर एक-दूसरी से मिल गई है। इस प्रकार एक त्रिकोण की आकृति बन गई है, जिसका आधार उसका आसन है और शीर्ष उसका कपाल। उसका सम्पूर्ण शरीर अग्निमय हो गया है तथा अग्नि का बीजाक्षर 'र' स्फुरित हो रहा है तथा त्रिकोण के तीनो कोणों और साधक के दोनो स्कन्धों पर अग्निमय स्वस्तिक निर्मित हो गये है।

इसके उपरान्त साधक कल्पना करता है कि अब जलाने को कुछ भी नही बचा अतः ज्वालाएँ शान्त हो गई हैं।

यह आग्नेयी धारणा का स्वरूप है।

(३) **वायवी धारणा**—इस धारणा में साधक कल्पना करता है कि तीव्रगति वाला चक्राकार पवन चल रहा है और उसने समस्त भस्म को उड़ा दिया हैं, साथ ही वायु के बीजाक्षर 'सोऽयं' का जप ध्यान भी करता जाता है।

यह वायवी धारणा का स्वरूप है।

(४) **वारुणी धारणा**—अब साधक कल्पना करता है कि उमड़-घुमड़ कर घटाएँ घिर आई है और बिजली कौंध रही है तथा सहस्रधारा जल वर्षा हो रही है, चारो ओर जल ही जल हो गया है तथा वह साधक भी आपाद-मस्तक उसमें डूब गया है। जो कुछ भी रज (कर्म-रज) अवशेष रह गई थी वह इस जल से साफ हो गई है और उसकी आत्मा स्वच्छ तथा निर्मल हो गई है।

इस सम्पूर्ण कल्पना में साधक जप का बीजाक्षर 'सोऽदं' का जप-ध्यान भी करता रहता है। कोई-कोई साधक जल के पर्यायवाची 'पानी' शब्द के आधार पर 'प' को भी बीजाक्षर मानते है।

यह वारुणी धारणा का स्वरूप है।

(५) **तत्त्वरूपवती धारणा**—इस धारणा में साधक अपनी आत्मा को

स्वच्छ, शुद्ध, कर्ममल से रहित—निर्मल देखता और अनुभव करता है। वह अपनी आत्मा को अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्तिसम्पन्न अनुभव करता है।

इन पाँच धारणाओ[1] के सिद्ध हो जाने पर साधक की आत्म-शक्तियाँ जागृत हो जाती है, वह बाहरी विरोधी शक्तियो से अपराजेय हो जाता है।

ध्यान-साधना की अपेक्षा धर्मध्यान के भेद

ध्यान साधना अथवा ध्यान आलम्बन की अपेक्षा से धर्मध्यान के चार भेद बताये गये है—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत[2]। हेमचन्द्राचार्य ने इन्हे आलम्बन रूप ध्येय कहा है।[3]

(१) **पिण्डस्थ ध्यान**—पिण्ड का अर्थ शरीर है और उसमे अवस्थित रहने वाला आत्मा है। पिण्ड यानी शरीर सहित आत्मा का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान है।

ऊपर जो पार्थिवी आदि धारणाओ का वर्णन किया गया है वह सब पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत है। इन पाँचो धारणाओ को सिद्ध करके आत्म-शक्तियो को जागृत करना, चित्तवृत्ति को एक ध्येय पर स्थिर करना पिण्डस्थ ध्यान है।

(२) **पदस्थ ध्यान**—यह अक्षरात्मक होता है। इसमें एकाक्षरी मन्त्र, जैसे 'ॐ' "ह्रँ" आदि का; दो अक्षरी मन्त्र, जैसे 'अर्हं' का तथा इसी प्रकार पैंतीस अक्षर वाले नवकार मन्त्र तथा नवपद का भी ध्यान किया जाता है।[4]

जप और जप-ध्यान मे अन्तर यह है कि जप मे तो मन्त्र की पुनरावृत्ति मात्र होती है और जप-ध्यान मे मन्त्र का उसके रग आदि के साथ साक्षात्कार भी किया जाता है, अर्थात् मन्त्र के अक्षर, उनके निर्धारित रगो

---

१ आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र ७/९-२८

२ पदस्थ मन्त्रवाक्यस्थ, पिण्डस्थ-स्वात्मचिन्तनम् ।
रूपस्थसर्वचिद्रूपं, रूपातीतनिरजन ।।
—योगीन्दुदेवकृत परमात्मप्रकाश की टीकागत श्लोक

३ पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान के विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य हैं योगशास्त्र के प्रकाश सख्या ७,८,९ और दसवें प्रकाश के छठे श्लोक तक।

४ नवकार-नवपद आदि महत्त्वपूर्ण मन्त्रों की साधना का विस्तृत सागोपाग वर्णन इसी पुस्तक के अन्तिम अध्याय मे किया गया है। —सम्पादक

और तत्त्वों आदि के साथ साधक के ज्ञान चक्षुओं के समक्ष स्पष्ट प्रतिभासित होते है।

पदस्थ ध्यान में साधक अपनी इच्छानुसार विभिन्न मन्त्रों का जप-ध्यान करके चित्तवृत्तियो को स्थिर करता है।

(३) **रूपस्थ ध्यान**—रूपयुक्त तीर्थंकर आदि इष्टदेव का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। इसमें साधक अरिहत भगवान का समवसरण-स्थित रूप में ध्यान करता है और स्वयं को उसमें तल्लीन बना लेता है।

(४) **रूपातीत ध्यान**—इसमें साधक निरंजन, निर्विकार, सिद्ध स्वरूप का अथवा अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करता है।

यह ध्यान निरवलम्बन है। इसमें न किसी प्रकार का मन्त्र-जप होता है, न कोई अवलम्बन; साधक अपनी शुद्धात्मा के स्वरूप को स्थिर होकर जानता है, देखता है और उसी में तल्लीन होता है, आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख आदि गुणों में अपनी चित्तवृत्ति को स्थिर कर लेता है।

धर्मध्यान की फलश्रुति

धर्मध्यान की साधना से लेश्याओं की शुद्धि, वैराग्य की प्राप्ति और शुक्लध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। धर्मध्यान, शुक्लध्यान का उपाय-भूत ध्यान है। यह मोक्ष मन्दिर में पहुँचने की प्रथम सीढी है और इसके बाद की अन्तिम सीढ़ी शुक्लध्यान है।

अतः योग-मार्ग में प्रवृत्त साधक के लिए तीनो योगों (मन, वचन, काया) की स्थिरता और मानसिक शान्ति तथा आध्यात्मिक जागृति एवं उन्नति के लिए धर्मध्यान बहुत ही उपयोगी है। साथ ही यह मुक्ति प्राप्ति की परम्पर साधना है। परम्पर साधना इस अपेक्षा से कि इसके बाद साधक शुक्लध्यान की साधना करता है जो कि मुक्ति का साक्षात कारण है, और शुक्लध्यान की साधना से वह मुक्ति प्राप्त करता है।

महाप्राणध्यान साधना

जैन योग और जैन योगियो की विशिष्ट ध्यान साधना पद्धति महा-प्राणध्यान साधना है। यह साधना जैन परम्परा के योगियों और साधको में ही प्रचलित थी, अन्य योग सम्प्रदायो में इस साधना पद्धति का कोई उल्लेख नही मिलता। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि महाप्राण-ध्यान साधना, जैन योग की एक विशिष्ट साधना पद्धति है।

महाप्राणध्यानयोग मे साधक अपने तीनो योगो को निश्चेष्ट करने की साधना करता है। इस साधना के लिए वह अपने प्राणो को स्थूल से सूक्ष्म करता है। प्राण से यहाँ अभिप्राय है श्वासोच्छ्वास।

साधक श्वासोच्छ्वास की गति धीमी करता जाता है। धीरे-धीरे सतत अभ्यास से गति इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि साधक का शरीर निश्चेष्ट शव के समान पडा रहता है, सिर्फ ब्रह्मरन्ध्र मे ही प्राण का सचार होता रहता है।

इस ध्यान-साधना से मस्तिष्कीय शक्तियाँ अत्यधिक विकसित हो जाती है, द्वादशाग श्रुत की विशाल राशि का पारायण साधक एक अन्त-र्मुहूर्त (४८ मिनट से कम समय) में ही करने मे सक्षम हो जाता है, उसकी अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमताएँ भी बहुत विकसित हो जाती हैं, वह भूत-भविष्य की बातें भी जानने लगता है।

असाधारण साधक तो इतना उच्च श्रेणी पर अवस्थित हो जाता है कि वह अपने प्राणो को ब्रह्मरन्ध्र तक ही सीमित रखता है। ऐसे योगी शान्त, एकान्त, निर्जन वन, कन्दराओ मे ध्यानस्थ रहते थे। साधारण साधक ब्रह्मरन्ध्र के साथ पैर के अँगूठे मे भी प्राणधारा को प्रवाहित रखते थे अतः पैर के अँगूठे को दबाने से उनकी समाधि खुल सकती थी, प्राणो का प्रवाह पूरे शरीर मे होने लगता था।

इस विशिष्ट साधना का ध्येय संवर और निर्जरायोग की उत्कृष्ट साधना था। तीनो योगो के स्थिर होने से सवरयोग सधता था तथा पुराने संचित और आत्मा से लिप्त कर्म निर्जीर्ण होते चले जाते थे। साधक की कर्म-निर्जरा तीव्र गति से होती थी। साधक दीर्घकाल तक—महीनों तक समाधि मे लीन रह सकता था।

साधारणतया महाप्राणध्यान की साधना पूर्वज्ञान के धारक उत्कृष्ट योगी किया करते थे। इससे उनका ज्ञान निर्मल रहता था और विस्मृत नही हो पाता था। पूर्वज्ञान की विलुप्ति और दृष्टिवाद अग की विलुप्ति के साथ यह ध्यान साधना भी विलुप्त हो गई। अब तो इस ध्यान साधना और साधको का उल्लेख मात्र ही शास्त्रो मे प्राप्त होता है।

इस महाप्राणध्यान साधना के साधको के दो नाम प्राचीन ग्रथो में विशेष रूप मे प्राप्त होते हैं। उनमें से एक साधक है—अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु और दूसरे है—आचार्य पुष्यमित्र।

आचार्य भद्रबाहु महासाधक थे। इन्होने महाप्राणध्यान की साधना नेपाल की एकान्त, शान्त, निर्जन गुफा में की थी। इनके साथ कोई उत्तर-साधक होने का उल्लेख नही मिलता, अर्थात् इन्होने अकेले ही साधना की थी। अकेले साधना करने वाले साधक का मनोबल बहुत ऊँचा होता है, वह स्वयं ही महाप्राणध्यान साधना से पहले काल-मान निश्चित कर लेता है कि 'अमुक समय तक मैं समाधिस्थ रहूँगा' और फिर अपने प्राणों को सूक्ष्म अतिसूक्ष्म कर लेता है। उस समय उसका आसन 'पर्यंकासन' अथवा 'शवासन' होता है। सूक्ष्मतम प्राण उसके ब्रह्मरंध्र में ही गतिशील रहता है।

ऐसी उच्च कोटि की महाप्राणध्यान साधना श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने की थी।

दूसरे साधक थे आचार्य पुष्यमित्र। ये भी महाप्राणध्यान साधना करना चाहते थे। प्राणो को सूक्ष्म करने की विधि तो इन्हें ज्ञात थी किन्तु इन्हें एक कुशल उत्तरसाधक की आवश्यकता थी।

आचार्य पुष्यमित्र का एक शिष्य था। था तो वह अत्यन्त कुशल, मेधावी और सजग-सावधान; किन्तु आचार्यश्री से किसी बात पर थोडा सा मतभेद हो जाने के कारण वह अन्यत्र चला गया था। आचार्यश्री ने उसे योग्य उत्तरसाधक समझकर अपने पास बुलाया और महाप्राण ध्यान साधना करने की अपनी इच्छा प्रगट की तथा उसे उत्तरसाधक बनने को कहा। शिष्य ने उत्तरसाधक बनने का गुरुतर कार्य स्वीकृत कर लिया। आचार्यश्री धर्मस्थानक के भीतरी कक्ष में जाकर महाप्राणध्यान साधना में लीन हो गये और शिष्य ने उत्तरसाधक का भार सँभाल लिया।

उत्तरसाधक का कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। उस पर जिम्मेवारी भी अत्यधिक होती है। साधक के शरीर की सुरक्षा, समाधि के बाह्य विघ्नो आदि से सुरक्षा का भार उसी पर होता है। साधक तो समाधि में लीन होकर निश्चेष्ट हो जाता है; किन्तु बाहरी सभी व्यवधानो और बाधाओ का निराकरण करने का भार उत्तरसाधक पर आ जाता है। कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती है,'अज्ञानी एवं समाधि की इस उच्च भूमिका से अनभिज्ञ लोग वातावरण को इतना दूषित कर देते हैं, कि उत्तरसाधक उस विपरीत परिस्थिति को सँभाल नही पाता और उसे साधक की समाधि असमय ही भंग करनी पड़ती है। वह साधक के दाएँ पैर के अँगूठे को

दबाकर उसकी ऊर्ध्वगतिशील चेतना धारा को नीचे लाता है। परिणामस्वरूप साधक के संपूर्ण शरीर में प्राणो का सचार हो जाता है, उसकी समाधि भंग हो जाती है।

ऐसी ही स्थिति आचार्य पुष्यमित्र के शिष्य उत्तरसाधक के सामने उपस्थित हो गई, उसे भी अपने गुरुदेव की समाधि भंग करनी पड़ी।

घटना यो हुई—

आचार्य पुष्यमित्र तो कक्ष में जाकर 'शवासन' (शरीर का शव के समान निश्चल, निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाना—शारीरिक हलन-चलन का पूर्ण अभाव होना) से लेट गये और प्राण को अतिसूक्ष्म करके महाप्राण-ध्यान साधना में लीन हो गये। उनका उत्तरसाधक वह शिष्य सावधानी से चौकसी करने लगा कि कोई भी व्यक्ति उनके पास जाकर उनकी समाधि भग न कर दे।

आचार्यश्री के और भी शिष्य थे। उन्होने देखा कि आचार्यश्री बाहर नही आ रहे है तो वे दो-तीन दिन तो चुप रहे, फिर उन्होने आचार्यश्री के पास जाने का आग्रह किया। उस शिष्य ने उन्हें रोका। इस पर इन्हे उत्तर-साधक पर शक हो गया कि 'इसने गुरुदेव को मार दिया है, अन्यथा उनके दर्शनो से रोकने का दूसरा क्या कारण हो सकता है।' अब तो उनका आग्रह अधिक उग्र हो गया। उत्तरसाधक ने खिडकी से उन शिष्यो को गुरुदेव के दर्शन करा दिये।

शिष्यों ने गुरुदेव को निश्चेष्ट शव के समान स्थिर देखा तो उनका शक विश्वास में बदल गया। उन्होने तुरन्त यह समाचार श्रावक संघ तक पहुँचा दिया और श्रावक संघ ने राजा को कह सुनाया। राजा भी आचार्य-श्री का परम भक्त था। तुरन्त राजा सहित श्रावक सघ और नगर के नर-नारी इकट्ठे हो गये और उस उत्तरसाधक को बुरा-भला कहने लगे। भीषण संकट उपस्थित हो गया।

इस सकट से उबरने का उत्तरसाधक के पास एक ही उपाय था, और वह था गुरुदेव की समाधि को भंग करना। उसने ऐसा ही किया। गुरुदेव के दाहिने पैर का अँगूठा दबाया। गुरुदेव की प्राणधारा जो ब्रह्मरंध्र मे ही बह रही थी, अधोमुखी हुई, संपूर्ण शरीर मे प्राणों का संचार हुआ। गुरुदेव उठ बैठे, आँखे खोलकर उत्तरसाधक से कहा—वत्स ! इतनी जल्दी तुमने मेरी समाधि क्यो भंग कर दी ? मैं तो लम्बे समय तक समाधिस्थ रहना चाहता था।

ता। इसके लिए साधक मे विशिष्ट मानसिक तथा शारीरिक
त है।

प्रकार बच्चो के पटाखो में प्रयुक्त होने वाले साधारण कोटि के
हाड नही उडाये जा सकते, उसके लिए विशिष्ट शक्तिशाली
आवश्यकता होती है और उस बारूद को सुरक्षित रखने के लिए
बूत लोहे के सिलिण्डर की भी आवश्यकता होती है; साथ ही
चे दर्जे की (१६००० वोल्ट की) विद्यु त-धारा भी आवश्यक होती
नो साधनो के अभाव में पहाड़ नही उड़ाये जा सकते।

ी स्थिति सघन, सचिक्कण, अत्यन्त प्रगाढ रूप से आत्मा के साथ
ानन्तानन्त पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं के समूह को नष्ट करने के बारे
लध्यानी साधक का शरीर इतना बलिष्ठ होना चाहिए कि वह
र के उपसर्गों और परीषहो को समभाव से सहन कर सके, साथ
हो जिससे साधना में विघ्न रूप न होकर सहायक बने। उसका
व इतना प्रबल हो कि इन्द्र का ऐश्वर्य देखकर भी न डिगे और
आत्मिक ऊर्जा इतनी उत्कृष्ट हो कि वह ध्यानाग्नि द्वारा कर्म
स्म कर सके।

शक्तियों की अपेक्षा से शुक्लध्यान की योग्यता उत्तम संहनन-
बताई है।

ए स्थानांग[2] आदि आगमों में शुक्लध्यानी के लिंग, आलम्बन
का वर्णन किया गया है।

शुक्लध्यानी के लिंग

भिप्राय चिन्ह अथवा लक्षण है। शुक्लध्यानी के चार

लध्यानी साधक मानव, देव, तिर्यंच ।
े को समभाव से सहने मे ...
ा प्रतीकार करता है और न

१३ शुक्लध्यान एवं समाधियोग

शुक्लध्यान : मुक्ति की साक्षात साधना

शुक्लध्यान, ध्यानयोग की सर्वोत्कृष्ट दशा है। इसमें चित्तवृत्ति की एकाग्रता तथा निरोध पूर्ण रूप से सम्पन्न होता है। वीतरागता की साधना इसी दशा मे पूर्णत्व को प्राप्त होती है। साधक जिस लक्ष्य को लेकर योगमार्ग पर प्रवृत्ति करता है, इस ध्यान की दशा में उस लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

ध्यानशतक की टीका मे हरिभद्रसूरि ने शुक्लध्यान का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—'शोकनिवर्तक और एकाग्रचित्त निरोध' किया है; अर्थात् जिससे आत्मगत शोक की सर्वथा निवृत्ति हो जाय ऐसा एकाग्रचित्तनिरोध शुक्लध्यान है।[1]

शुक्लध्यानी साधक के मन की सभी विषय-वासनाएँ और कषाय नष्ट हो जाते है, परिणामस्वरूप उसकी चित्तवृत्ति निर्मल हो जाती है। इसीलिए शुक्लध्यान का वर्ण शख के समान श्वेत माना गया है। निर्मल चित्तवृत्ति होने से उसके ध्यान में स्थिरता आती है, मन विभावो और बाह्य भावो मे नही दौडता तथा शुद्ध आत्मस्वरूप और आत्मिक गुणो पर एकाग्र हो जाता है। चित्त की निर्मलता और ध्यान की एकाग्रता से साधक की कर्म-निर्जरा तीव्र गति से होती है। वह गुणस्थानो का आरोहण करता हुआ, अनेक जन्मो के संचित और सश्लिष्ट कर्मों को मुहूर्त मात्र (४८ मिनट) में ही क्षय करने मे समर्थ हो जाता है।

शुक्लध्यान का अधिकारी

ऐसी महान् सामर्थ्य और क्षमता प्रत्येक तथा साधारण साधक प्राप्त

---

१ शुच क्लमयतीति शुक्ल —शोकं ग्लपयतीत्यर्थं।

—ध्यानशतक, श्लोक १ की टीका

नही कर पाता। इसके लिए साधक में विशिष्ट मानसिक तथा शारीरिक शक्ति अपेक्षित है।

जिस प्रकार बच्चो के पटाखो में प्रयुक्त होने वाले साधारण कोटि के बारूद से पहाड़ नही उडाये जा सकते, उसके लिए विशिष्ट शक्तिशाली बारूद की आवश्यकता होती है और उस बारूद को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त मजबूत लोहे के सिलिण्डर की भी आवश्यकता होती है; साथ ही बहुत ही ऊँचे दर्जे की (१६००० वोल्ट की) विद्युत-धारा भी आवश्यक होती है—इन तीनों साधनों के अभाव मे पहाड नही उड़ाये जा सकते।

यही स्थिति सघन, सचिक्कण, अत्यन्त प्रगाढ रूप से आत्मा के साथ संश्लिष्ट अनन्तानन्त पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं के समूह को नष्ट करने के बारे में है। शुक्लध्यानी साधक का शरीर इतना बलिष्ठ होना चाहिए कि वह सभी प्रकार के उपसर्गों और परीषहो को समभाव से सहन कर सके, साथ ही स्वस्थ हो जिससे साधना में विघ्न रूप न होकर सहायक बने। उसका वैराग्य-भाव इतना प्रबल हो कि इन्द्र का ऐश्वर्य देखकर भी न डिगे और शक्ति एवं आत्मिक ऊर्जा इतनी उत्कृष्ट हो कि वह ध्यानाग्नि द्वारा कर्म समूह को भस्म कर सके।

इन्ही शक्तियों की अपेक्षा से शुक्लध्यान की योग्यता उत्तम संहनन-धारियो[1] को बताई है।

इसीलिए स्थानांग[2] आदि आगमों में शुक्लध्यानी के लिंग, आलम्बन और अनुप्रेक्षाओ का वर्णन किया गया है।

शुक्लध्यानी के लिंग

लिंग का अभिप्राय चिन्ह अथवा लक्षण है। शुक्लध्यानी के चार लक्षण होते हैं—

(१) **अव्यथ**—शुक्लध्यानी साधक मानव, देव, तिर्यंच कृत उपसर्गों और सभी प्रकार के परीषहो को समभाव से सहने में सक्षम होता है। वह न तो भयभीत होता है, न उनका प्रतीकार करता है और न ही अपने मन को

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ९/२७, वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच और नाराच—ये तीन उत्तम संहनन हैं।

२ स्थानाग, स्थान ४, उद्देशक १, सूत्र २४७

विचलित ही करता है; अपितु उनको समभावपूर्वक सहता हुआ अपनी साधना में निरत रहता है।

(२) असम्मोह—शुक्लध्यानी साधक की श्रद्धा अचल होती है। देव-दानव-गन्धर्व-राक्षस-मनुष्य कोई भी उसे उसकी श्रद्धा से नही डिगा सकता। इन्द्र आदि भी अपनी विकुर्वणा से उसे विचलित नही कर सकते।

(३) विवेक—शुक्लध्यानी साधक का तत्त्व-विषयक विवेक बहुत गहरा होता है। वह जीव को जीव और अजीव को अजीव मानता है। आत्मा और शरीर की पृथक्ता का उसे पूर्ण विश्वास होता है।

(४) व्युत्सर्ग—वह सभी प्रकार की आसक्तियों से विमुक्त होता है। उसमें भोगेच्छा और यशेच्छा किंचित् मात्र भी नही होती। इन्द्र की विभूति और ऐश्वर्य को भी तृणवत् मानता है, उसकी ओर आँख उठाकर भी नही देखता तथा निरन्तर अपने वीतराग भाव मे निरत रहता है और उसे बढाता जाता है।

इन लक्षणो से शुक्लध्यानी योगी की पहचान की जा सकती है।

शुक्लध्यान के आलम्बन

ध्यान के सन्दर्भ में आलम्बन साधक के लिए सहायक रूप में होते हैं जिनके सहारे से साधक आत्मिक प्रगति के सोपानो पर चढ़ता है तथा शिखर पर पहुँचता है। ये आलम्बन[1] चार है—

(१) क्षमा—शुक्लध्यानी साधक क्रोधविजेता होता है। उसमे उत्तम क्षमा साकार होती है। कैसा भी क्रोध का प्रसंग सामने उपस्थित हो, किन्तु उसके मानस मे कभी क्रोध नही आता।

(२) मार्दव—शुक्लध्यानी साधक मान (कषाय) पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन-मस्तिष्क मे मान सम्बन्धी विचार भी नही आते।

(३) आर्जव—शुक्लध्यानी साधक का चित्त अत्यन्त सरल होता है, वह माया (कपट) का पूर्ण रूप से परित्याग कर चुका होता है।

(४) मुक्ति—शुक्लध्यानी साधक लोभ से पूर्णतया मुक्त होता है।

क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति (निर्लोभता)—इन चार आलम्बनों द्वारा शुक्लध्यानी साधक अपनी साधना मे प्रगति करता है। शुक्लध्यान मे आरूढ़ होता है।

---

1 ध्यानशतक ६९

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएँ

चंचल मन को स्थिर करने के लिए शुक्लध्यानी साधक चार अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करता है।

(१) **अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा**—इस अनुप्रेक्षा में साधक संसार का अथवा अनंत भव परम्परा का चिन्तन-मनन करता है।

(२) **विपरिणामानुप्रेक्षा**—इस अनुप्रेक्षा में साधक वस्तुओ के परिणमनशील स्वभाव पर चिन्तन करता है। वह विचार करता है कि सभी वस्तुएँ प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है, शुभ अशुभ में बदलती है और अशुभ शुभ मे। अतः सभी वस्तुएँ अहेयोपादेय (न ग्रहण करने योग्य और न छोड़ने योग्य) है। इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन से साधक की वस्तुओ, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी आसक्ति छूट जाती है।

(३) **अशुभानुप्रेक्षा**—इस अनुप्रेक्षा में साधक संसार के अशुभ रूप का गहराई से चिन्तन करता है। फलस्वरूप उसका निर्वेद भाव प्रबल हो जाता है।

(४) **अपायानुप्रेक्षा**—अपाय का अर्थ है दोष। साधक इस अनुप्रेक्षा में आस्रव आदि दोषों पर गहराई से चिन्तन करता है। इससे वह आस्रवों से विरक्त हो जाता है।

इन भावनाओं के चिन्तन-मनन-अनुशीलन से साधक की बहिर्मुखता नष्ट हो जाती है, उसका चित्त वैराग्य में और ध्यान साधना में दृढ़ हो जाता है।

कर्म-ग्रंथों की अपेक्षा से विचार किया जाय तो शुक्लध्यान के अधिकारी दो प्रकार के साधक ही हो सकते है—(१) क्षीणकषायी, जिनके दर्शनमोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी (अनन्त संसार में परिभ्रमण कराने वाले) क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय पूर्णतया नष्ट हो गये हो; और (२) उपशान्त कषायी, जिनके ये कषाय उपशमित—शान्त हो गये हो।

शुक्लध्यान की साधना करने वाला साधक श्रेणी का आरोहण करता है तथा श्रेणी आरोहण के लिए अनन्तानुवन्धी कषायों का अभाव अत्यावश्यक है, इन कषायो के सद्भाव में श्रेणी आरोहण हो ही नही सकता। इसीलिए शुक्लध्यानी साधक इन कषायों से दूर ही रहता है, इन कषायो को उपशमित एवं क्षय करता है। कषाय का किंचित् भी सद्भाव शुक्लध्यान का सबसे बड़ा विघ्न है। इसीलिए शुक्लध्यान के चार आलंबन बताये गये है, जिनमें कषायविजय स्पष्टतया सन्निहित है।

शुक्लध्यान के भेद

शुक्लध्यान के चार भेद बताये है—(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार (२) एकत्ववितर्क अविचार (३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती और (४) व्युपरतक्रिया निवृत्ति।

इन मे से प्रथम दो ध्यान (पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार) आठवें से बारहवें गुणस्थान अर्थात् छद्मस्थ योगी को होते हैं और शेष दो ध्यान सर्वज्ञ केवलज्ञानी को होते है। इनमें से भी चतुर्थ ध्यान केवली को भी आयु के अन्तिम भाग में होता है।

प्रथम दो भेदो मे बाह्य अवलंबन की आवश्यकता तो बिल्कुल नही रहती किन्तु श्रुतज्ञान और योग का अवलंबन रहता है तथा अन्तिम दो ध्यानों में किसी भी प्रकार का अवलम्बन नही रहता। इस अपेक्षा से शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद सावलंबन और अन्तिम दो भेद निरवलम्बन होते है।

यद्यपि तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी परमात्मा सयोगी होते हैं, अर्थात् उनके मन-वचन-काया तीनो योग होते है और इन तीनों योगो का व्यापार भी होता है—अर्थात् वे धर्मोपदेश भी देते हैं और गमनागमन क्रिया भी करते है किन्तु उनका शुक्लध्यान (सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती) इन योगो के आश्रित नही होता, योग वहाँ द्रव्य रूप से उपस्थित रहते हैं, भावरूप से नही।

अतः इस अपेक्षा से, अर्थात् योगो[1] की अपेक्षा से—

(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार शुक्लध्यान—तीनो योग वाले को, मन-वचन-काया—इन तीनो योग वालो को,

(२) एकत्ववितर्क अविचार शुक्लध्यान—तीनो मे से किसी एक योग वाले को,

(३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान—केवल काय योग वालो को,

(४) समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान—सर्वयोगरहित अयोगी; को होता है।

---

१. त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्। —तत्त्वार्थ सूत्र ९/४२

ज्ञान की अपेक्षा शुक्लध्यान के प्रथम दोनो भेदों में उत्कृष्ट श्रुतज्ञान होता है तथा अन्तिम दोनो भेदो में सिर्फ केवलज्ञान ।

प्रथम दोनो शुक्लध्यानो का आश्रय एक है—श्रुतज्ञान । आगमों और शास्त्रो मे बताया गया है कि प्रथम दो शुक्लध्यानो के अधिकारी श्रुत-केवली, चौदह पूर्वधर आदि विशिष्ट श्रुतज्ञानी होते है ।[1] पूर्वज्ञान के आश्रय से ही साधक शुक्लध्यान का प्रारंभ करता है। ये दोनो ही सवितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित है ।[2]

इनमें से पहला शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्क सविचार, भेदप्रधान है। पृथक्त्व का अर्थ है भेद, वितर्क का अभिप्राय श्रुतज्ञान और विचार का अभिप्राय अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण है ।[3]

दूसरा शुक्लध्यान अभेद अर्थात् एकत्व-प्रधान है, इसमें अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण नही होता ।

इन पारिभाषिक शब्दो का अभिप्राय समझ लेने के बाद यह हृदयंगम करना सरल होगा कि साधक शुक्लध्यान की साधना किस प्रकार करता है।

(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार शुक्लध्यान

इस शुक्लध्यान में साधक श्रुतज्ञान के आधार पर जीवाजीव पदार्थों का द्रव्य-भाव आदि विविध नयों और दृष्टियों के आलंबन सहित ध्यानावस्थित होता है।

उसका ध्यान भेद-प्रधान होता है। इस ध्यान में वह शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर, एक पर्याय से दूसरी

---

१ (क) शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः । —तत्त्वार्थ सूत्र ९/३९

विशेष—मरुदेवी माता, माषतुष मुनि आदि के दृष्टान्त ऐसे है कि उन्होने विशेष ज्ञान, पूर्व आदि के ज्ञान के विना ही कैवल्य प्राप्त किया है। इतना तो निश्चित है कि क्षपक श्रेणी आरोहण और शुक्लध्यान के विना कैवल्य नही प्राप्त हो सकता । अत. यह समझना उचित होगा कि सामान्यत तो शुक्लध्यान के लिए पूर्वज्ञान अपेक्षित है, किन्तु उत्कृष्ट भावना वाले साधक, पूर्वज्ञान के अभाव मे भी श्रेणी आरोहण और शुक्लध्यान करके कैवल्य प्राप्त कर सकते हैं।

—सपादक

२ वितर्कः श्रुतम् । —वही ९/४५

३ विचारोऽर्थव्यजनयोग सक्रान्ति । —वही ९/४६

पर्याय पर, मनोयोग से वचनयोग पर, वचनयोग से काययोग पर—इस प्रकार अर्थ, व्यंजन और योग पर उसका ध्यान संक्रमित होता रहता है।

इस संक्रमण का अर्थ साधक के ध्यान में विक्षेप नही है अपितु सिर्फ आलंबन का ही परिवर्तन है और यह आलंबन भी आन्तरिक होता है, बाह्य नही होता तथा सहज ही होता रहता है, इसमें प्रयत्न अपेक्षित नही है।

ध्यान की इस पृथक्त्व और संक्रमणशील स्थिति के कारण ही यह शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्क सविचार कहा जाता है।

(२) एकत्व-वितर्क अविचार शुक्लध्यान

प्रस्तुत शुक्लध्यान में साधक, श्रुतज्ञान का आश्रय लेते हुए भी अभेद-प्रधान ध्यान में लीन होता है। न उसका ध्यान अर्थ आदि पर संक्रमण करता है और न योगों पर ही। उसका ध्यान निर्वात स्थान पर दीपशिखा के समान अचंचल और निष्कंप होता है, उसमें किसी भी प्रकार की चंचलता नही रहती, उसका ध्यान स्थिर हो जाता है।

साधक इस ध्यान की दशा में निर्विचार होता है, मन संकल्प-विकल्पो से शून्य हो जाता है। उसके समस्त संकल्प-विकल्प, आवेग-सवेग समाप्त हो जाते है। अवचेतन, अर्द्धचेतन और चेतन मन संकल्पों से सर्वथा रहित होकर स्वच्छ दर्पण के समान हो जाते हैं। मनोलय अर्थात्—आत्मज्ञान में मन के विलय की स्थिति आ जाती है।

इस ध्यान की पूर्णता—अन्तिम स्थिति में भाव-मन आत्म-सत्ता में लीन हो जाता है।

इस शुक्लध्यान की साधना से साधक को एक विशेष प्रकार के उदात्त अनुभव की प्राप्ति होती है। अब तक साधक को आत्म-सत्ता की जो परोक्ष अनुभूति होती थी, वह अनुभूति प्रत्यक्ष हो जाती है।

इसके प्रभाव से आत्मा को सर्वपदार्थबोधक ज्ञान, दर्शन की प्राप्ति हो जाती है और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के कर्मावरणो का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। परिणामस्वरूप आत्मा की शक्तियो का परिपूर्ण विकास हो जाता है और साधक की आत्मा मध्यान्ह के सूर्य के समान चमकने लगती है, आभासित होने लगती है। साधक को कैवल्य (केवलज्ञान-केवलदर्शन) की प्राप्ति हो जाती है। वह साधक की श्रेणी से ऊपर उठकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वसुखसम्पन्न,

ईश्वर और जीवन्मुक्त बन जाता है। दूसरे शब्दों में, इस ध्यान के फलस्वरूप साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

(३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान

इस शुक्लध्यान का अभिप्राय है काययोग को सूक्ष्म करना तथा अप्रतिपाती विशेषण इस बात को प्रगट करता है कि इस शुक्लध्यान में प्रवेश करने के बाद साधक वापस नही लौटता।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान का आयुष्य जब एक अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब उन वीतराग भगवान में योग-निरोध की प्रक्रिया आरंभ होती है। सर्वप्रथम वे भगवान स्थूल काययोग के सहारे से स्थूल मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं। फिर सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से सूक्ष्म मन और वचनयोग का भी निरोध करते है। तब केवल सूक्ष्म काययोग अर्थात् श्वासोच्छास की सूक्ष्म क्रिया शेष रहती है।

(४) समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान

यह शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है। जिस समय श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाओ का भी निरोध हो जाता है और आत्म-प्रदेशों में किसी भी प्रकार का कंपन नही होता, तब वह ध्यान समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति कहलाता है। इस समय आत्मा में किसी भी प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म, मानसिक, वाचिक, कायिक व्यापार नही होते। आत्म-प्रदेश पूर्ण रूप से निष्कंप बन जाते हैं। आत्मा के भवोपग्राही आयु-नाम-गोत्र-वेदनीय कर्मों के बन्धन भी निःशेष हो जाते है। आत्मा अयोगी बन जाता है। इस दशा को शैलेशी दशा कहा जाता है। आत्मा पूर्ण रूप से निष्कलंक एव निष्प्रकम्म बन जाता है।

तत्क्षण ही आत्मा निर्मल, शात, निरामय, अरुज, अनत ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख आदि आत्मिक भावो मे लीन शिव पद मे जा विराजता है, उसकी यह दशा अनन्त काल तक रहती है। उसका भवभ्रमण का चक्कर सदा-सदा के लिए छूट जाता है।

आत्मा की मुक्ति का हेतु है ध्यान। धर्मध्यान उपाय है शुक्लध्यान का, अतः यह परम्परा से मोक्ष का साधन है और शुक्लध्यान साक्षात मुक्ति का साधन है। मुक्ति-स्थान लोक के अग्रभाग पर है, जहाँ मुक्तात्मा अपने सिद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव और सच्चिदानन्द स्वरूप में रमण करती हुई अनन्त काल तक विराजमान रहती है। यही सिद्धि पद अथवा निर्वाण है।

साधक सम्यक्दर्शन से जिस योगमार्ग पर चरण रखता है, शील और

श्रुत की सेवना से अपने कदम आगे बढ़ाता है, भावना, अनुप्रेक्षा, प्रेक्षा, प्रतिमा योग आदि विभिन्न योगो की साधना करता है, उन सबकी चरम परिणति ध्यान मे होती है, शुभ और शुद्ध अथवा धर्म और शुक्लध्यान की साधना से वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह विभिन्न प्रकार के उपसर्ग-परीषह सहता है, तपो की साधना-आराधना करता है, वह लक्ष्य इसे ध्यानयोग (धर्मध्यान एव शुक्लध्यान) की साधना से प्राप्त हो जाता है।

अतः ध्यानयोग साधना, मुक्ति की सहज एवं साक्षात् साधना है।

शुक्लध्यान और समाधि

पातंजल अष्टांग योग का अन्तिम अंग समाधि है। साधक जो यम, नियम आदि सात अंगो की साधना करता है, उसकी चरम परिणति समाधि है। समाधि ही साधक का लक्ष्य है।

योगदर्शन में समाधि के दो भेद माने गये है। इनमे से प्रथम है—सबीज समाधि और दूसरी है निर्बीज समाधि। इन्ही को क्रमशः संप्रज्ञात और असप्रज्ञात तथा सविकल्प और निर्विकल्प एवं सवितर्क और निर्वितर्क अथवा सविचार और निर्विचार समाधि भी कहा गया है।

संप्रज्ञातयोग (समाधि) के विषय मे बताया गया है कि वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारो के सम्बन्ध से युक्त चित्तवृत्ति का समाधान संप्रज्ञात योग है।[1]

संप्रज्ञातयोग के ध्येय पदार्थ तीन है—(१) ग्राह्य—इन्द्रियो के स्थूल और सूक्ष्म विषय (२) ग्रहण—इन्द्रियाँ और अन्तःकरण (३) ग्रहीता—बुद्धि के साथ एकरूप हुआ पुरुष अथवा आत्मा।

जब साधक पदार्थों के स्थूल रूप मे समाधि करता है, समाधि मे स्थिर होता है और उस समाधि मे शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का विकल्प रहता है, तब तक उसकी समाधि **सवितर्क समाधि** होती है और जब इनका विकल्प नही रहता तो वही समाधि **निर्वितर्क** हो जाती है।

इसी प्रकार जब साधक (ग्रहीता—आत्मा अथवा पुरुष) ग्राह्य और ग्रहण के सूक्ष्म रूप मे समाधि करता है, समाधि स्थित होता है और जब तक उस समाधि मे शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का विकल्प रहता है, तब तक वह

---

१ पातजल योग सूत्र १/१७—वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सप्रज्ञात ।

समाधि सविचार होती है और इनका विकल्प न होने पर निर्विचार हो जाती है।

निर्विचार समाधि में विचार तो नहीं होता किन्तु अहंकार का सम्बन्ध रहता है और ध्याता (साधक) को आनन्द का अनुभव होता है। जब तक आनन्दानुभूति विद्यमान रहती है तब तक उसकी समाधि आनन्दानुगत रहती है और जब साधक को आनन्द की अनुभूति भी नहीं रहती, यह प्रतीति भी विलुप्त हो जाती है तभी वह समाधि अस्मितानुगत हो जाती है। यही निर्विचार समाधि की निर्मलता है।[1]

इस (सम्प्रज्ञात योग) में सत्त्व के उत्कर्ष होने से चित्त की एकाग्रता लक्षण परिणत होने पर साधक आत्मा सद्भूत अर्थ का प्रकाश करती है— परमार्थभूत ध्येय वस्तु का साक्षात्कार करती है, चित्तगत क्लेशो को दूर करती है, कर्मबन्धनों को शिथिल और निरोध को अभिमुख करती है। यही सम्प्रज्ञातयोग है।[2]

सम्प्रज्ञातयोग समाधि में ध्यान, ध्याता, ध्येय—तीनों का आत्मा को आभास रहता है तथा ध्येय आलम्बन रूप में होता है, इसीलिए इसका नाम सबीज समाधि है। इसमे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय आदि का विकल्प बना रहता है। चित्तवृत्ति का अवस्थान आत्मा में नहीं हो पाता।

असम्प्रज्ञात समाधि में सभी विकल्पों का लय हो जाता है, इसमें ज्ञान आदि का कोई विकल्प नही रहता। जिस प्रकार लवण पानी में घुलकर पानी रूप हो जाता है, इसी प्रकार इस समाधि अवस्था में चित्त भी आत्मा में लय हो जाता है, मन की पृथक् सत्ता नही रहती। इस समाधि में कोई आलम्बन नही रहता, ध्याता-ध्यान-ध्येय एकाकार हो जाते है। इसमें सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है।[3]

---

१ पातजल योगसूत्र १/१७ की भाष्य एवं टीका

२ सम्यक् प्रज्ञायते क्रियते ध्येय यस्मिन्निरोधविशेषे स सम्प्रज्ञात.।

अर्थात्—जिसमे साधक को अपने ध्येय का भली प्रकार साक्षात्कार होता है, वह सम्प्रज्ञात है। —योगसूत्र १/१ टिप्पण मे बालकराम स्वामी

(क) क्षिप्त मूढ विक्षिप्तमेकाग्रे निरुद्धमिति चित्तभूमय.। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति—क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति—निरोधाभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग' इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो,

असम्प्रज्ञात समाधि के भी दो भेद बताये गये है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। उपायप्रत्यय समाधि ही वास्तविक समाधि है। इसकी उत्पत्ति श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा से होती है।

वस्तुतः योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि को वृत्तिनिरोध से क्लेशादिको को नष्ट करने वाला योग ही इष्ट है। यद्यपि यत्किंचित् वृत्तिनिरोध तो क्षिप्तादि भूमिकाओ मे भी होता है, किन्तु उसको योगरूप नही माना गया, अपितु क्लेशकर्म वासना का समूलनाशक जो वृत्तिनिरोध है, उसी को योग माना गया है।[1]

इस प्रकार पातंजल योगदर्शन मे योग को समाधिरूप मानकर व्याख्या की गई है। दूसरे शब्दो मे, समाधि चित्तगत क्लेशादि-रूप वृत्तियो के निरोध से सम्पन्न होती है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा स्वभाव से ही निस्तरंग महासमुद्र के समान निश्चल है। जैसे वायु के सम्पर्क से उसमें तरगें उठने लगती हैं, उसी प्रकार मन और शरीर के सयोग से उसमें (आत्मा में) सकल्प-विकल्प और परिस्पन्दन—चेष्टारूप नाना प्रकार की वृत्तिरूप तरगें उठने लगती हैं। इनमे विकल्परूप वृत्तियो का उदय मनोद्रव्य-सयोग से होता है और चेष्टारूप वृत्तियाँ शरीर सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। इन विकल्प और चेष्टारूप वृत्तियो का समूल नाश ही वृत्तिसक्षय है।[2]

विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदिष्याम । सर्व-वृत्तिनिरोध इत्यसप्रज्ञात समाधि । —पातजल योगसूत्र १/१

(ख) श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

—पातजल योगसूत्र १/२०

१ तथा च यद्यपि योग समाधि स एव च चित्तवृत्तिनिरोध स च सार्वभौम' सर्वासु क्षिप्तादिभूमिषु भव , एव च क्षिप्तादिष्वतिप्रसग तथापि हि यत्किंचिद्-वृत्तिनिरोधसत्वात्, तथापि यो निरोध क्लेशान् क्षिणोति स इव योग , स च सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन द्विविध इति नातिप्रसंग इत्यर्थं ।

—पातजल योगसूत्र १/१ के टिप्पण मे स्वामि बालकराम

२ (क) अन्यसयोगवृत्तीना, यो निरोधस्तथा तथा ।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्सक्षयो मत. ॥ —योगबिन्दु, ३६६

यह वृत्तिसंक्षयरूप योग कैवल्य—केवलज्ञान की प्राप्ति के समय और निर्वाण-प्राप्ति के समय साधक को उपलब्ध होता है। अर्थात् सयोग-केवली अवस्था (तेरहवें गुणस्थान) में तो विकल्परूप वृत्तियों का समूल नाश हो जाता है और अयोगकेवली अवस्था (चौदहवे गुणस्थान) में चेष्टारूप वृत्तियाँ भी समूल नष्ट हो जाती हैं।

इस सबका फलित यह है कि सम्प्रज्ञातसमाधि तो ध्यान और समता रूप[1] है तथा असम्प्रज्ञात समाधि वृत्तिसंक्षयरूप[2] है। क्योकि सम्प्रज्ञात समाधि मे समस्त राजस और तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा सत्त्वगुणप्रधान प्रज्ञाप्रकर्षरूप वृत्तियो का आविर्भाव होता है एवं असम्प्रज्ञात समाधि में सम्पूर्ण वृत्तियों का क्षय हो जाता है और शुद्ध समाधि की सम्प्राप्ति होती है तथा इस समाधि दशा में साक्षात आत्मस्वरूप का अनुभव होता है। यह शुद्धात्मा का अनुभव ही असम्प्रज्ञात समाधि है।

जैन योग की अपेक्षा इस असम्प्रज्ञात समाधि के दो रूप होते हैं—(१) सयोगकेवलिभावी और (२) अयोगकेवलिभावी। इनमें से प्रथम तो विकल्प और ज्ञानरूप मनोवृत्तियो तथा उनके कारणभूत ज्ञानावरणीय, मोह-नीय आदि कर्मों के क्षय से आविर्भूत होती है एवं दूसरी शारीरिक चेष्टारूप वृत्तियो और उनके कारणभूत औदारिक आदि शरीरो—नोकर्मों तथा भवो-पग्राही कर्मों के क्षय से प्राप्त होती हैं। प्रथम अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि और जैन दर्शन के अनुसार एकत्ववितर्क अविचार शुक्लध्यान की फलश्रुति कैवल्य

वृत्ति—इह स्वभावत एव निस्तरंगमहोदधिकल्पस्यात्मनो विकल्परूपाः परिस्पन्दनरूपाश्च वृत्तय' सर्वा अन्यसयोगनिमित्ता एव। तत्र विकल्परूपास्तथा-विधमनोद्रव्यसयोगात् परिस्पन्दनरूपाश्च शरीरादिति। ततोऽन्यसयोगे वा वृत्तय. तासा यो निरोध तथा—केवलज्ञानलाभकालेऽयोगकेवलिकाले च। अपुनर्भावरूपेण—पुनर्भवनपरिहारस्वरूपेण। स तु स पुन' तत्सक्षयो वृत्तिसक्षयो मत इति।

(ख) विकल्पस्पंदरूपाणा, वृत्तीनामन्यजन्मनाम्।
अपुनर्भावतो रोध, प्रोच्यते वृत्तिसक्षय.॥

—योगभेद द्वात्रिंशिका, २५ (उपा० यशोविजयजी)

१ सम्प्रज्ञातोऽवतरति ध्यानभेदेऽत्र तत्वतः। —योगावतार द्वात्रिंशिका १५

२ असम्प्रज्ञातनामा तु सम्मतो वृत्तिसंक्षयः। —योग द्वात्रिंशिका २१

और दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि और जैन दर्शन के अनुसार शुक्लध्यान के तृतीय-चतुर्थ भेदो की फलश्रुति निर्वाण है।[1]

दूसरे शब्दो में, जैन दर्शन में वर्णित तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में पातंजलयोगसम्मत समाधि (सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात—समाधि के दोनो भेदों) का अन्तर्भाव हो जाता है।

जैन दर्शन मे वर्णित मुक्ति के सोपान-रूप जो चौदह गुणस्थान बताये गये है, उनकी अपेक्षा से यदि विचार किया जाय तो समाधि का प्रारम्भ आठवे अप्रमत्त गुणस्थान[2] से हो जाता है और उसकी पूर्णता चौदहवें अयोग-केवली गुणस्थान मे होती है।

आत्मा की जो स्थूल-सूक्ष्म चेष्टाएँ है, वें ही उसकी वृत्तियाँ हैं और उन वृत्तियो का कारण कर्मसयोग योग्यता है; और इन स्थूल-सूक्ष्म चेष्टाओं तथा तथा उनके कारण कर्म-संयोग योग्यता का अपगम—क्षय—ह्रास अथवा हानि वृत्तिसक्षय है।

इन वृत्तियो का क्षय अचानक ही नही हो जाता, अपितु क्रमिक होता है। यह क्रमिक क्षय अथवा इन वृत्तियों की क्षय की परम्परा ही गुणस्थान क्रमारोह की संज्ञा से जैन शास्त्रों मे अभिहित की गई है।

वृत्तियों का क्षय साधक आठवें गुणस्थान अप्रमत्तविरत से प्रारम्भ करता है। इस गुणस्थान में साधक क्षपक श्रेणी[3] पर आरोहण करता है।

---

१ इह च द्विधाऽसम्प्रज्ञातसमाधि, सयोगकेवलिकालभावी अयोगकेवलिकालभावी च। तत्राद्यो मनोवृत्तीना विकल्पज्ञानरूपाणा तद्बीजस्य ज्ञानावरणाद्युदयरूपस्य निरोधादुत्पद्यते। द्वितीयस्तु सकलाशेषकायदिवृत्तीना तद्बीजानामौदारिकादि-शरीररूपाणामत्यन्तोच्छेदात् सम्पद्यते। —यो० वि० व्या० श्लोक ४३१

२ मद्य (अभिमान), पचेन्द्रियविषय, चार कषाय, चार विकथा, और निद्रा—ये प्रमाद हैं। जिस साधक मे इन प्रमादो का अभाव हो जाता है, वह अप्रमत्त कहलाता है और उसका साधना सोपान—गुणस्थान अप्रमत्तविरत के नाम से अभिहित होता है।

३ आध्यात्मिक उत्थान की दो श्रेणी हैं—(१) क्षपक और (२) उपशम। क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाला साधक अनन्तानुवन्धी चतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शनत्रिक—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व —इन सातो कर्म-प्रकृतियो का समूल क्षय कर देता है और उपशम श्रेणी पर आरोहण करने वाला साधक इन्ही सातो कर्मप्रकृतियो का उपशमन करता है। क्षपक श्रेणी मोक्ष का साक्षात कारण है।

इसी गुणस्थान में साधक ग्रन्थिभेद करता है और वह शुक्लध्यान के प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्क सविचार ध्यान की साधना में प्रविष्ट होता है।

ग्रन्थिभेद के पश्चात् वृत्तियों का संक्षय करता हुआ साधक गुणस्थान क्रमारोह करके बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान में पहुँचता है। वहाँ वह शुक्लध्यान के दूसरे भेद एकत्ववितर्क अविचार ध्यान की साधना में तल्लीन रहता है। उसको चित्तवृत्तियाँ इतनी निश्चल और ध्यान इतना स्थिर हो जाता है कि वह एक ध्येय पर ही निर्वात दीपशिखा के समान निष्कप—स्थिर रहता है।

इस प्रकार शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों (पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार) में पातंजलयोग वर्णित सम्प्रज्ञात समाधि का समावेश हो जाता है।

इसका कारण यह है कि सम्प्रज्ञात योग-समाधि सवितर्क-विचार-आनन्द-अस्मिता-निर्भास रूप ही हैं, अतः वह पर्यायान्तर रहित शुद्ध द्रव्य विषयक शुक्लध्यान में अर्थात् शुक्लध्यान के दूसरे भेद एकत्ववितर्क अविचार ध्यान में समाविष्ट हो जाती है।

इसके उपरान्त असम्प्रज्ञात समाधि के प्रथम भेद का समावेश सयोग-केवली अवस्था में हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने जो असम्प्रज्ञात समाधि को संस्कारशेष[1] कहा है; उसे जैन दर्शन की दृष्टि से भवोपग्राही कर्मों[2] की अपेक्षा से समझना चाहिए।

---

१ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्य·। —पातंजल योगसूत्र १/१८

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तसमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः।

—व्यास भाष्य

अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध के कारण पर-वैराग्य के अभ्यास से संस्कारशेष चित्त की स्थिरता का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है—तात्पर्य यह है कि असम्प्रज्ञात समाधि में निरुद्धचित्त की समस्त वृत्तियो का लय हो जाने से मात्र संस्कार शेष रह जाता है।

२ आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय—ये चार कर्म भवोपग्राही कहलाते हैं, क्योंकि ये आत्मा को उसी शरीर में अथवा उसी जन्म मे टिकाये रखते हैं। इनके नाश होने पर ही कैवल्य-प्राप्त आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

क्योंकि सयोग एवं अयोग केवली दशा में भी भवोपग्राही कर्मों का सम्बन्ध तो आत्मा के साथ रहता ही है और यही कैवल्य दशा में संस्कार है।

कैवल्य दशा अथवा असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था में भाव-मन तो रहता ही नही और मति-श्रुत-अवधि-मन पर्यव ज्ञान के भेद रूप संस्कारों का भी समूल नाश हो जाता है। दूसरे शब्दों में, इस दशा में वृत्तिरूप मन रहता ही नही अथवा यों भी कह सकते हैं कि कैवल्य दशा में आत्मा को किसी भी पदार्थ को जानने के लिए मन की आवश्यकता ही नही रहती। फिर मति और श्रुतज्ञान ही तो मन[1] की अपेक्षा रखते हैं। शेष तीन ज्ञान—अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान में तो मन की आवश्यकता ही नही होती। इन तीन् ज्ञानों से तो आत्मा को स्वयमेव ही—मन की सहायता के बिना—वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है।

अतः वृत्तिरूप मन अथवा भाव मन के संस्कारो का तो कैवल्य दशा में प्रश्न ही नही है; हाँ, भवोपग्राही कर्मों के संबंध से होने वाले संस्कार अवश्य शेष रहते हैं। ये संस्कार भी चौदहवें अयोगकेवलो गुणस्थान में मन-वचन-काया के स्थूल-सूक्ष्म समस्त योगो के निरुद्ध हो जाने से निःशेष हो जाते हैं और शैलेशीभाव से निर्वाण पद की प्राप्ति हो जाती है।

निर्वाण-प्राप्ति का यही क्रम पातंजल योगदर्शन में भी स्वीकार किया गया है—साधक को जब पर-वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है, तब स्वभाव से ही चित्त संसार के पदार्थों की ओर नही जाता, वह उनसे स्वयमेव ही उपरत हो जाता है। उस उपरत अवस्था की प्रतीति ही विराम-प्रत्यय है।[2] इस उपरति की प्रतीति का भी अभ्यास क्रम जब बन्द हो जाता है, तब चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव हो जाता है।[3] उस समय सिर्फ अन्तिम उपरत अवस्था के संस्कारो से युक्त चित्त रहता है।[4] उन सस्कारो के कारण उस चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति होती है। प्रशान्तवाहिता का अभिप्राय है—निरोध संस्कार धारा।[5] फिर निरोध संस्कारों के क्रम की भी समाप्ति हो

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र १/१४

२ पातजल योगदर्शन १/१८ का भाष्य

३ तज्जः संस्कारोऽन्यसस्कारप्रतिबन्धी। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। —पातजल योगसूत्र १/५०-५१

४ पातजल योगसूत्र १/२०

५ तस्य प्रशान्तवाहिता सस्कारात्। —पातंजल योगसूत्र ३/१०

जाती है।[1] तदुपरान्त वह आत्मा कृतकृत्य होकर अपने निज स्वरूप में, चितिशक्ति अथवा चैतन्य सत्ता में प्रतिष्ठित हो जाती है। अर्थात् पुरुषार्थ-शून्य गुणो का प्रतिप्रसव किंवा स्वप्रतिष्ठारूप मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त कर लेती है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि महर्षि पतंजलिवर्णित अष्टांगयोग का आठवां और अंतिम अंग समाधि (संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दोनो प्रकार की समाधि) का जैन दर्शनसम्मत शुक्लध्यान मे अन्तर्भाव हो जाता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि शुक्लध्यान का ही दूसरा नाम पतजलिप्रोक्त समाधि है।[3]

पतंजलि ने ध्यान और समाधि को अलग-अलग मानकर इन्हें योग के दो अंग बताया है; किन्तु जैन दर्शन ने ध्यान के ही दो भेद—धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्वीकार किये हैं। यदि यथार्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो पतजलिप्रोक्त समाधि भी ध्यान ही तो है; साधक जो-जो और जैसी साधनाएँ शुक्लध्यान मे करता है उनका जो क्रम आदि है वैसा ही समाधि में है। अतः शुक्लध्यान और पतजलिवर्णित समाधि में नाम के अन्तर के सिवाय अन्य कोई भेद प्रतीत नही होता।

जैन दर्शन की मूल मान्यता (द्वादशांग वाणी और आगमयुगीन मान्यता) में 'योग' का अन्तर्भाव ध्यान में ही किया गया है। वहाँ ध्यान को प्रमुखता दी गई है। और ध्यान की उत्कृष्टता तथा चरम स्थिति शुक्ल-ध्यान है। अतः जैन दर्शन में ध्यान के अतिरिक्त समाधि का कोई स्थान नही है, यह ध्यान की अवस्थाविशेष ही है।

---

१ ततः कृतार्थाना परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणाना। —पातजल योगसूत्र ४/३२

२ पुरुपार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसवः कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। —पातजल योगसूत्र ४/३४

३ (क) समाधिरिति च शुक्लध्यानस्य एव नामान्तर परैः परिभाषितम्····

(ख) अत्र चतुर्विधोऽपि सम्प्रज्ञातसमाधिः शुक्लध्यानस्याद्यपदद्वयं प्रायो नातिशेते··········

(ग) अतश्चरमशुक्लध्यानांशस्थानीयोऽसम्प्रज्ञात समाधि :·········इत्यादि।

—शास्त्रवार्तासमुच्चय की वृत्ति
'स्याद्वाद कल्पलता' मे उपाध्याय यशोविजयजी

यद्यपि आगमों में 'समाधि' शब्द का उल्लेख पर्याप्त मात्रा में हुआ है। साथ ही समाधि के लिए उपयुक्त स्थानों का वर्णन भी यत्र-तत्र मिलता है। किन्तु समाधि शब्द से भी वहाँ ध्यान-विशेष या चित्त की निर्मलता एवं स्थिरता ही गृहीत हुआ है। सूत्रों मे दर्शन-समाधि, ज्ञान-समाधि, चारित्र-समाधि, श्रुत-समाधि, विनयसमाधि आदि का वर्णन आया है; किन्तु कहीं पर 'समाधि' शब्द धर्मध्यान के अर्थ में प्रयुक्त है तो कहीं ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के रूप में। लेकिन जिस रूप में 'समाधि' शब्द का प्रयोग पातंजल योगदर्शन मे हुआ है, वैसा जैन आगमो नही हुआ। चूँकि वह समाधि शुक्लध्यान की परिणतिस्वरूप ही है।

साथ ही 'धारणा' शब्द भी जैन आगमो में उस रूप में नही मिलता, जिस रूप मे इसका प्रयोग अष्टांगयोग में हुआ है। जैन आगमों में भावना अथवा अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग हुआ है। दर्शन भावना, ज्ञान भावना, चारित्र भावना, वैराग्य भावना, योग भावना (मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य), महाव्रतो की भावना, बारह भावना आदि कई प्रकार की भावनाओं का वर्णन हुआ है।

आध्यात्मिक एवं मुक्ति-प्राप्ति के पथ के रूप में भावनाओ का महत्त्व धारणा की अपेक्षा अत्यधिक है क्योंकि धारणा तो चित्तवृत्ति को किसी एक स्थान पर लगाना मात्र ही है, जबकि भावना, साधक की आत्मोन्नति एव आत्म-प्रतीति में सहायक बनती है। धारणा जल प्रवाह का किसी एक स्थान पर केन्द्रित होना है तो भावना एक ही धारा में प्रवहमान स्थिति एक-तानता है।

अतः जैनदर्शन के अनुसार मुक्ति-साधना का क्रम यो बनता है—भावना, धर्मध्यान, शुक्लध्यान।[1] ये तीनो ही ध्येय विषयक चिन्तनरूप ध्यान की विशुद्ध, विशुद्धतर और विशुद्धतम अवस्थाएँ है।

अतः मोक्ष का उपायभूत धर्मव्यापार जो कि 'योग' के नाम से विख्यात है, वह मुख्य रूप से शुक्लध्यान ही है क्योंकि शुक्लध्यान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसके अतिरिक्त व्रत, नियम, स्वाध्याय, आदि तप एवं संयम आदि जितने भी धर्मानुष्ठान, धार्मिक क्रिया-कलाप, भावनाओं का चिन्तन-मनन इत्यादि हैं, वे सभी शुक्लध्यान तक पहुँचने के सोपान हैं। इन सोपानो पर चढ़ता हुआ साधक शुक्लध्यान तक पहुँचता है।

---

१ अष्टांगयोग का मुक्ति साधना क्रम यो है—धारणा, ध्यान, समाधि।

शुक्लध्यान में ही चित्त का निरोध पूर्ण रूप से होता है, चित्त की वृत्तियाँ पूर्णतया शांत होती हैं, कर्मों का क्षय होता है और मन का (भाव-मन का) आत्मा की अनन्त सत्ता में विलय होता है। कैवल्य (केवलज्ञान-दर्शन) और साथ ही अनन्त सुख और वीर्य का कारण भी शुक्लध्यान है और यही निर्वाण का हेतु है।

शुक्लध्यान ही आत्मिक अशुद्धियों को दूर कर उसे पूर्ण रूप से शुद्ध बनाता है। साधक शुक्लध्यान की साधना से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर अपने स्वरूप (आत्मा के निज शुद्ध स्वरूप) में अवस्थित होता है।

अतः शुक्लध्यान ही सर्वोत्कृष्ट तप है, समस्त धार्मिक क्रियाओं की चरम परिणति है। साधक इसी की साधना से अपना चरम लक्ष्य—मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही जैन योग द्वारा प्रस्तावित अध्यात्मयोग (तपोयोग) का चरम बिन्दु एवं फलश्रुति है।

□□

मनो यस्य वशे तस्य,
भवेत्सर्वं जगद्वशे ।
मनसस्तु वशे योऽस्ति
स सर्वजगतो वशे ॥

—जिस साधक का मन उसके वश मे होता है, उसके वश मे सारा ससार हो जाता है। इसके विपरीत जो मन के वश मे होता है, वह सारे संसार के वश मे हो जाता है।

□□

मन के सधने से खुलें,
शक्ति के सब द्वार।
है सुख-इच्छुक के लिए,
उत्तम यह उपचार॥

जैन योग
सिद्धान्त और साधना

प्राण - साधना

१—प्राण शक्ति
स्वरूप, साधना, विकास और उपलब्धियां

२—प्राण शक्ति की अद्‌भुत क्षमता
और
शारीरिक-मानसिक स्वस्थता

३—लेश्या ध्यान - साधना
(भावना तथा रंग - चिकित्सा सिद्धान्त)

४—मंत्र शक्ति - जागरण एवं अर्हत्‌योग

५—नवकार महामन्त्र की साधना

१ प्राण-शक्ति : स्वरूप, साधना, विकास और उपलब्धियाँ

यह सम्पूर्ण संसार, चलाचल जगत्, अखिल सृष्टि प्राणमय है। प्राणमय है, इसलिए जीवित है।

प्राण एक धारा है शक्ति की; यह शक्ति का प्रवाह है। यह चैतन्य अथवा आत्मशक्ति का वह रूप है जो तैजस् शरीर से आत्म-प्रदेशों के संपृक्त होने पर निर्मित होता है, उत्पन्न होता है और उसी (तैजस् शरीर) में प्रवाहित होता है, औदारिक (स्थूल) शरीर को संचालित करता है। वह तैजस् और औदारिक दोनो प्रकार के समूचे शरीर में प्रवाहित हो रहा है।

प्राण-शक्ति का संचार ही जीवन का लक्षण है। जीवन और मरण का द्योतक प्राण ही है। जब तक प्राणों का संचालन शरीर में होता रहता है, तब तक मनुष्य अथवा पशु जीवित माना जाता है और प्राण के अभाव में उसे मृत घोषित कर दिया जाता है।

जब तक विज्ञान की पहुँच स्थूल शरीर तक ही सीमित रही तब तक हृदय गति को ही जीवन का आधार माना जाता रहा, हृदय गति रुकते ही, मनुष्य को मृत घोषित कर दिया जाता था; किन्तु अब विज्ञान मस्तिष्कीय कोशिकाओं और तन्तुओं तक पहुँच चुका है, जब कोषाएँ निष्क्रिय हो जाती हैं, उनका हलन-चलन पूर्ण रूप से बन्द हो जाता है तब व्यक्ति को मृत घोषित किया जाता है। इन सूक्ष्म कोषाओं का संचालन प्राण-शक्ति की धारा से होता है। अतः प्राण ही जीवन का लक्षण है।

जीव प्राणधारी होते हैं, इसीलिए वे प्राणी कहलाते हैं। वे प्राणी अमीबा (amoeba) तथा फफूँदी में पाये जाने वाले प्राणियों के समान इतने सूक्ष्म भी होते हैं कि एक आलपिन की नोक पर सैकड़ों-हजारों प्राणधारी जीव अवस्थित रह सकते हैं और व्हेल मछली के समान दीर्घकाय भी।

यह सम्पूर्ण लोक सूक्ष्म जीवों—प्राणधारियों से ठसाठस भरा है, इसी कारण से संसार को प्राणमय कहा गया है।

प्राणी कहाँ नही हैं ? जल मे असंख्य प्राणी हैं; वायु में प्राणी हैं; वनस्पति में, अग्नि में—सर्वत्र प्राणी है। मनुष्य, पशु तो स्पष्ट ही प्राणी दिखाई देते है।

अतः प्राण का लक्षण ही यह है कि जिनके द्वारा जीव जीता है, जीवित रहता है, उन्हे प्राण कहते है।

प्राण के शास्त्रोक्त दश भेद

जैन शास्त्रो में प्राण[1] दश प्रकार के बताये गये हैं—

(१) स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण
(२) रसनेन्द्रिय बल प्राण
(३) घ्राणेन्द्रिय बल प्राण
(४) चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण
(५) श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण
(६) मनोबल प्राण
(७) वचनबल प्राण
(८) कायबल प्राण
(९) आनपान (श्वासोच्छ्वास) बल प्राण
(१०) आयु बल प्राण

एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक सभी जीव प्राणधारी होते हैं, उनमें प्राण-धारा अथवा प्राण-शक्ति प्रवाहित रहती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि एकेन्द्रिय आदि क्षुद्र एवं सूक्ष्म प्राणियो मे प्राण-शक्ति का प्रवाह सूक्ष्म तथा अव्यक्त रहता है और सज्ञी पचेन्द्रिय प्राणियो मे व्यक्त। मनुष्य में तो वह प्रवाह और भी अधिक व्यक्त होता है।

यद्यपि ये दश प्राण जैन शास्त्रो मे बताये गये हैं, और इनके माध्यम से प्राण-शक्ति के प्रवाह को अभिव्यक्ति मिलती है, किन्तु योग की दृष्टि से प्राणधारा एक ही है, ये दश प्रकार के प्राण तो अभिव्यक्ति के माध्यम है। जो प्राणधारा आँखो मे प्रवाहित है, वह हाथ की अँगुलियो मे है और वही सम्पूर्ण शरीर—त्वचा में भी है तभी तो अँगुलियो से आँख की सवेदना के उदाहरण मिलते हैं।[2]

अभिव्यक्ति के माध्यमो की अपेक्षा, क्योकि ये माध्यम विभिन्न प्रकार की क्षमताएँ प्रदर्शित करते हैं, इसलिए शास्त्रो में दश प्राण बताये गये हैं; अन्यथा प्राणधारा तो एक ही प्रकार की है, दश प्रकार की नही।

---

१ पचय इन्दियपाणा मणवचकाया दु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दसपाणा॥ —मूलाचार, गाथा ११९१

२ देखिए, इसी पुस्तक का पृष्ठ ४

प्राण-शक्ति प्रवाह का केन्द्र

मनोवैज्ञानिक, शरीर-वैज्ञानिक (चिकित्साशास्त्र) की दृष्टि से प्राणशक्ति का केन्द्र है—मस्तिष्क। इस दृष्टिबिन्दु के अनुसार मस्तिष्क प्राणशक्ति का उत्पादन स्थल है, वही इस शक्ति का निर्माण होता है और वही से यह शरीर के अन्य अवयवो में—संपूर्ण शरीर में प्रवाहित होती है।

किन्तु योग-मार्ग का दृष्टिकोण इस बारे में भिन्न है। योग की अपेक्षा से प्राणशक्ति का केन्द्र है कुण्डलिनो का निचला अन्तिम भाग, जहाँ कुण्डलिनो शक्ति (serpent power) अधोमुखो होकर अवस्थित—सोई हुई है।

इसके अधोमुखी होने का प्रभाव यह है कि मनुष्य के जीवन की समस्त प्रवृत्तियाँ बाहर को ओर, संसाराभिमुखी हो रही है, मनुष्य विषय-कषायो और काम-भोगों में प्रवृत्ति कर रहा है।

योगी साधक प्राणशक्ति के इस अधोमुखी—संसाराभिमुखी प्रवाह को मोड़ता है, उसे ऊर्ध्वगामी बनाता है और योगशास्त्रो मे वर्णित सातों चक्रो मे प्रवाहित करता हुआ योग की सिद्धि करता है। यही प्राणशक्ति का ऊर्ध्वारोहण है, और यही प्राणशक्ति की साधना है।

योगी साधक किस प्रकार इस ऊर्ध्वारोहण को सम्पन्न करता है, इस बात को समझ लेना आवश्यक है।

प्राणशक्ति के ऊर्ध्वारोहण के सोपान है—आसन-शुद्धि, नाडीशुद्धि, प्राणायाम और प्रत्याहार। इन सोपानो को कुशलतापूर्वक पार करने के लिए तथा प्राणशक्ति को अधिकाधिक ऊर्जस्वी, तेजस्वी तथा सक्षम बनाने के लिए प्राणवायु की अनिवार्य आवश्यकता है।

प्राणवायु और प्राण का सम्बन्ध

साधक प्राणवायु और प्राण को एक समझने की भूल नही करता। वह जानता है कि ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं।

प्राणवायु प्राणशक्ति के लिए वही कार्य करती है जो अग्नि को प्रज्वलित करने और रखने के लिए वायु (oxygen gas) करती है। जिस प्रकार वायु (oxygen gas) के अभाव मे अग्नि प्रज्वलित नही हो सकती और जलती अग्नि भी बुझ जाती है। उसी प्रकार प्राणशक्ति के प्रवाह के लिए भी प्राण-वायु आवश्यक है, प्राणवायु के अभाव मे प्राणशक्ति भी बुझ जाती है। जिस प्रकार वायु के वेग से अग्नि प्रज्वलित रहती है, ज्यो-ज्यों वायु का वेग बढ़ता

है त्यों-त्यो अग्नि की लपटें भी तीव्र से तीव्रतर होती जाती है और वायु का वेग मंद होने पर अग्नि मन्द से मन्दतर होती जाती है; उसी प्रकार व्यक्ति श्वास द्वारा जितनी अधिक प्राणवायु शरीर के अन्दर ग्रहण करता है उतनी हो प्राण-शक्ति भी तीव्र होती है।

प्राणवायु, प्राणशक्ति को उत्तेजित करती है।

मनुष्य जिस समय प्राणवायु को ग्रहण करता है तो प्राणो को ग्रहण नही करता; क्योंकि प्राण तो उसके शरीर मे पहले ही मौजूद हैं। इसी तरह उच्छ्वास अथवा प्राणवायु को वाहर निकालना, प्राण छोड़ना नही है। प्राणायाम की क्रिया भी प्राणो का आयाम नही है, प्राणवायु का आयाम है। कुम्भक में प्राणशक्ति अथवा प्राणधारा को नही रोका जाता, प्राणवायु को रोका जाता है। यही वात पूरक और रेचक के वारे में भी है।

इस तरह प्राणवायु और प्राणशक्ति एक नही है, इनमें परस्पर सम्बन्ध मात्र है।

प्राणशक्ति, आत्मशक्ति द्वारा संचालित है। आत्मशक्ति तैजस् शरीर से जुड़ी हुई है। आत्मचेतना की धारा तैजस् शरीर से जुड़ती है तब प्राणशक्ति का उद्गम होता है। इस प्रकार प्राण का सम्बन्ध तो आत्म-शक्ति से जुडा हुआ है किन्तु प्राणवायु का सम्बन्ध आत्मचेतना से नही जुड़ता, इसका सम्बन्ध जुड़ता है प्राणशक्ति से—प्राणशक्ति की धारा और प्रवाह से। इसीलिए प्राणशक्ति की साधना से साधक को बाह्य लाभ तो होते है, अनेक प्रकार की ऋद्धि और लब्धि भी प्राप्त हो जाती हैं, मानसिक और शारीरिक शान्ति एव स्वस्थता भी प्राप्त हो जाती है; किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विशेष लाभ नही होता।

आसन-शुद्धि

प्राण-शक्ति को तीव्र करने का यह प्रथम सोपान है। सर्वप्रथम साधक आसन-शुद्धि करता है। आसनशुद्धि का अभिप्राय है आसन की स्थिरता।

यो तो हठयोग तथा अन्य यौगिक ग्रंथो मे ८४ प्रकार के आसन बताये गये हैं, और वैसे देखा जाय तो आसनो के अनगिनत प्रकार हैं, किन्तु योग साधना मे सहकारी कुछ ही आसन है। उनमें से प्रमुख आसन ये हैं—(१) पर्यकासन (२) वीरासन (३) वज्रासन (४) पद्मासन (५) भद्रासन (६) दंडासन (७) उत्कटिकासन (८) गोदोहिकासन (९) कायोत्सर्गासन।[1]

---

१ इन आसनों का वर्णन योगशास्त्र, प्रकाश ४, श्लोक १२४-१३४ में है।

(१) **पर्यंकासन**—दोनों जंघाओ के निचले भाग पैरो के ऊपर रखने पर तथा दाहिना और बाँया हाथ नाभि के पास दक्षिण-उत्तर में रखने से पर्यंकासन होता है।

(२) **वीरासन**—बायां पैर दाहिनी जाँघ पर और दाहिना पैर बायी जांघ पर जिस आसन मे रखा जाता है, वह वीरासन है।

वीरासन का दूसरा प्रकार यह है—कोई पुरुष सिंहासन पर बैठा हो और उसके पीछे से सिंहासन हटा लिया जाय तब उसकी जो आकृति बनती है, वह वीरासन है।

(३) **वज्रासन**—वीरासन करने के उपरान्त वज्र की आकृति के समान दोनों हाथ पीछे रखकर, दोनो हाथो से पैर के अँगूठे पकड़ने पर जो आकृति बनती है, वह वज्रासन है। कुछ आचार्य इसे बेतालासन भी कहते है।

(४) **पद्मासन**—एक जाँघ के साथ दूसरी जाँघ को मध्य भाग मे मिलाकर रखना पद्मासन है।

(५) **भद्रासन**—दोनों पैरों के तलभाग वृषण प्रदेश में—अंडकोषों की जगह एकत्र करके, उसके ऊपर दोनों हाथो की अंगुलियाँ एक-दूसरी अंगुली में डालकर रखना, भद्रासन है।

(६) **दण्डासन**—भूमि पर बैठकर इस प्रकार पैर फैलाना कि अंगुलियाँ, गुल्फ और जाँघे जमीन से लगी रहें, दण्डासन है।

(७) **उत्कटिकासन**—भूमि से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं तब उत्कटिकासन होता है।

(८) **गोदोहिकासन**—जब एड़ियाँ जमीन से लगी हुई नही होती और नितंब एड़ियो से मिलते है तब गोदोहिकासन होता है।

(९) **कायोत्सर्गासन**—कायिक ममत्व का त्याग करके, दोनो भुजाओ को लटकाकर शरीर और मन से स्थिर होना, कायोत्सर्ग आसन है।[1]

इनमें से किसी एक आसन अथवा एक से अधिक आसन और अन्य भी कोई आसन, यथा सिद्धासन आदि जिस आसन से भी साधक सुखपूर्वक अधिक देर तक स्थिर रह सके, मन को अचचल दशा मे रख सके—उसी आसन का प्रयोग साधक करता है।

---

१ ये आसन मुक्ति-प्राप्ति मे भी सहायक है। अधिकाश साधको को इन्ही आसनो मे अवस्थित रहकर कैवल्य और मोक्ष की प्राप्ति हुई है। —संपादक

आसनो से साधक को शारीरिक एवं मानसिक लाभ भी होता है, जैसे कायोत्सर्गासन से मानसिक तनावो से मुक्ति मिलती है, साधक का तन-मन तनाव-मुक्त होकर हल्का और तरोताजा हो जाता है, उसके अन्दर उत्फुल्लता और उत्साह उत्पन्न होते है।

आसन-जय अथवा आसन-शुद्धि के द्वारा साधक अपने स्थूल (औदारिक) शरीर को स्थिर करने का अभ्यास करता है।

शरीर के स्थिर होने पर, जो प्राण-शक्ति की धारा शरीर की हलन-चलन आदि क्रियाओ मे खर्च हो जाती थी, वह नही हो पाती, परिणामस्वरूप प्राणशक्ति का प्रवाह तैजस् और औदारिक शरीर को अधिक प्रभावी बनाता है। साथ ही औदारिक शरीर के स्थिर होते ही तैजस् शरीर भी स्थिर हो जाता है, अतः प्राणधारा का अखण्ड प्रवाह सहज गति से शरीर के अन्दर ही संचारित होता रहता है। इससे भी तैजस् शरीर को बल मिलता है।

इस प्रकार आसन-शुद्धि की फलश्रुति साधक के तैजस् और औदारिक शरीर की स्वस्थता, प्रभावशाली बनना तथा मानसिक स्थिरता है। ये तीनो लाभ साधक आसनशुद्धि से प्राप्त करता है।

नाड़ी-शुद्धि

प्राण-शक्ति को तीव्र, ऊर्जस्वी और ऊर्ध्वमुखी बनाने का यह द्वितीय सोपान है। आसन-शुद्धि के बाद साधक नाडी-शुद्धि की ओर अभिमुख होता है। नाड़ी-शुद्धि का अभिप्राय है स्वर नियन्त्रण अथवा स्वर-नियमन।

मनुष्य के दाँए और बाँए नथुने से जो वायु बाहर निकलता रहता है, वह योग की भाषा मे 'स्वर' कहलाता है। दाँए नथुने से जब वायु निकलता है तो दाहिना अथवा दाँया स्वर; और बाँए नथुने से निकलते समय के वायु को बाँया स्वर कहते है। ये सूर्य स्वर और चन्द्र स्वर भी कहलाते है। इनके अतिरिक्त जब दोनो ही नथुनो से वायु निःसृत होता है तो उसे सुषुम्ना स्वर कहते है।

स्वरो के इन नामो का आधार नाडियाँ है। गुदा मूल से गरदन के पिछले भाग तक जो लम्बी हड्डी होती है, वह मेरुदण्ड कहलाता है और वह मेरुदण्ड अनेक शिराओ तथा धमनियो के माध्यम से मस्तिष्क से जुडा होता है। इस मेरुदण्ड में तीन नाडियाँ होती है—बायी ईड़ा, दायी पिंगला और मध्य की सुषुम्ना। इन्ही को चन्द्र नाड़ी, सूर्य नाड़ी और सुषुम्ना नाड़ी भी कहते हैं। चन्द्र-नाड़ी में होता हुआ वायु बाँए नथुने से निकलता है, सूर्य-

नाडी में घूमता हुआ दायें नथुने से और सुषुम्ना का वायु दोनों नथुनों से निःसृत होता है।

वायु का नथुनो द्वारा अन्दर खीचना (inhaling) और बाहर निकालना (exhaling) तो सामान्य श्वास-प्रश्वास क्रिया है जो जीवन का लक्षण है, किन्तु यह सामान्य क्रिया विज्ञान—स्वर-विज्ञान तब बनती है, जब साधक इन तीनो प्रकार के स्वरो को नियन्त्रित करता है, अपनी इच्छानुसार चलाता है तथा इस प्रकार अपनी नाड़ियो की शुद्धि करता है।

यह नाडी-शुद्धि योग का अग और प्राणायाम की आवश्यक पूर्व-पीठिका है। बिना नाड़ी-शुद्धि के प्राणायाम की साधना सही ढंग से नही सध पाती, उससे किसी प्रकार की बाह्य लब्धि, चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति तथा मानसिक एव शारीरिक क्षमता तथा स्वस्थता की प्राप्ति नही हो पाती।

प्राचीन युग में योगी और साधक ग्राम-नगरों से बाहर, भयानक वनों में साधना करते थे। सर्दी-गर्मी आदि के प्राकृतिक प्रकोपो का शरीर पर प्रभाव पडता ही था, शरीर अस्वस्थ भी हो जाता था, मानसिक एवं शारीरिक स्वस्थता भंग हो जाती थी, उसका उपचार योगी स्वर-विज्ञान से कर लेते थे।

शीत के प्रकोपो, अजीर्ण आदि का उपचार योगी दाँया स्वर चलाकर कर लेता है, और गर्मी के प्रकोप, दाह ज्वर आदि का उपचार वह अपना बाँया स्वर चलाकर कर लेता है। भोजन करते समय तथा उसके १½ घन्टे बाद तक वह अपना दाँया स्वर चलाता है, जिससे भोजन शीघ्र पच जाता है, अजीर्ण नही हो पाता और परिणामस्वरूप कब्ज से होने वाली बीमारियाँ भी नही हो पाती। यदि कभी योगी को अपने शरीर के किसी भी अंग में स्नायविक वेदना मालूम होती है तो वह शरीर में जिस ओर—दायी या बायीं तरफ स्नायविक या किसी भी प्रकार की पीडा होती है, उधर का ही स्वर रोक देता है, उसकी पीड़ा शान्त हो जाती है।

साधक जुकाम और यहाँ तक कि श्वास रोग का उपशमन भी स्वर के माध्यम से कर लेता है। जब दमे का दौरा उठता है, उस समय जिस नासिका से स्वर चल रहा हो उसे रोक कर दूसरी नासिका से चला देता है, इससे दो चार मिनट मे ही दमे का दौरा शान्त हो जाता हैं। प्रतिदिन इस क्रिया को करने से थोडे दिनो में दमे की पीड़ा शान्त हो जाती है।

जुकाम के रोग में तो स्वर-विज्ञान अथवा स्वर-नियमन क्रिया को पश्चिमी वैज्ञानिक और चिकित्सक भी उपयोगी मानते हैं। Chronic cough, cold, catarrah, aesthma मे वे रोगी को breathing exercise की सलाह देते है।

योगी नाडी-शुद्धि द्वारा शारीरिक और मानसिक स्वस्थता प्राप्त करता है। वह विपरीत वातावरण में भी स्वस्थ तथा नीरोग रहता है और स्वस्थ चित्त से योग साधना—प्राण साधना करता है।

इतना तो निश्चित है कि स्वस्थ तन-मन के अभाव मे किसी भी प्रकार की साधना नही की जा सकती और न उसमें सफलता ही प्राप्त की जा सकती है, अतः स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन का होना आवश्यक है। नाडी-शुद्धि का योग साधक के लिए यही उपयोग है और इसीलिए वह स्वर-नियमन करता है, जिससे कि सुचारु रूप से प्राणायाम की साधना करके प्राण-शक्ति को शक्तिशाली बना सके।

प्राणायाम

प्राणायाम, प्राण-साधना का अन्तिम सोपान है। प्राणायाम को अंग्रेजी मे breathing exercise कहते हैं। प्राणायाम की साधना से साधक को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक लाभ होते हैं, चमत्कारिक सिद्धियाँ तथा लब्धियाँ प्राप्त होती है, उसका मनोबल, वचनबल तथा कायबल बढ़ता है, वचनसिद्धि प्राप्त होती है, अपने विचारो से दूसरो को प्रभावित करने की क्षमता आती है, उसके व्यक्तित्व मे चुम्बकीय शक्ति का विकास होता है, तैजस् शरीर का आभामडल शक्तिशाली बनता है, यहाँ तक कि उसकी अन्तर्दृष्टि का विकास हो जाता है और वह इतना सक्षम हो जाता है कि अपने ज्ञान-नेत्र (इसे योग की भाषा मे 'तीसरा नेत्र'—third eye कहा जाता है) से दूसरो से सूक्ष्म शरीर को देख सकता है, उनके विचारो को जान सकता है और भूत-भविष्य की जानकारी भी उसे हो जाती है।

वस्तुतः प्राणायाम ही प्राण-साधना है।

प्राणायाम के तीन भेद है—पूरक, कुम्भक, रेचक। पूरक मे साधक वायु को अन्दर खीचता (inhale) है, कुम्भक में वायु को अन्दर किसी एक स्थान पर यथा नाभिस्थान, हृदयस्थान आदि पर रोकता है और रेचक मे वायु को बाहर निकाल (exhale) देता है। इन तीनो के समय का अनुपात १ : ४ : २ होता है।

सामान्य प्राणायाम, जिसे अंग्रेजी में breathing exercise कहा जाता है, वह तो सिर्फ इतना ही है; किन्तु योग-मार्ग का प्राणायाम इसकी अपेक्षा बहुत गहरा है, यद्यपि उसमें भी क्रियाएँ तो रेचक, पूरक, कुम्भक—यही तीन की जाती है; किन्तु इनकी गहराई और समय-सीमा अधिक होती है।

सामान्य प्राणायाम में तो प्राणवायु का संचार रेचक, कुम्भक और पूरक शरीर के अग्रभाग, यथा—नाभि, हृदय, फेफडे, मस्तिष्क मे ही होता है किन्तु यौगिक प्राणायाम मेरुदण्ड अथवा रीढरज्जु (medulla oblangata) मे होकर किया जाता है अर्थात् साधक वायु का संचार रीढरज्जु में होकर करता है। उसका क्रम यह है—रीढ़ रज्जु के अन्तिम निचले भाग, मूलाधार चक्र से वायु को ऊर्ध्वगामी बनाता हुआ साधक ऊपरी सिरे—गरदन के पृष्ठ भाग तक पहुँचाता है और फिर वहाँ से ललाट में वायु को ले जाकर कपाल के ऊर्ध्वभाग तक पहुँचाता है, फिर नीचे उतारता हुआ नथुनो से बाहर निकाल देता है।

यौगिक प्राणायाम में सुषुम्ना का महत्त्व

चिकित्सा शास्त्र में जिसे मेरुदण्ड (back-bone) अथवा रीढ़रज्जु कहा जाता है उसी को योग में 'सुषुम्ना नाड़ी' कहा गया है।

सुषुम्ना नाडी, योग की दृष्टि से, शक्ति का पावर हाउस ही है। इसमें ऐसी-ऐसी शक्तियाँ भरी पड़ी है कि जिन्हें जगाने पर योगी साधक असम्भव कार्यों को भी सम्भव कर दिखाता है, वह महीनो तक समाधि ले लेता है, श्वास-प्रश्वास क्रिया को बन्द कर देता है, हृदयगति और नाडियाँ भी बन्द हो जाती हैं, साधारण भाषा में जीवन का कोई चिन्ह शेष नही रहता; फिर भी समाधिस्थ होकर वह जीवित रहता है, समाधि खुलने पर हर्षोत्फुल्ल दिखाई देता है और दर्शको को चकित कर देता है। इस प्रकार साधक असाधारण सामर्थ्य का स्वामी बन जाता है। किन्तु इस असाधारण सामर्थ्य को पाने के लिए उसे पुरुषार्थ भी असाधारण ही करना पड़ता है।

मेरुदण्ड अथवा सुषुम्ना नाडी अन्दर से पोली है। मनुष्य का यह पोला मेरुदण्ड ३३ छोटे-छोटे अस्थि-खंडों से मिलकर निर्मित हुआ है। यह शरीर की आधारशिला है और यही यौगिक शक्तियो का भण्डार भी है।

शरीर-विज्ञान के अनुसार मेरुदण्ड में अनेकों नाड़ियाँ हैं जो शरीर

के विभिन्न अवयवो मे पहुँचकर विभिन्न प्रकार के शारीरिक कार्य सम्पन्न करती हैं।

किन्तु योगविद्या के अनुसार इसमे तीन प्रमुख नाडियाँ है— ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। ये नाड़ियाँ सूक्ष्म औदारिक पुद्गलो से निर्मित हैं और सूक्ष्म औदारिक शरीर से सम्बन्धित हैं, इसलिए इन्हे चर्मचक्षुओं से नही देखा जा सकता; मेरुदण्ड को चीरने पर ये नाडियाँ दिखाई देती भी नही।

इन तीनो नाडियों की तुलना विद्युत प्रवाह से की जा सकती है। विद्युत की दो धाराएँ होती है —एक, धन (positive) विद्युत और दूसरी ऋण (negative) विद्युत। दोनो प्रकार की धाराएँ अलग-अलग तारो (wires) के माध्यम से चलती हैं, उन तारो में प्रवाहित होती हैं। ये धाराएँ अलग-अलग चाहे जितने समय तक और चाहे जितनी दूर तक चली जायें, कोई शक्ति उत्पन्न नही होती, न बल्ब जलते है, न पंखे चलते हैं, और जैसे ही ये धाराएँ मिल जाती है इनका circuit complete हो जाता है, शक्ति का स्रोत उमड़ पड़ता है, नियोन लाइट जल उठती हैं, वातावरण प्रकाश मे नहा जाता है, पंखे घूमने लगते हैं, मोटरें गतिमान हो जाती हैं, मिलों और कारखानों की मशीनें धडधडाने लगती हैं, हजारों टनों भरी पत्थरो और लोहे के सामानो को क्रेन इधर से उधर उठाकर रख देती है, रेडियो पर गाने आने लगते हैं और टेलीविजन पर दूर-दूर के दृश्य दिखाई देने लगते है। विद्युत् शक्ति से असम्भव लगने वाले कार्य भी सम्भव हो जाते है।

यही स्थिति इन नाडियों के बारे मे है। ईडा (चन्द्रनाडी) को ऋण विद्युत धारा (Negative) और पिंगला (सूर्य नाड़ी) को धन विद्युत धारा (Positive) कह सकते हैं तथा जहाँ ये दोनो मिलती हैं, वही सुषुम्ना नाडी है। जब ये मिल जाती है तभी यौगिक शक्तियो का स्रोत बह निकलता है। इस प्रकार सुषुम्ना नाडी एक तीसरी शक्ति है।

योग की और सूक्ष्म गहराई मे जाने पर, सुषुम्ना के अन्दर एक और त्रिवर्ग है जो पहले त्रिवर्ग से भी सूक्ष्म है। वहाँ भी तीन नाड़ियाँ है—(१) वज्रा (२) चित्रणी और (३) ब्रह्म नाडी।

बस, ब्रह्मनाडी ही यौगिक शक्तियो का मूल और केन्द्र है। यही नाडी मस्तिष्क में, शिराओ आदि के रूप मे जाकर हजारो भागो मे फैल जाती है। यह नाड़ी (ब्रह्म नाड़ी) तैजस् परमाणुओ से निर्मित और तैजस् शरीर में अवस्थित है। योगशास्त्रों में कहे गये सप्त कमल (अथवा चक्र), भी इसी

नाडी में स्थित हैं। योगी प्राणवायु द्वारा इसी नाड़ी को शक्तिमान्, स्फूर्तिवान् बनाता है और अनेक चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त करता है।

इस स्थिति मे मस्तिष्क एरियल का काम करता है, वही स्थूल और सूक्ष्म भौतिक तरगो को पकडता है। ध्वनि-तरंगो को, विचार-तरंगों को, विद्युत तरंगों को, रेडियोधर्मी तरंगो को—सभी प्रकार की तरंगों को पकडता है और साधक भूत-भविष्य का जानकार, चुम्बकीय शक्ति वाला तथा अन्तर्दृष्टिसम्पन्न एवं अनेक प्रकार की शक्तियो का स्वामी बन जाता है।

मेरुदण्ड के निचले अन्तिम भाग में, सुषुम्ना के अन्दर रहने वाली ब्रह्म नाड़ी एक काले वर्ण के षट्कोण स्कन्ध (चक्रजाल) से बँधकर लिपट जाती है। पुराणो में इसी को कूर्म कहा गया है और यौगिक ग्रंथों में कुण्डलिनी। यह गुन्थन कुण्डलाकार है, इसीलिये इसका नाम कुण्डलिनी पड़ा।

कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वारोहण और चक्रभेदन

योग और विशेष रूप से हठयोग में कुण्डलिनी की महिमा का बहुत गुणगान किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसे 'नाचिकेत' अग्नि कहा गया है और बताया गया है कि जो साधक 'त्रि-नाचिकेत' बन जाते है, वे जन्म और मृत्यु से पार पहुँच जाते हैं—तरति जन्ममृत्यू उनका शरीर योगाग्निमय हो जाता है और वे जरा, व्याधि तथा मृत्यु से पार हो जाते है—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम्।

—श्वेताश्वतर उपनिषद्

चैनिक योग दीपिका में इसे आत्मिक अग्नि (spirit fire) कहा गया है—

Only after the completed work of a hundred days will the Light be real, there will it become Spirit fire. The heart is the fire; the fire is the Elixir. —**I'lohin**

योगविद्या के पाश्चात्य विद्वान इसे सर्पवत्वलयान्विता अग्नि (serpent fire) कहते हैं और मैडम ब्लैवेटस्की (Madame Blavetsky—ये थियोसोफीकल सोसाइटी Theosophical Society की जन्मदाता थी) इसे विश्वव्यापी विद्युत शक्ति (Cosmic Eletricity) कहती थीं। इसकी गति के

विषय में बताते हुए उन्होने कहा है कि प्रकाश १,८५,००० मील प्रति सैकिण्ड की गति से चलता है, जबकि कुण्डलिनी शक्ति की गति ३,४५,००० मील प्रति सैकिण्ड है।

(Light travels at the rate of 1,85,000 miles per second, Kundalını at 3,45,000 miles a second)[1]

यह कुण्डलिनी शक्ति साधारणतया मानव-शरीर मे सोयी पडी रहती है, सुषुप्ति अवस्था मे रहती है। किन्तु जब योगी प्राणायाम द्वारा प्राणशक्ति को इसमे सचारित करता है, सही शब्दों में ठोकर देता है प्राणशक्ति की, प्राणशक्ति को उस पर केन्द्रित करके ऊपर की ओर धक्का लगाता है, इसे ऊपर की ओर चढने को प्रेरित करता है; तब इसकी सुषुप्ति दशा टूटती है और यह ऊर्ध्वारोहण करती है; उर्ध्वारोहण के क्रम मे यह चक्रो[2] का भेदन करती है।

चक्र के लिए योग ग्रंथो में 'कमल' शब्द दिया गया है। यह शब्द अधिक उपयुक्त है। जिस तरह कमल का फूल खिलता और बन्द होता है, उसका

---

१ मैडम ब्लेवेट्सकी के कथन मे कुछ अपूर्णता है। वास्तव मे, प्रकाश की गति १ ८६,००० मील प्रति सैकिण्ड है, विद्युत की गति २,८८,००० मील प्रति सैकिण्ड और विचारो की गति २२,६५,१२० मील प्रति सैकिण्ड है। —सम्पादक

२ चक्रो की सख्या के बारे मे कई विचारधाराएँ प्राचीन मनीषियो की प्राप्त होती हैं। साधारणतया चक्र सात माने जाते हैं—(१) मूलाधार—सुषुम्ना के अन्तिम निचले सिरे मे, (२) स्वाधिष्ठान—मूलाधार से चार अगुल ऊपर पेडू में (३) मणिपूर—नाभि स्थान मे, (४) अनाहत—हृदय मे (५) विशुद्धि—कठ में, (६) आज्ञा—भ्रूमध्य मे, (७) महस्रार—ब्रह्मरध्र मे।
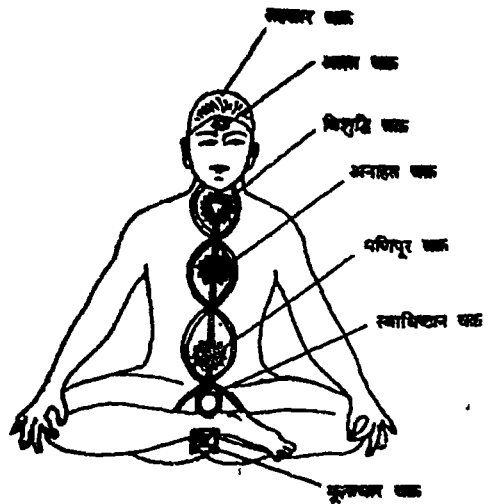
(देखिए चित्र)

कुछ आचार्यों ने आज्ञा और सहस्रारचक्र के मध्य में दो चक्रो की अवस्थिति और मानी है—(१) मन चक्र और (२) सोमचक्र। मन चक्र का

संकोच-विस्तार होता है, वही स्थिति इन चक्रों की है। जिस समय सुषुम्ना मार्ग में संचारित होती हुई प्राण-शक्ति इन चक्रो से टकराती है अथवा कुण्डलिनी शक्ति इनको ठोकर मारती है, योगी इन चक्रो को प्राणवायु के संसर्ग से अनुप्राणित करता है तो बन्द हुए अथवा संकुचित अवस्था में रहे हुए कमल खिल जाते हैं, और विकसित-विस्तृत हो जाते है। यही चक्र-वेध अथवा चक्रो का उन्मुकुलन या अनुप्राणन है।

चक्रो अथवा कमलो का उन्मुकुलन अथवा अनुप्राणन कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से होता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है या तो हठयोग से अथवा भावनायोग से। साधक अपनी रुचि, क्षमता तथा योग्यता के अनुसार हठयोग की प्रक्रियाओं अथवा भावनायोग की साधना से कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करता है। साथ ही यह शक्ति सिर्फ सिद्धासन, पद्मासन, पर्यकासन से ही जागृत होती हैं। शवासन, दंडासन, लगुंडासन आदि आसनों से नही हो सकती। इन आसनो से कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वारोहण संभव ही नही है।

यह कुण्डलिनी शक्ति प्राणमय कोश अथवा तैजस् शरीर (Etheric Body) मे अवस्थित है और प्राणमय शरीर प्रकाश रूप है, अतः कुण्डलिनी शक्ति भी प्रकाश रूप है; किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं से निर्मित होने के कारण इस शरीर को साधारण चर्म-चक्षुओं से नही देखा जा सकता।

स्थान ललाट है, यह आज्ञाचक्र से लगभग २ अगुल ऊपर होता है, उसी में विचार उत्पन्न होते है तथा इन्द्रियविषयो (श्रवण, नेत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श इन्द्रियो के विषय) का स्थान भी वही है, यही से आज्ञावहा नाडी निकलती है यह मूर्धास्थान से ऊपर अवस्थित है।

मनश्चक्र से ऊपर और सहस्रार चक्र से नीचे सोमचक्र है। यही निरालम्वपुरी तुरीयातीत अवस्था मे रहने का स्थान है। इस स्थान (चक्र) में योगीजन तेजोमय ब्रह्म का दर्शन और अनुभव करते हैं, आत्मस्वरूप का अनुभव एव साक्षात्कार करते हैं।

शक्ति सम्मोहन तत्र मे भी नव चक्रो का वर्णन है, किन्तु उनके नाम भिन्न है, दल आदि का भी विवरण नहीं दिया गया है।

इन चक्रो के अतिरिक्त हठयोग मे त्रिकूट, श्रीहाट, गोल्लाट और पीठ एवं भ्रमर गुम्फा नाम के पाँच चक्र और बताये गये हैं।

—परमार्थ पथ, पृ० ३८७-४०३, प० श्री त्र्यम्बक शास्त्री खरे के 'श्री कुण्डलिनीशक्ति योग' निवन्ध के आधार पर

इसके लिए विशिष्ट साधनो की आवश्यकता होती है। ये साधन आध्यात्मिक भी हो सकते है और भौतिक भी। योगी आध्यात्मिक उन्नति, हठ योग की क्रियाओ तथा भावनायोग द्वारा अपने अन्तर् मे बीज रूप में उपस्थित दिव्य दृष्टि को विकसित करता है और वैज्ञानिक बाह्य साधनो द्वारा भी प्रकाशमय प्राणमय शरीर को देख लेता है।[1]

---

१ (क) डॉ० किलनर ने प्राणमय कोष (Etheric boby) को देखने के लिए ऑरोस्पेक (Aurospec) नाम का चश्मा (Goggles) खोज निकाला हैं। इस चश्मे से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है अर्थात् इस चश्मे द्वारा मानव किसी भी दूसरे व्यक्ति के प्राणमय शरीर को देख सकता है। परन्तु यह जो प्राणमय शरीर प्रकाशरूप दिखाई देता है सो प्रकाशात्मक कुण्डलिनी शक्ति के सारे शरीर मे व्याप्त होने के कारण से दिखाई देता है। मनोमय शरीर में ऊर्मियो के उत्पन्न होने पर अन्नमय शरीर मे उनकी क्रिया होने का साधन प्राणमय शरीर ही है। अर्थात् प्राणमय शरीर का प्रकाश रूप अपने अनुभव से तथा डॉ० किलनर के ऑरोस्पेक से प्रत्यक्ष होता है।

—श्री कुण्डलिनी योग-शक्ति—ले० प० श्री त्र्यम्बक भास्कर शास्त्री खरे
(परमार्थ पथ, पृ० ३६८)

(ख) ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त करने की दूसरी बाह्य विधि बाहरी साधनो से मस्तिष्क के विशिष्ट अग को उत्तेजित करना है। यह तिब्बत के लामाओ मे प्रचलित है। वे लोग विशेष प्रकार की जडी-बूटियो तथा मत्रो से अभिमत्रित करने के वाद उस अभिमन्त्रित आरी जैसे दांतेदार औजार को गर्म करते हैं और उस तपती हुई आरी से ललाट की हड्डी को काटते हैं; फिर उसके द्वारा हुए छेद मे एक जडी-बूटियो तथा मत्रो से पवित्र की हुई शलाका को डाल देते हैं। वह शलाका इतनी कुशलता से डाली जाती है कि मस्तिष्क के एक विशेष भाग टकराकर उसे उत्तेजित कर देती है। इस प्रकार मनुष्य की तीसरी आँख बन जाती है और उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है, वह दूसरो के प्राणमय शरीर (Etheric or Electric body) को देख सकता है।

ऐसी घटना लोबसग नाम के लामा के जीवन मे घटी है। उसने इसका पूरा व्यौरा The Third Eye 'तीसरी आँख' नामक पुस्तक में दिया है।

—पूर्ण विवरण के लिए द्रष्टव्य—तीसरी आँख (रहस्यो के घेरे में, पृ०८६)

इस प्राणमय शरीर में अवस्थित कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर चक्रों अथवा कमलों को अनुप्राणित करने से योगी को विशिष्ट लब्धियाँ और चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

(१) मूलाधार को अनुप्राणित करने से अध्यात्म विद्या मे प्रवृत्ति और नीरोगता; (२) स्वाधिष्ठान से वासना क्षय और ओजस्विता; (३) मणिपूर से आरोग्य, आत्म-साक्षात्कार, ऐश्वर्य; (४) अनाहत से यौगिक उपलब्धियाँ एवं आत्मस्थता, (५) विशुद्धि चक्र से कामना-विजय, (६) आज्ञाचक्र से अन्तर्ज्ञान और वाक्‌सिद्धि, (७) मनःचक्र से अतीन्द्रिय ज्ञान तथा इन्द्रिय और मनोविजय; (८) सोमचक्र से सर्वसिद्धि, आनन्द की प्राप्ति और आत्मा के तेजोमय स्वरूप का अनुभव; (९) सहस्रार से मुक्ति। अर्थात् इन चक्रों (कमलों) के उन्मुकुलित होने पर साधक को ये विशिष्ट उपलब्धियाँ प्राप्त होती है।

वस्तुतः प्राणमय शरीर आत्मा के साथ लगा रहने वाला सूक्ष्म (तैजस्) शरीर है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूक्ष्म शरीर की रचना न्यूट्रिनो नामक कणों से होती है। न्यूट्रिनो कण अदृश्य (साधारण चर्मचक्षुओ से अदृश्य), आवेश रहित और इतने हल्के होते हैं कि इनमे मात्रा और भार लगभग नही के बराबर होता है। ये स्थिर नही रह सकते और प्रकाश की तीव्र गति से सदा चलते रहते हैं।

वैज्ञानिको ने प्रयोग करके देखा है कि यदि न्यूट्रिनो कणो को किसी दीवार की ओर छोडा जाय तो वे दीवार को पार करके अन्तरिक्ष मे विलीन हो जाते हैं। कोई भी भौतिक वस्तु इन्हें रोक नही सकती। इन न्यूट्रिनो कणों को पुनः भौतिक वस्तु के रूप मे भी परिवर्तित किया जा सकता है।

परामनोविज्ञान के अनुसार यह सूक्ष्म शरीर किसी भी स्थान पर, किसी भी दूरी और परिमाण मे अपने को प्रकट और लय कर सकता है।

—रहस्यो के घेरे मे, पृष्ठ ३७

इस वैज्ञानिक विवरण से स्पष्ट है कि यह प्राणमय अथवा सूक्ष्म (तैजस्) शरीर पौद्गलिक है और इसी कारण यह वैज्ञानिक यन्त्रों, ऑरोस्पेक (Auro-spec) आदि से भी देखा जा सकता है। —सम्पादक

इन आत्मिक एवं यौगिक उपलब्धियो के अतिरिक्त प्राणायाम का साधक के शरीर पर भी बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

प्राणायाम का शरीर पर प्रभाव

आधुनिक शरीर-विज्ञान के अनुसार मानव-शरीर के अन्दर काम करने वाले प्रधान अग समूह है—(१) स्नायु जाल (Nervous system) (२) ग्रन्थि समूह (glandular system), (३) श्वासोपयोगी प्रणाली (respiratory system), (४) रक्तवाहिनी प्रणाली (circulatory system), (५) पाचन सस्थान (digestive system)।

प्राणायाम से इन सभी अग समूहो को लाभ होता है। प्राणायाम मे पूरक के समय जो लम्बी गहरी साँस ली जाती है, उससे रक्त अधिक शुद्ध होता है और शुद्ध रक्त सम्पूर्ण शरीर मे फैलकर स्फूर्ति और चुस्ती देता है। मस्तिष्क से लेकर पैरो तक के सभी अंग बलशाली बनते हैं।

सामान्य साँस लेने मे फेफडो के कुछ ही अंश क्रियाशील होते हैं और शेष अंश निष्क्रिय पड़े रहते हैं। किन्तु प्राणायाम (गहरी साँस लेने) से फेफड़ो के सभी अग सक्रिय हो जाते हैं। परिणामस्वरूप राजयक्ष्मा (तपेदिक T. B.) नही हो पाती और यदि प्रारम्भिक अवस्था (primary stage) में हो तो ठीक भी हो जाती हैं। इसी प्रकार फेफड़ो सम्बन्धी अन्य रोग जैसे plurisy आदि भी ठीक हो जाते है।

शुद्ध रक्त मिलने से ग्रन्थि समूह ठीक तरह से काम करने लगेगा, शीघ्र ही बुढापे के लक्षण प्रगट नही होगे (क्योकि बुढापा Thyroid ग्रन्थि की निष्क्रियता से आता है और प्राणायाम से यह ग्रन्थि सक्रिय बनी रहती है), शरीर फूर्तीला बना रहेगा और कार्यक्षमता भी बढेगी।

व्यायाम पाचन संस्थान के लिए भी बहुत सहायक है। रेचक, पूरक और कुम्भक—तीनो दशाओ मे उदर की नाडियाँ सिकुडती और फैलती है। इस प्रकार उनका व्यायाम हो जाता है और वे स्वस्थ बनी रहती हैं।

इस प्रकार प्राणायाम से शरीर स्वस्थ बना रहता है। मांसपेशियाँ (muscles) लचीली और सुदृढ़ बनी रहती हैं, गुर्दे (Kidney), यकृत (liver), प्लीहा आदि सभी अंग सुचारु रूप से काम करते हैं, फेफड़ो मे लचीलापन बना रहता है और श्वास-कास आदि रोग नही हो पाते।

प्राणायाम शारीरिक दृष्टि से रोग-निवारक और रोग-प्रतिरोधक[1] है, अतः यह शरीर को नीरोग रखता है।

शरीर की नीरोगता के साथ-साथ मनःस्वास्थ्य और मनःसमाधि में भी सहयोगी बनता है।

इस प्रकार साधक प्राण-साधना में क्रमशः आसन-शुद्धि, नाडी-शुद्धि और पवन-साधना करता है, प्राणो यानी सूक्ष्म शरीर को तीव्र करता है और अनेक विशिष्ट शक्तियो की उपलब्धि करता है।

किन्तु जब तक ये उपलब्धियाँ बहिर्मुखी रहती हैं, अन्तर्मुखी नही हो पाती तब तक ये आध्यात्मिक उपलब्धियाँ, अध्यात्म-साधना नही बन पाती। फिर भी इनसे साधक को अनेक प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक लाभ प्राप्त होते है।

प्रारम्भ में जो दश प्राण बताये गये हैं, वे प्राणायाम की साधना से बलशाली बनते है, उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है, इन्द्रिय और मन सूक्ष्मग्राही बनते हैं। यही प्राण साधना की फलश्रुति है।

□□

---

१ विभिन्न प्रकार के रोगनिवारण और उपलब्धियों के लिए द्रष्टव्य हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र, पाँचवा प्रकाश और शुभचन्द्राचार्यप्रणीत ज्ञानार्णव।

२ लेश्या-ध्यान साधना

भावना तथा रंग चिकित्सा सिद्धान्त

लेश्या-ध्यान-साधना नया नाम है, किन्तु प्रक्रिया और अनुभूतियाँ नई नही हैं।

इस विषय को एक-एक शब्द पर चलकर समझने का प्रयत्न कीजिए।

लेश्या है कर्मों से लिप्त आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्दन[1] और साथ ही उस परिस्पन्दन से आकर्षित हुए कर्म-परमाणुओं का स्पन्दन। यह कषायो से अनुरंजित योगो की प्रवृत्ति है।[2]

और लेश्या-ध्यान साधना है भावो (कषाय-अनुरंजित आत्म-परिणामों तथा अप्रशस्त पुद्गल परमाणुओ) को शुद्ध करने की प्रक्रिया, आध्यात्मिक मूर्च्छा को मिटाने की विधि, मानसिक एवं शारीरिक शान्ति व स्वस्थता पाने की विधि और है जागरण, विशेष रूप से अन्तर्जागरण की प्रक्रिया।

मानव के अन्तर्जगत मे दो प्रकार के स्पन्दन सतत होते रहते है, दो प्रकार की धाराएँ साथ-साथ बहती रहती है। एक है विचारो की धारा और दूसरी है भावो की धारा।

विचारो की धारा ज्ञान से सम्बन्धित होती है, उसमें बाह्य परिस्थितियाँ और व्यावहारिक जगत भी सहकारी होता है। मनुष्य वातावरण से, समाज से, गुरु से, पुस्तको से जो कुछ भी ज्ञान अर्जित करता है, उसी के अनुकूल उसके अन्तर्जगत में एक धारा बन जाती है, वैसे ही उसके विचार

---

१ (क) लिम्पतीति लेश्या।····कर्मभिरात्मानमित्यध्याहागपेक्षित्वात्।

—धवला १/१,१,४/१४६/६

२ (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, मूल ५३६/९३१

मोहोदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदण भावो।

—मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जीव का स्पन्दन।

(ख) कषायोदयारंजिता योगप्रवृत्तिरिति। —सर्वार्थसिद्धि २/६/१५६/११

बन जाते है, सोचने-समझने का एक दायरा बन जाता है, यही उसकी विचारो की धारा है।

मानव, चिन्तन-मननशील प्राणी है, वह सोचे-विचारे बिना रह ही नही सकता; हमेशा कोई न कोई विचार उसके मन-मस्तिष्क में बहता ही रहता है, यह बहते हुए विचार ही एक धारा का रूप ले लेते हैं और यही आत्मा की विचारो की धारा है, विचारो का स्पन्दन है।

एक दूसरी धारा भी मानव के (और विशाल दृष्टि से देखा जाय तो प्राणी मात्र के) अन्तर्जगत में सतत गतिमान रहती है, वह है भावों की धारा। भावधारा का अभिप्राय है—कषायों की धारा। क्रोध की, मान की, माया की, लोभ की, हास्य-रति-अरति-भय-जुगुप्सा स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद की (काम भावना की) धारा—यह धारा भी मानव के अन्तर्जगत में—सूक्ष्म अथवा तैजस् शरीर में सतत बहती रहती है।

यह धारा प्रशस्त भी होती है और अप्रशस्त भी; शुभ भी होती है और अशुभ भो तथा संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट भी; अन्धकार के रंग—काले नीले-हरे रंग की भी होती है और प्रकाश के रंग—पीले, लाल और श्वेत रंग की भी। इसे संक्षेप में राग-द्वेष अथवा मोह की धारा भी कह सकते हैं।

जब संक्लिष्ट विचारो की धारा प्रवाहित होती है तो मनुष्य के मन में बुरे भाव (विचार) आते है, कभी घृणा के तो कभी द्वेष के, कभी कपट के तो कभी भय एवं वासना के। जब मनुष्य मूर्च्छित होता है, पर-पदार्थों, ; घटनाओं के प्रति संवेदनशील होता है, उनके प्रति प्रतिबन्धित होता है तब यह संक्लिष्ट विचारो की धारा अथवा द्वेष की धारा चलती है।

लेकिन द्वेष की धारा भी स्थायी नही होती, असंक्लिष्ट धारा भी नुष्य की अन्तश्चेतना में चलती है तब उसमे अच्छे भाव, अच्छे विचार, म, करुणा, एकता, विश्वास आदि के आवेग उमड़ते है, वह अच्छे काम करने ो प्रवृत्त होता है।

लेकिन संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट ये दोनो ही प्रकार की भावधारा हजन्य है, अतः इसमें मूर्च्छा भाव रहता है। योग की भाषा मे कहें तो नुष्य की अन्तश्चेतना मोह-मूर्च्छित रहती है।

यह मूर्च्छित दशा मनुष्य के तैजस् अथवा प्राण शरीर मे रहती है। शरीर में अवस्थित कषायों की धारा प्राण शरोर में बहती है और

उसकी अभिव्यक्ति औदारिक (स्थूल) शरीर में होती है। मनुष्य का प्राणजगत, मनोजगत और आत्मा भी इससे प्रभावित होता है। इसीलिए ऐसी आत्मा को जैनागमो मे कषायात्मा कहा गया है।

लेश्याध्यान द्वारा साधक इस कषाय-अनुरंजित भावधारा को निर्मल और स्वच्छ बनाने की साधना करता है।

आभामंडल

जैन दर्शन के अनुसार लेश्या के दो भेद हैं—(१) भाव लेश्या और (२) द्रव्य लेश्या।

योग के अनुसार भावलेश्या तो कषाय-आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्दन है, भावधारा है और द्रव्यलेश्या, आत्मा के उन परिस्पन्दनो से आकर्षित पुद्गल वर्गणाएँ—तैजस् पुद्गल वर्गणाएँ हैं, इन तैजस् पुद्गल वर्गणाओं से ही तैजस् अथवा प्राण शरीर की सृष्टि होती है और उसी में द्रव्य लेश्याओ की अवस्थिति होती है। तैजस् अथवा प्राण शरीर पौद्गलिक होने के कारण दृश्य होता है, उसमें रूप होता है, अतः लेश्या (द्रव्य लेश्या) भी रूपगुण युक्त होती है। उसमें विविध वर्ण होते हैं। इन वर्णों के आधार पर लेश्या छह प्रकार की मानी गई है।

आगमों मे लेश्या को आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया रूप बताया गया है।[1]

आधुनिक विज्ञान ने भी सूक्ष्म (प्राण) शरीर को न्यूट्रिनो पुद्गलों से निर्मित प्रकाश रूप माना है। उन्होने इसके फोटो भी लिये हैं। वे यह भी मानते है कि शुभ विचारो के समय यह प्राण शरीर पीला, लाल और श्वेत रंग का हो जाता है और कुत्सित विचारो के समय हरा, नीला तथा काले रंग का।

इस प्राण शरीर से एक प्रकार की विद्युत धारा निकलती है। इस विद्युतधारा का निर्माण तैजस् परमाणुओ (न्यूट्रिनो कणो) की तीव्रतम गति के कारण होता है। वैज्ञानिक इसे मानव विद्युत (Human Electricity) कहते है। यह विद्युत भी प्राणमय शरीररूप होती है।

---

१ लेशयति—श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या—अतीव चक्षुरापेक्षिका स्निग्धदीप्त रूपा छाया।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०

इस प्रकार प्राण शरीर विद्युत रूप में मानव के स्थूल शरीर से २½-
बाहर तक प्रवाहित रहता है। इसी को आभामंडल कहा जाता है।
मनुष्य ही नही, यह आभामंडल[1] प्राणी मात्र के स्थूल शरीर के

आभामडल (aura) और प्रभामडल (Halo) मे बहुत अन्तर है। आभामंडल तो प्राणशरीर से विकीर्ण होने वाली विद्युत् तरगो से बनता है। इसमे रंग भी होते है और वे रग भावनाओ तथा आवेग-सवेग के अनुसार बदलते भी रहते हैं। यह आभामडल सपूर्ण शरीर के आकार का तथा मानव-शरीर से २½-३ फुट तक बाहर निःसृत होता रहता है। मानव ही नही, प्राणीमात्र, यहाँ तक वृक्षो और फूल-पत्तियो मे भी आभामडल होता है।

किन्तु प्रभामंडल केवल पवित्रात्माओ मे ही बनता है। यह सिर्फ सिर के पीछे की ओर गोलाकार रूप में होता है। इसका वर्ण स्वर्ण के समान चमकीला होता है तथा यह वर्ण स्थायी होता है, कभी बदलता नहीं। साथ ही यह बर्ण इतना स्पष्ट होता है कि चर्मचक्षुओ से भी देखा जा सकता है। भगवान महावीर, राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि के सिरों के पीछे जो प्रकाशवलय तस्वीरो आदि मे दिखाया जाता है, वह प्रभामडल ही है, जिसे साधारण भाषा में 'भामडल' भी बोल दिया जाता है।

प्रभामण्डल की उत्पत्ति उन्हीं पवित्रात्माओ के होती है जो आध्यात्मिक उन्नति की चरम स्थिति पर पहुँच जाते हैं। योग की दृष्टि से जिस योगी का अन्तिम यानी सहस्रार चक्र अनुप्राणित हो जाता है उसी के यह प्रभामण्डल बनता है।

योगी साधक आज्ञा चक्र जागृत करने के उपरान्त अपनी शक्ति का प्रवाह जब और ऊँचा चढाता है तब वह शक्ति ऊर्ध्वमुखी गति से मनश्चक्र को जाग्रत करती है और आगे बढकर सोमचक्र को अनुप्राणित करती है। इस सोमचक्र के जागृत होते ही साधक को कोटि सूर्यसम आत्मिक तेज दिखाई देने लगता है। यह आसाधारण प्रकाश ही पुंजीभूत होकर प्रभामण्डल का निर्माण करता है और जब साधक का ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार चक्र अनुप्राणित हो जाता है तो वह अति आनन्ददायक और प्रभावशाली प्रकाश सहस्र-सहस्र श्मियो के रूप मे बाहर की ओर वह निकलता है। सहस्रार चक्र (कमल) मे जार दल (पखुडियाँ) हैं और इन सभी से प्रकाश प्रस्फुटित होता है। यही प्रकाश योगी के सिर के पीछे वृत्ताकार रूप मे दिखाई देता है, जिसे प्रभा-मण्डल कहते हैं।

चारो ओर विकीर्ण होता है; किन्तु सूक्ष्म पुद्गलो द्वारा निर्मित होने के कारण चर्म-चक्षुओ से इसका दृष्टिगोचर हो पाना कठिन है। वैज्ञानिको ने अत्यन्त संवेदनशील कैमरो से इसके चित्र लिये है तथा डाक्टर किलनर द्वारा आविष्कृत ऑरोस्पेक चश्मा (aurospec goggles) द्वारा इसे देखा जा सकता है और जिस योगी का आज्ञा चक्र जागृत हो गया है तथा उसे दिव्य दृष्टि (सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओ को देखने की शक्ति) प्राप्त हो गई हो, वह तो उसे देख ही सकता है।

लेश्याध्यान : प्राण शरीर-शुद्धि की प्रक्रिया

लेश्याध्यान का साधक इस आभामण्डल सहित सम्पूर्ण प्राण शरीर की शुद्धि करता है। यह शुद्धि वह दो प्रकार से करता है—(१) भावना द्वारा और (२) रंगो के ध्यान द्वारा।

भावना आन्तरिक है अतः यह आन्तरिक शुद्धि का माध्यम है। भावना का अभिप्राय यहाँ शुभ और शुद्ध भावना है।

साधक अपने मन-मस्तिष्क को सर्वप्रथम बुरी और कुत्सित भावनाओ से रिक्त करता है; ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि विकारी भावनाओ को दूर करता है और इनके स्थान पर दया, क्षमा, परोपकार, आत्म-भाव आदि की शुभ-शुद्ध भावनाओ से मन-मस्तिष्क को संवासित करने का प्रयत्न करता है।

ज्यो-ज्यो भावनाएँ शुभ-शुद्ध होती जाती हैं, लेश्याएँ भी शुभ से शुभतर—शुभतम होती जाती है। साथ ही साथ प्राण शरीर भी ओजस्वी-तेजस्वी होता जाता है। जल से जिस प्रकार वस्त्र या शरीर धुलकर उजला होता है, उसी प्रकार भावना से धुलता हुआ तैसस् शरीर उज्ज्वल उज्ज्वलतर होने लगता है तब प्राणमय शरीर से विकीर्ण होने वाली विद्युत तरगें भी प्रभावशाली व प्रकाशमयी होती जाती है। परिणामस्वरूप चारो ओर का—दूर-दूर तक का वातावरण भी प्रभावित होता है।

महान् योगियो और पवित्रात्माओ, उच्चकोटि के साधुओ के सान्निध्य में जो पशु-पक्षी अपना जन्मजात वैर भाव भी भूलकर शान्तिपूर्वक बैठ जाते है, उसका कारण लेश्या-शुद्धि का प्रभाव ही है। किसी उच्च भावना वाले या प्रखर मनोबल वाले व्यक्ति के ससर्ग का प्रभाव हमारे मन-मस्तिष्क पर पड़ता है, उसका कारण भी उसकी प्रबल लेश्याएँ ही हैं।

लेश्या-शोधन की दूसरी प्रक्रिया रंगों का ध्यान है। यह बाह्य साधना इसकी गति अथवा पहुँच प्राण शरीर तक ही है। इसके द्वारा साधक शान्ति का अनुभव तो होता है, किन्तु वह स्थायी नही होता। साधक भन्न प्रकार के रगों के ध्यान द्वारा विभिन्न प्रकार के आवेगों के उपशमन अनुभव करता है। वे आवेग कुछ काल के लिए उपशान्त भी हो जाते है। स्थिति ऐसी ही है, जैसे निर्मली डालने से पानी की गन्दगी नीचे बैठ जाती और जल शुद्ध दिखाई देने लगता है। हाँ, यदि इसमे शुभ भावनाओ का योग मिल जाये तो आवेगो का स्थायी उपशमन और दूसरे शब्दो में क्षय हो जाता है। रग के साथ भावना का योग मिलने से प्रभाव में स्थायित्व ा है।

यदि बाह्य दृष्टि से विचार किया जाय तो लेश्याध्यान रंगो का ान है; क्योकि लेश्याओ के भी रंग होते है।

लेश्याओ का वर्गीकरण

शुद्धि-अशुद्धि और असंक्लिष्टता तथा संक्लिष्टता के आधार पर याओ के छह वर्गीकरण किये गये है—

(१) कृष्ण लेश्या	अशुद्धतम	क्लिष्टतम
(२) नील लेश्या	अशुद्धतर	क्लिष्टतर
(३) कापोत लेश्या	अशुद्ध	क्लिष्ट
(४) तेज लेश्या	शुद्ध	अक्लिष्ट
(५) पद्म लेश्या	शुद्धतर	अक्लिष्टतर
(६) शुक्ल लेश्या	शुद्धतम	अक्लिष्टतम

नामो के अनुसार इनके रग भी है—कृष्ण लेश्या का रंग काला, बैंगनी से बैंगनी तक), नील लेश्या का रंग नीला, कापोत लेश्या का हरा (कपोत के रंग जैसा—आकाश सदृश नीला), तेजोलेश्या का लाल —बाल सूर्य के समान), पद्मलेश्या का पीला (उगते हुए सूर्य की भा जैसा जिसमें हल्की सी लालिमा भी होती है) और शुक्ललेश्या का रंग त (शख के समान) होता है।

ये रंग इन लेश्याओ के पुद्गल परमाणुओं के होते हैं।

जैन शास्त्रो में वर्ण पाँच बताये है—(१) काला, (२) पीला, (३) नीला,) लाल और (५) सफेद। आधुनिक विज्ञान सात रग मानता है—(१)

बैंगनी अथवा जामुनी रग (२) नीला (गहरा नीला) (३) नीला (आकाश जैसा नीला (४) हरा (५) पीला (६) नारगी और (७) लाल ।[1]

लेश्याध्यान और रंग चिकित्सा प्रणाली

वस्तुतः जितने भी स्थूल सूक्ष्म स्कध है, वे सभी रंगो और उपरंगो वाले होते है। लेकिन रग हमे ४९वें कंपन पर दिखाई देते हैं, इस से कम कपन पर नही। मानव का शरीर और मन भी स्थूल-सूक्ष्म स्कंधो से निर्मित होता है। अतः यह वाहरी रगो से प्रभावित भी होते हैं। इनमे शुभ रंगो के प्रभाव से व्यक्ति में शुभ भावनाओ का प्रादुर्भाव होता है और अशुभ रगो से अशुभ भावो का।

यदि एक अपेक्षा से देखा जाय तो अप्रशस्त रग भी सदैव अप्रशस्त ही नही होते। उदाहरण के लिए—नवकार मंत्र के अन्तिम पद 'नमो लोए सव्वसाहूंण' का ध्यान करते हुए साधक साधु पद का कृष्ण वर्णमयी ध्यान करता है किन्तु वहाँ यह कृष्णवर्ण प्रशस्त है, शुभ है। यह कृष्ण (काला रग) वर्ण अवशोषक है, वाहर से आती हुई अशुभ भावो की तरगो को रोकता हैं, अपने अन्दर ही जज्व कर लेता है, आत्मा तक नही पहुँचने देता। साथ ही यह प्रशस्त कृष्ण वर्ण का ध्यान साधक के शरीर और मन को कष्ट-सहिष्णु तथा उपसर्ग—परीषहो को समभाव से सहन करने मे सक्षम बना देता है।

इस प्रकार साधु पद के ध्यान मे साधक द्वारा ध्येय कृष्ण वर्ण अलग है और कृष्ण लेश्या का कृष्णवर्ण उससे बिल्कुल ही विपरीत अप्रशस्त और अशुभ है। साधु पद के ध्यान के समय का कृष्ण वर्ण कस्तूरी जैसा चमकीला है

---

१ आधुनिक विज्ञान Vibgyor के सिद्धान्त को मानता है। इस शब्द का एक-एक अक्षर एक-एक रंग के नाम प्रथम वर्ण है, यथा —v=viloet (बैंगनी), i=indigo (गहरा नीला) b=blue=(नीला), g=green (हरा), y=yellow (पीला), o=orange—(नारगी), r=red (लाल)।

विज्ञान श्वेत रग को नही मानता, उसकी मान्यता है कि इन रगो के सयोग से श्वेत रग वन जाता है।

सही स्थिति यह है कि सूर्य किरणें, जो पारे के समान श्वेत होती हैं, उनमें ये सातो रग prism द्वारा दिखाई देते हैं। किन्तु इन सात रगो के सयोग से शख जैसा सफेद रग नही वनता। जवकि जैन दर्शनसम्मत श्वेत रग शख के समान सफेद है और वह मूल (original) रग है, रगो का मिश्रण नही है।

—सम्पादक

और कृष्ण लेश्या का काला रंग अंजन (काजल) के समान है, इसमें चमक नही होती, घोर अंधकार ही होता है ।

कृष्णलेश्या और काला रग

काला रंग मनुष्य की दुर्भावनाओ का प्रतीक है। जिस मनुष्य के भावो में हिंसा, क्रूरता आदि दुर्भावो की तरंगें प्रवाहित होती हो, उसका आभामंडल काला होता है। ऐसा व्यक्ति कृष्णश्लेयावाला होता है ।

लेश्याध्यान का साधक काले रंग का ध्यान करता है, उस समय वह काले रंग को गहरा न करके उसका परिमार्जन एवं संशोधन करता है। उसे हल्का बनाने का प्रयास करता है ।

साथ ही साधक काले रग के ध्यान से अपने शरीर को कष्टसहिष्णु बनाता है। चूँकि काला रंग अवशोषक है, वह बाहर के भावो, दुर्गुणो को अन्दर नही आने देता और अन्दर के भावो को बाहर नही जाने देता, अतः साधक काले रंग के इस गुण का लाभ उठाकर बाह्य दुर्गुणों को अपने अन्दर प्रवेश नही करने देता, बाह्य प्रतिकूल परिस्थितियो से उत्तेजित न होने की तथा उन्हें समभावपूर्वक सहन करने की क्षमता का विकास कर लेता है ।

ध्यान से परिमार्जित होता हुआ काला रग बैंगनी रंग में परिवर्तित हो जाता है। इस स्थिति में यह रग साधक के स्वाधिष्ठान चक्र को संयमित करता है।

स्वाधिष्ठान चक्र के संयमन से साधक को मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। साधक अत्यधिक भूख पर नियत्रण स्थापित करने मे सक्षम हो जाता है तथा हिंसात्मक अत्यधिक क्रूरता (fanatic violence) जो पागलपन की सीमा तक बढ़ी हुई होती है, उससे छुटकारा पा लेता है। इससे साधक को रक्त शुद्धि और अस्थियो में सुदृढता आती है; परिणामस्वरूप उसे शारीरिक नीरोगता की उपलब्धि होती है।

जब लेश्याध्यान साधना के बल पर साधक बैंगनो रंग को जामुनी रंग मे परिवर्तित कर लेता है तो इस रंग पर ध्यान के प्रभाव से उसकी मांस-पेशियो की शक्ति बढ जाती है, परिणामस्वरूप वह शारीरिक अवयवो के दर्द (muscular pains and aches) के प्रति संज्ञाशून्य-सा हो जाता है, अर्थात् उसे दर्द को अनुभूति नही होती। वस्तुस्थिति यह है कि इस रग के ध्यान से साधक अपनी चेतना को इतने ऊँचे प्रकंपनों पर पहुँचा देता है कि उस

स्थिति मे उसे अपने शरीर का भी भान नही रहता, वह शरीर से एक प्रकार से निस्पृह सा हो जाता है।

इसका कारण यह है कि इस रग का ध्यान साधक के आध्यात्मिक, भौतिक और भावनात्मक स्तर को प्रभावित करता है। परिणामस्वरूप साधक की श्रवण (सुनने की), गन्ध (सूँघने) की और दृष्टि (देखने की) शक्तियाँ भी प्रभावित हो जाती है, उनकी दिशा मे ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि साधक की वहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी वनने लगती हैं।

लेश्याध्यान का साधक काले रंग की साधना दुष्प्रवृत्तियो के शोधन के लिए करता है।

नील लेश्याध्यान और नीले रंग की साधना

नील लेश्यावाला व्यक्ति, कृष्ण लेश्यावाले से कुछ ऊपर उठा होता है, अर्थात् नील लेश्या वाला व्यक्ति, कृष्ण लेश्या वाले से कम क्रूर होता है। फिर भी उसमे ईर्ष्या, कदाग्रह, अविद्या, निर्लज्जता, प्रद्वेष, प्रमाद, रस-लोलुपता, प्रकृति की क्षुद्रता और विना विचारे कार्य करने की प्रवृत्ति होती है।[1] यदि उसे किसी कार्य में लाभ होता हो तो अन्य व्यक्ति को हानि पहुँचाने मे सकोच नही करता। आधुनिक भाषा मे ऐसे व्यक्ति को स्वार्थी (selfish) कह सकते है।

योग की अपेक्षा से लेश्याध्यान का साधक काले रंग का परिमार्जन करता हुआ, वेगनी और जामुनी रग पर ध्यान केन्द्रित करता हुआ नीले रग पर पहुँचता है। उस समय उसकी भाव धारा कुछ विशुद्ध हो जाती है।

साधक, इस नीले ध्यान की साधना से मन की शान्ति प्राप्त करता है। उसकी पापवृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं तथा स्वार्थीपन की भावधारा कम हो जाती है। वह चारो ओर के वातावरण से अनुकूलन स्थापित करने में सक्षम हो जाता है।

शारीरिक दृष्टि से इस ध्यान की साधना द्वारा साधक को सबसे वडा लाभ यह होता है कि उसके नाडी सस्थान (nervous system) की उत्तेजना कम हो जाती है। यह रक्त (blood) के लिए टॉनिक है। ऊँचे रक्त चाप (high blood pressure) को सामान्य (normal) करने के लिए इस नीले रंग की साधना अधिक उपयोगी होती है।

---

१ उत्तराध्ययन ३४/२२—२४

आध्यात्मिक दृष्टि से इस रग की साधना द्वारा साधक में सत्य के प्रति झुकाव, गुरु के प्रति विनय, प्रामाणिकता, प्रातिभ ज्ञान तथा आन्तरिक ज्ञान की उत्पत्ति के लक्षण प्रगट होने लगते है।

योगमार्ग का साधक, नीललेश्या अथवा नीले रंग की साधना भी परिमार्जन की दृष्टि से करता है। वह साधना और ध्यान के बल पर गहरे नीले रंग को हलका करता है, उसका गहरापन कम करता है और ध्यान के प्रयोग से गहरा नीला रग, कापोती रंग अथवा हल्के नीले रंग में परिवर्तित हो जाता है।

कापोत लेश्याध्यान और हल्के नीले रंग की साधना

कापोत लेश्या वाला मनुष्य वक्र स्वभावी होता है। उसकी वाणी और आचरण में कपट होता है। वह अपने दुर्गुणो को छिपाकर सद्गुणों को प्रकट करता है।[1] वह कभी-कभी दुष्टवचन भी बोलता है, फिर भी उसकी भावधारा नीललेश्या वाले पुरुष की भावना की अपेक्षा शुभ होती है।

आधुनिक विज्ञान ने कापोती रंग के स्थान पर हरा रंग माना है। हरा रंग शान्तिदायक है। यह आज्ञा चक्र को बलशाली बनाता है। आज्ञा चक्र को शरीर विज्ञान में Pitutary gland कहा जाता है। अतः हरे रंग को दृष्टिपटल एव मानस पटल पर लाने से, साधना करने से साधक को मानसिक और शारीरिक शान्ति प्राप्त होती है। उसका रक्तचाप और रक्तवाहिनी नाड़ियों (*blood artileries*) का तनाव उपशांत होता है। फलतः उसकी मानसिक और शारीरिक थकान दूर होकर स्फूर्ति का संचार होता है। हरे रग की साधना से साधक मे जीवनी शक्ति का निर्माण होता है, यानी उसके शरीर की मांसपेशियों और ऊतको (muscles and tissues) का निर्माण होता है तथा पुरानी जर्जरित मासपेशियो और ऊतको मे नवजीवन का सचार होता है।

साधक के भावना क्षेत्र (आभामण्डल) पर हरे रंग की साधना का बहुत ही अनुकूल प्रभाव पडता है। उसके अन्तर्जगत में जो काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, क्रूरता आदि दुर्भावनाओ की धारा बह रही होती है, वह उपशान्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में कषायों (आध्यात्मिक दोषों), मानसिक

---

1 उत्तराध्ययन ३४/२५-२६

तनावो, शारीरिक रोगो तथा विकृत हारमोन्स (Harmones) की शुद्धि होती है।

तेजोलेश्या ध्यान और लाल (अरुण) रग

तेजोलेश्या वाले व्यक्ति का स्वभाव नम्र और अचपल होता है। वह जितेन्द्रिय, तपस्वी, पापभीरु और मुक्ति की अन्वेषणा करने वाला होता है।[1] उसमे महत्त्वाकांक्षा नही रहती तथा स्वार्थसिद्धि की भावना भी अत्यल्प रह जाती है।

योग की दृष्टि से तेजोलेश्या वाले व्यक्ति के आभामण्डल में से कालिमा (काला, नीला, कापोती तथा श्माम वर्ण के sphere में आने वाले बैगनी, जामुनी आदि सभी रगो की आभा—प्रतिच्छाया) निःशेष हो जाती है और उसके आभामण्डल का रंग अरुण (बाल सूर्य के समान लाल) रग हो जाता है।

लाल रंग भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियो से क्रान्ति—उत्क्रान्ति[2] का प्रतीक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह वर्ण स्वास्थ्यप्रद और प्रतिरोधात्मक शक्ति से सम्पन्न होता है। शारीरिक दृष्टि से यह रोगो का विनाशक—स्वास्थ्यप्रद, तथा मानसिक दृष्टि से यह दुर्भावनाओं का अन्त करने वाला एव आध्यात्मिक दृष्टि से यह अधर्म से धर्म की ओर उन्मुख करने वाला है।

साधक जिस समय तेजोलेश्या का, अरुण रग के संयोगपूर्वक ध्यान करता है तो उसका आभामण्डल अरुणिम होकर अरुणाभ तरंगो का विकीरण करने लगता है। उस विकीरण के प्रभाव से उसकी मानसिक दुर्भावनाएँ तो नष्ट होती ही है; साथ ही उसका नाड़ी मण्डल और रक्त सक्रिय बनता है। परिणामस्वरूप उसकी ज्ञानवाही नाड़ियाँ और ज्ञानतन्तु भी सक्रिय बन जाते हैं। इसके फलस्वरूप उसकी अन्तश्चेतना मे ज्ञान के विविध आयाम खुलने लगते हैं। साधक की पाँचो इन्द्रियाँ विशेष रूप से कार्यक्षम और सक्षम

---

१ उत्तराध्ययन ३४/२७-२८

२ जैन आगमो मे कृष्ण, नील, कापोत—इन तीनो लेश्याओ को अधर्म लेश्या कहा गया है तथा इनका फल दुर्गति बताया गया है। वस्तुत लेश्याध्यान की साधना (आत्मिक उन्नति की साधना की अपेक्षा से) इस तेजोलेश्या से ही प्रारम्भ होती है। यही से साधक के जीवन मे धर्म का प्रवेश होता है। —सम्पादक

हो जाती है, वह भौतिक जगत में होने वाले सूक्ष्य प्रकम्पनों को भी पकड़ने में असमर्थ हो जाती हैं।

तेजोलेश्या के ध्यान तथा उसमें लाल रंग के संयोग से साधक के शरीर का सेरेब्रो-स्पाइनल द्रव पदार्थ (liquid matter of Cerebro-spinal) उत्प्रेरित हो जाता है। परिणामस्वरूप मस्तिष्क का दायाँ भाग विशेष रूप से सक्रिय हो जाता है। अन्तर्ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वार खुलने लगते हैं। साधक की वृत्तियो मे अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाता है।

साधक के आभामण्डल से विकीर्णित होने वाली ये लाल रंग की किरणें तापोत्पादक और शरीर में शक्ति सचार करने वाली होती हैं। ये जिगर (lever) और मांसपेशियो के लिए विशेष लाभप्रद होती है। ये क्षार द्रव्यो (alkalines) का आयोनाइजेशन (ionisation) करती है और ये आयोन्स (ions) विद्युत चुम्बकीय शक्ति (electro-magnetic energy) के वाहक होते है। सीधे शब्दो में साधक के मन के भावो और शरीर के परमाणुओं में एक ऐसा आकर्षण उत्पन्न हो जाता है कि प्रत्येक प्राणी उसकी ओर आकर्षित तथा उससे प्रभावित होने लगता है।

पद्मलेश्या ध्यान और पीत (सुनहरा) वर्ण

पद्मलेश्या वाले साधक के जीवन में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों की अल्पता होती है। उसका चित्त प्रशान्त होता है। वह जितेन्द्रिय और अल्पभाषी होता है अतः वह ध्यान साधना सहज रूप से कर सकता है।[1]

योग की दृष्टि से पद्मलेश्या वाले साधक का आभामण्डल पीले (स्वर्ण कान्ति मिश्रित चमकदार सुनहरे पीले) रग का होता है। पीले रंग में किसी प्रकार की उत्तेजना नही होती अतः यह रंग ज्ञान और ध्यान का प्रतीक है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक और शरीर-वैज्ञानिक दृष्टि से पीले रंग मे धन चुम्बकीय विद्युत (Positive Magnetic Electric) होती है। इसीलिए यह शरीर के मृत सैलो (cells) को सजीव बनाकर उन्हे सक्रिय करता है। यह क्रियावाही नाड़ियों और मांसपेशियों को भी सक्रिय और शक्तिशाली बनाता है। धन चुम्बकीय विद्युत के प्रभाव से साधक का नाडीमंडल एवं

---

१ उत्तराध्ययन ३४/२९-३०

मस्तिष्क शक्तिशाली तथा सक्रिय वनते है। उसकी मानसिक शक्तियाँ विकसित होती है।

पद्मलेश्या की ध्यान-साधना से साधक का दर्शन केन्द्र तथा आनन्द केन्द्र (विशुद्धि चक्र) अनुप्राणित एव जागृत हो जाते है, परिणामस्वरूप साधक को अनिर्वचनीय आन्तरिक प्रसन्नता एव आनन्द की उपलब्धि होती है।[1]

शुक्ललेश्या ध्यान और श्वेत वर्ण

शुक्ललेश्या वाले पुरुष का चित्त शात होता है। मन-वचन काया पर उसका पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाता है तथा वह जितेन्द्रिय हो जाता है।[2]

वस्तुत· श्वेत रग समाधि का प्रतीक है। जिस समय साधक श्वेत रंग का ध्यान करता है तो उसकी अन्तश्चेतना मे से कषायों, विषय-विकारो, पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति—इन सव का नाश हो जाता है। इस रग के ध्यान

---

१ तेजोलेश्या (लाल रग) की साधना के दौरान जव साधक अपने परिणामो को—भावधारा को उत्तरोत्तर विशुद्ध वनाता हुआ पद्मलेश्या (पीले रग) की साधना भूमिका मे पहुँचता है तो इस तरतमता के मध्यान्तर मे उसके दृष्टिपटल एव मानस पटल पर नारगी (orange) रंग उभरता है। शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से साधक के लिए यह नारगी रग भी महत्त्वपूर्ण है। इस रग से साधक को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

वस्तुत: नारगी रग लाल और पीले रग का मिश्रण है। इसमे लाल और पीले दोनो रग समान मात्रा मे होते है। इससे साधक की सकल्प-शक्ति दृढ होती है तथा उसे अनेक भौतिक लब्धियो की प्राप्ति होती है। साधक की थाइराइड ग्रन्थि (Thyroid Gland) सक्रिय होती है, अत बुढापे के लक्षण प्रगट नहीं होते। तीर्थंकर जो सदा युवा रहते हैं, उसका रहस्य इसी ग्रन्थि की सक्रियता मे निहित है। योगी भी वहुत अधिक आयु मे ही वूढे होते है। इससे योगी की इथरिक वॉडी (Etheric Body) शक्तिशाली वनती है। उसे अपनी भावनाओ पर नियत्रण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। पैनक्रियास ग्रन्थि (Pancreas gland) से, इस रग द्वारा शक्ति का प्रवाह जारी हो जाता है, अत: साधक मे वात्सल्य (विश्व कल्याण भावना), आन्तरिक प्रसन्नता, भावनाओ की सजीवता तथा योग-क्षेम की भावना विकसित हो जाती है।

२ उत्तराध्ययन ३४/३१-३२.

द्वारा योगी का आज्ञाचक्र, मन.चक्र, सोमचक्र और सहस्रार चक्र अनुप्राणित होकर जागृत हो जाते है। ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार (सहस्रदल वाला कमल) चक्र उन्मुकुलित हो जाता है।

आज्ञाचक्र के अनुप्राणन से योगी को विशाल अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि होती है। उसे अवधिज्ञान,[1] मन पर्यवज्ञान और यहाँ तक कि केवलज्ञान तक की प्राप्ति भी हो जाती है। इन प्रशस्त ज्ञानो की उपलब्धि शुक्ललेश्या के साधक को ही होती हैं।

मनःचक्र के अनुप्राणित होने से साधक की सम्पूर्ण वासनाओ का क्षय हो जाता है और सोमचक्र अनुप्राणित होने पर उसे अनिर्वचनीय आनन्द एवं आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तथा सहस्रार चक्र अनुप्राणित होने पर वह स्वात्मस्थित हो जाता है।

समाधि की अवस्था साधक को शुक्ललेश्या में ही प्राप्त होती है।

शुक्ललेश्यायुक्त साधक का प्रभाव आस-पास के वातावरण तथा प्राणियों पर भी अत्यधिक अनुकूल पडता है। साधक के आभामडल के श्वेत परमाणु इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि वैर और क्रोध की आग में झुलसते हुए प्राणी भी उसके सान्निध्य में शांति प्राप्त करते हैं, उनके कषायो की उपशाति हो जाती है। ऐसे साधक का प्रभाव इतना अधिक हो जाता है कि उसके नामस्मरण मात्र से हजारो व्यक्ति शांति प्राप्त करते हैं, उनके हृदय में शुभ और कल्याणकारी भावनाओ का उद्रेक हो जाता है।

लेश्याध्यान की साधना का चरमबिन्दु शुक्ललेश्याध्यान अथवा श्वेत वर्ण का ध्यान है। ऐसा साधक भौतिक और आध्यात्मिक दोनो ही दृष्टियो से लाभान्वित होता है, उसका शरीर स्वस्थ रहता है, तथा मानस एकदम शात। ससार की ऐसी कोई शक्ति अथवा वस्तु नही रहती जो उसके लिए लभ्य न हो।

जैन साहित्य मे लेश्याओ का दृष्टान्त

जैन साहित्य में लेश्याओ के स्वरूप को समझाने के लिए कई रूपक दिये हैं, उनमें से सबसे सरल, सुबोध और आसानी से हृदयंगम हो जाने

---

१ यहाँ तपोलब्धिजन्य अवधिज्ञान की ही अपेक्षा है और वह भी अप्रतिपाती, जो एक बार उपलब्ध होकर छूटे नही, केवलज्ञान होने तक स्थायी रहे। भवप्रत्यय अवधिज्ञान तो देवो को जन्म के साथ ही हो जाता है, उसकी यहाँ अपेक्षा नही है।

—संपादक

वाला रूपक है—एक जामुन के वृक्ष और छह व्यक्तियो की मित्र मंडली का।[1]

छह पुरुषो की एक मित्र मडली थी। उनके मन में विचार आया कि जामुन का मौसम है, समीप के ही जगल मे जामुन के कई विशाल वृक्ष हैं। वहाँ जाकर भरपेट जामुन खाये।

जहाँ मित्रता और विचार-एक्यता होती है, वहाँ मन के विचारो को कार्य रूप मे परिणत करने मे समय नही लगता। छहो मित्र वन मे पहुँचे गये और जामुनो से लदे एक विशाल वृक्ष के पास जा खडे हुए।

जामुन के वृक्ष को देखकर पहला मित्र वोला—यह वृक्ष जामुनो से लदा है और फल भी ऐसे पके और स्वादिष्ट दिखाई दे रहे हैं कि मुँह में पानी आ रहा है। इस पर चढकर फल तोडने से तो यही अच्छा रहेगा कि कुल्हाड़ी द्वारा इस वृक्ष को मूल से ही काट दिया जाय। यह वृक्ष गिर पड़ेगा और हम लोग आनन्द से जामुन खायेंगे।

दूसरे मित्र ने प्रतिवाद किया—पूरे वृक्ष को मूल से ही काटने से क्या लाभ? वड़ी-वड़ी शाखाओ को ही काट लें। उन्ही से अपना काम चल जायेगा।

तीसरे मित्र ने अपना विचार प्रगट किया—वड़ी शाखाओ को भी काटना व्यर्थ है। छोटी-छोटी शाखाओं को काटने से ही हमारा काम चल सकता है।

चौथे मित्र ने अपनी राय दी—छोटी शाखाओं को भी काटने का परिश्रम व्यर्थ है। फल तो गुच्छो में ही लगे है। हमें फल ही तो खाने है। बस, गुच्छो को तोड़ लें।

पाँचवाँ मित्र कहने लगा—गुच्छो मे तो पके-कच्चे दोनो प्रकार के फल है। हमे सिर्फ पके फल ही खाने है, अतः गुच्छो को न तोड़कर सिर्फ पके फल ही तोडने चाहिए।

छठे मित्र ने अपनी सतोष वृत्ति व्यक्त की—भाई! पके फल तोडने का श्रम भी क्यो किया जाय और क्यो इस वृक्ष को कष्ट दिया जाय? यहाँ

---

१ आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, पृ० २४५

स्वयं ही टूटे हुए हजारों फल जमीन में पडे हुए हैं। ये पके भी है और मीठे भी। हम इन्हे ही खाकर अपना पेट भर सकते है।

इन छहो मित्रों के परिणाम उत्तरोत्तर शुभ हैं, उनके परिणामों में उत्तरोत्तर संक्लेश कम है। पहला मित्र कृष्णलेश्या वाला, दूसरा नीललेश्या वाला, तीसरा कापोतलेश्या वाला, चौथा तेजोलेश्या वाला, पांचवाँ पद्मलेश्या वाला और छठा शुक्ललेश्या वाला है।

जिस प्रकार इन छहो मित्रो के आत्म-परिणाम उत्तरोत्तर शुभ है, उसी प्रकार लेश्या-ध्यान का साधक अपने संक्लिष्ट परिणामों को, भावधारा को कषायों के आवेग-सवेग को कम करता हुआ, इनका परिमार्जन करता हुआ अपनी भावधारा को शुद्ध बनाता है, अपने आभामंडल को स्वच्छ और निर्मल करता है तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं शारीरिक स्वस्थता और शांति प्राप्त करता है।

□□

३ प्राण-शक्ति की अद्भुत क्षमता और शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता

प्राणीमात्र के जीवन का आधार प्राण-शक्ति है, किन्तु मनुष्य में यह शक्ति वढी-चढी होती है। इस विकसित हुई शक्ति के आधार पर ही मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है। उसे तीक्ष्ण बुद्धि (Keenest intellect) इसी शक्ति के कारण प्राप्त हुई है। इसी शक्ति के वल पर मानव आध्यात्मिक और भौतिक दोनो प्रकार की उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचने की क्षमता रखता है।

मानव की प्राणशक्ति दुधारी तलवार है। यह रक्षक भी है और भक्षक भी, विष्णु के समान पालन करने वाली है तो शिव के समान संहारक भी, यह प्रशस्त भी है और अप्रशस्त भी। वस्तुतः यह एक शक्ति है, और यह साधक की मनोवृत्ति पर निर्भर है कि इस शक्ति का उपयोग वह स्व-पर-कल्याण के लिए करे अथवा विनाश के लिए।

प्राणशक्ति, यदि आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में कहा जाय तो जैव विद्युत (Biological Electric) है। यह जैव विद्युत प्राणी के तैजस् शरीर में उत्पन्न होती है और समूचे औदारिक कायतन्त्र का परिचालन करती है, मस्तिष्क से लेकर सम्पूर्ण शरीर मे दौडती है। मस्तिष्क से लेकर हाथ की अँगुलियो के पोरुओ तक और शरीर के इच-इच भाग को ठण्डा और गरम रखने के लिए—बाह्य मौसम से अनुकूलन करने के लिए नाडियो का जाल बिछा हुआ है। किन्तु अनुकूलन का यह संपूर्ण कार्य प्राणशक्ति करती है।

डा० ब्राउन के अनुसार—शारीरिक एवं मानसिक कार्यों के सचालन के लिए मानव को इतनी शक्ति की आवश्यकता होती है, जितनी से एक बडा मील (Mill) चलाया जा सकता है तथा छोटे बच्चे के शरीर मे व्याप्त शक्ति से एक रेलवे इजिन चलाया जा सकता है।

मानव के पास साधारण रूप से इतनी शक्ति, प्राणशक्ति के रूप में

मौजूद है और यदि वह यौगिक क्रियाओ द्वारा इस शक्ति को बढा लेता है तो वह चमत्कारपूर्ण कार्यों को करने में सक्षम हो जाता है।

प्राणशक्ति की चमत्कारी क्षमता

यौगिक क्रियाओं द्वारा बढी हुई प्राणशक्ति में चमत्कारी क्षमता उत्पन्न हो जाती है। प्राणशक्ति के लिए प्राणवायु एक ईंधन है और प्राणवायु मानव ग्रहण करता है श्वास द्वारा। श्वासोच्छ्वास के नियमन से योगी अपनी प्राणशक्ति को बढ़ा लेता है और उस प्राणशक्ति के बल पर ऐसी असामान्य घटनाएँ अथवा बातें प्रदर्शित कर सकता है जो जन-सामान्य को चमत्कार दिखाई देती हैं।

प्राणशक्ति द्वारा चमत्कारी प्रयोग के लिए मन शक्ति का सयोग आवश्यक है। इसलिए इस सन्दर्भ में मनःशक्ति कैसे और क्या काम करती है, यह समझ लेना जरूरी है।

रेडियो में जो स्थिति क्रिस्टल (Crystal) अथवा एरियल (aerial) की है, आध्यात्मिक और प्राणशक्ति मे वही स्थिति मन की है।

आधुनिक विज्ञान यह स्वीकार कर चुका है कि सम्पूर्ण लोक में ईथर (Ether) नामक तत्त्व व्याप्त है जो विभिन्न वस्तुओ, विचारो और तरंगो की गति में सहायक होता है। यह ईथर तत्त्व गति का माध्यम है। हम जो बोलते है, उन शब्दो मे भी गति होती है, किन्तु हमारे शब्दो को रेडियो इसलिए नही पकड़ पाता कि हम शब्दो को—ध्वनि तरंगो को—विद्युत तरंगो में परिवर्तित नही कर सकते। रेडियो का सिद्धान्त यह है कि रेडियो स्टेशन में बोले जाने वाले शब्दो को पहले विद्युत तरगो मे बदला जाता है और उन विद्युत तरंगो को रेडियो का एरियल पकडकर शब्दो में बदल देता है और हम रेडियो स्टेशन से प्रसारित किये जाने वाले कार्यक्रमो को अपने घर में बैठे रेडियो पर सुनते हैं।

बस, यही सिद्धान्त विचार संप्रेषण (telepathy) आदि मे काम करता है।

विचार सप्रेषण (Telepathy)

विचार सप्रेषण का अर्थ है अपने मन के विचारो को दूरस्थ किसी व्यक्ति तक पहुँचाना। यह काम योगी अपनी प्राणशक्ति और मन.शक्ति से करता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार विचारो की गति २२,६५,१२० मील प्रति सेकिण्ड है। यानी विद्य ्त तरगो से भी विचार-तरंगो की गति लगभग सात गुनी है। विचार एक क्षण मे ही पृथ्वी की लगभग ४० वार परिक्रमा लगा सकते है, अतः विचार शीघ्र ही दूरस्थ व्यक्ति तक पहुँच जाते है।

योगी अपनी प्राणशक्ति तथा मस्तिष्कीय विद्य ्त शक्ति के सहयोग से अपने विचारो की तरंगो को विद्य ्त तरगो मे परिवर्तित कर सकता है, वे विद्य ्त तरंगें आकाश मे चलती हुई उस विशिष्ट व्यक्ति तक पहुँचती है, उसका मनरूपी एरियल उन विद्य ्त तरगो को पकडता है और पुनः विचारो मे परिवर्तित कर देता है अर्थात् वह दूरस्थ व्यक्ति योगी के सन्देश को जान लेता है। साधारण भाषा मे कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वेतार के तार द्वारा सदेश प्रसारित किया जाता है, उसी प्रकार प्राणशक्ति द्वारा योगी भी अपना सन्देश अपने भक्तो तक पहुँचा देता है।

पुराणो मे जो यह वर्णन आता है कि गुरु अपने शिष्यों को दूर बैठे ही आशीर्वाद दे देते थे और शिष्य उसे पाकर निहाल हो जाते थे, इसी प्रकार शिष्य द्वारा प्रणाम, वन्दना आदि को दूर बैठे गुरु स्वीकार कर लेते थे, वह सब इस प्राणशक्ति द्वारा विचार संप्रेषण का ही प्रयोग कहा जा सकता है।

शक्तिपात (Pass)

आधुनिक युग मे शक्तिपात शब्द काफी प्रचलित है। योगी और तथा-कथित भगवान अपने भक्तो को शक्तिपात द्वारा प्रभावित करते हैं।

शक्तिपात करने वाला योगी भक्त की अपेक्षा वढी हुई प्राणशक्ति से सम्पन्न तो होता ही है। एक स्वस्थ मनुष्य की हाथ की अगुलियो के पोरुओ से साधारणत. ६ इच बाहर तक प्राण शरीर का विद्य ्त प्रवाह विकीर्ण होता रहता है। इस विद्य ्त प्रवाह को योगी अपनी दृढ मनोशक्ति से घनी-भूत कर लेता है। ऐसा एक साधारण व्यक्ति भी दृढ मनोबल से कर सकता है, इसमे योगी की कोई बहुत बडी विशेषता नही है।

शक्तिपात देते समय योगी मन ही मन दृढतापूर्वक Auto sugges-tion देता है कि 'मेरी अगुलियो से अत्यन्त तीव्र विद्य ्त शक्ति प्रवाहित हो रही है और मेरे सामने लेटे अथवा बैठे इस मनुष्य (the subject) के शरीर मे प्रवेश कर रही है।'

कुछ तो योगी का प्रभाव, कुछ उसकी विद्य ्त शक्ति का सघन प्रवाह और सर्वाधिक भक्त की योगी के प्रति श्रद्धा एवं असीम आदर भाव—इन

तीनो का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि भक्त को भी ऐसा लगता है जैसे असीम शक्ति का प्रवाह हड्डियो को चीरता हुआ उसके अन्दर प्रवेश कर रहा है।

शक्तिपात अधिकतर एक कनपटी से दूसरी कनपटी तक ललाट पर दिया जाता है। कनपटी मे ही ध्वनिवाहिनी नाडियाँ है और ललाट के अन्दर ही दृष्टिवाहिनी नाड़ियाँ (olfactory nerves) है तथा भ्रूमध्य में ही पिट्यूटरी ग्रन्थि (pitutary gland) है, जो स्वामो ग्रन्थि (master gland) कहलाती है तथा यह ग्रन्थि ज्ञान-विज्ञान कोष है। अतः किसी भक्त को विभिन्न प्रकार की विचित्र-विचित्र ध्वनियाँ सुनाई देने लगती है तो किसी को विभिन्न प्रकार के रंग तथा दृश्य; इसी प्रकार किसी को विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होने लगती हैं। यद्यपि यह ध्वनिवाहिनी नाडियो, दृष्टिवाहिनी नाड़ियो और पिटयूटरी ग्रन्थि के उत्तेजित होने से होता है किन्तु भोला भक्त योगी से अत्यधिक प्रभावित हो जाता है और उसे विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न तथा भगवान तक मानने लगता है।

यह शक्तिपात केवल चमत्कार-प्रदर्शन और भक्तों को प्रभावित एवं आकर्षित करने के लिए होता है। इससे भक्त प्रभावित भी हो जाते है और योगी का यश भी फैल जाता है, किन्तु योगी स्वय वहुत घाटे में रहता है। जिस प्राणशक्ति को वह अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आत्मिक प्रगति में उपयोग करके आत्मिक शुद्धि कर सकता है, उसे इस चमत्कार-प्रदर्शन में वरवाद कर देता है और इस तरह जब अधिक शक्ति वरवाद हो जाती है तो वह स्वयं शक्तिहीन-सा हो जाता है। इसीलिए यह देखा जाता है कि कुछ दिनों तक एक योगी की तूती बोलती है, उसका खूब नाम और यश फैल जाता है, लोगो की जबान पर उसका नाम चढ़ जाता है, किन्तु कुछ दिनो बाद वह निस्तेज हो जाता है। कोई नया योगी संसार के रंग-मच पर चमकने लगता है और पहले योगी को लोग भूल जाते हैं। कुछ दिन बाद इस नये योगी की भी यही दशा होती है। यह चक्र चलता रहता है।

प्राणशक्ति के चमत्कार दिखाने वालों का यही हश्र होता है।

प्राणशक्ति और मानसिक एवं शारीरिक स्वस्थता

सामान्यतः शरीरशास्त्रियो की मान्यता है कि साधारणतः मनुष्य को स्वस्थ रहना चाहिए। प्रकृति ने मानव-शरीर की रचना इस प्रकार की है कि मनुष्य १०० वर्ष की आयु तक स्वस्थ रह सकता है, यदि कोई विशिष्ट

घटना न घटे और मानव प्रकृति के नियमो के अनुकूल अपना जीवन यापन करे। किन्तु विवशता यह है कि सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि मानव प्रकृति के अनुसार अपना जीवन व्यवहार चला नही पाता, उसे अनेक प्रकार की पारिवारिक, सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा परम्पराएँ घेरे रहती है तथा विविध प्रकार की चिन्ताएँ लग जाती हैं, और इन चिन्ताओ के कारण वह अपने स्वास्थ्य को चौपट कर लेता है। शरावखोरी, जूआ, वेश्यागमन आदि व्यसन उसे लग जायँ तो वह अन्दर से खोखला ही हो जाता है, अनेक रोग उसे घेर लेते है।

तात्पर्य यह कि आधुनिक शरीरशास्त्री और प्राचीन चिकित्सा विशेषज्ञ—सभी एकमत से शारीरिक और मानसिक अस्वास्थ्य का कारण चिन्ता और व्यसन तथा प्रकृति के साथ अननुकूलन को मानते है।

अध्यात्मशास्त्री इन कारणो को तो स्वीकार करता ही है किन्तु वह मानव के अस्वास्थ्य का मूल कारण—अध्यात्म-दोषो को मानता है। अध्यात्म-दोष है—राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ—कषायो के आवेग, भय, काम आदि के सवेग। अध्यात्मशास्त्री यह मानता है कि शारीरिक-मानसिक अस्वास्थ्य और विभिन्न रोगो की उत्पत्ति सर्वप्रथम मानव के कार्मण शरीर (आत्मा से बद्ध अति सूक्ष्म शरीर) मे होती है, वहाँ से वह तैजस् शरीर (सूक्ष्म शरीर) में आती है और फिर औदारिक (स्थूल) शरीर मे व्यक्त हो जाती है।

आधुनिक परमनोविज्ञान शास्त्री भी ऐसा ही मानते है, उनकी दृष्टि अभी सूक्ष्म शरीर (तैजस् शरीर) द्वारा निर्मित आभामंडल तक ही पहुँची है, अत. वे रोग का मूल कारण तैजस् शरीर को मानते हैं।

प्रोफेसर जे० सी० ट्रस्ट ने परामनोविज्ञान के क्षेत्र मे काफी काम किया है। वैज्ञानिक साधनो की सहायता से वे व्यक्ति के आभामडल को देखने मे सक्षम हैं। अत: उन्होने अनेक मानसिक रोगियो का सफल उपचार भी किया है।

एक बार उनके पास एक महिला आई। उसने अपनी शिकायत बताई—'जब भी मैं गिरजाघर (church) मे जाती हूँ तो मेरे सारे शरीर मे खुजली चलने लगती है, अनेक उपकार कराये हैं किन्तु कोई लाभ नही हुआ।'

ट्रस्ट ने देखा तो उन्हे उस महिला के आभामंडल मे काले रंग के असंख्य

बिन्दु तैरते दिखायी दिये। ट्रस्ट ने रोग की जड़ पकड़ ली कि यह आन्तरिक खाज (Internal Eczema) है। बातो में उस महिला ने भी स्वीकार किया कि वह एक आफिस मे कैशियर है और छोटी-मोटी रकमों की चोरियाँ करती रही है।

ट्रस्ट ने उस महिला को रोग का कारण और उपचार बताते हुए समझाया—'तुम्हारे मन में छिपी पाप भावना पवित्र स्थान का वातावरण सह नही पाती, वह बाहर निकलने की चेष्टा करती है, इसीलिए तुम्हारे शरीर में खुजली मचने लगती है। अब तुम ऐसा करो कि तुमने जितनी भी चोरियाँ की हैं, वे सब अपने मालिक (boss) के सामने स्पष्ट स्वीकार कर लो। तुम इस रोग से मुक्त हो जाओगी।'

उस महिला ने आशंका प्रगट की—'आपके सुझाव को मानने से तो मेरी नौकरी (service) ही छूट जायेगी। मेरा निर्वाह कैसे होगा? मैं आर्थिक सकट मे फँस जाऊँगी।'

ट्रस्ट ने आश्वासन दिया—'ऐसा कुछ नही होगा। मेरा तो विश्वास है कि तुम्हारा मालिक तुम्हारी स्पष्टवादिता से प्रभावित होगा और तुम्हें अधिक विश्वसनीय समझेगा, क्षमा कर देगा।

ट्रस्ट के सुझाव के अनुसार महिला ने अपनी चोरियाँ मालिक के सामने स्पष्ट स्वीकार कर ली। मालिक ने उसे क्षमा कर दिया। स्पष्टोक्ति से वह महिला रोगमुक्त हो गई।[1]

इस और ऐसी अनेक घटनाओं से परामनोविज्ञान यह स्वीकार कर चुका है कि रोगो की उत्पत्ति पहले सूक्ष्म शरीर में होती है और उनकी अभिव्यक्ति होती है स्थूल शरीर में तथा उन रोगो का कारण होता है—पाप—हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि तथा सामाजिक मर्यादाओं का उल्लघन, जिन्हें व्यक्ति आवेश में कर तो लेता है, किन्तु उन्हें छिपाना चाहता है, वह चाहता है कि अन्य कोई भी उसके पाप को न जाने, अन्य लोगों की निगाह मे वह शरीफ बना रहे; तथा विभिन्न प्रकार के कषायजन्य आवेग-संवेग, उत्तेजना, ईर्ष्या, कुढन, चिन्ता, भय, दमित कामभावनाएँ, कामनाएँ, इच्छाएँ, यश-प्रसिद्धि, मान-सम्मान प्राप्ति की अभिलाषाएँ, आकांक्षाएँ भौतिक और ससारिक सुख-भोगो की इच्छा, अतृप्ति, महत्त्वाकांक्षा आदि।

क्योकि सभी मानसिक और शारीरिक रोगों का मूल कारण प्राण शरीर (कार्मण शरीर सहित) है अतः प्राण-शक्ति अथवा यौगिक क्रियाओ से इनका उपचार भी सम्भव है।

मानसिक एवं शारीरिक रोग : कारण और उपचार

वैसे तो सभी रोगो का कारण तैजस् अथवा प्राण शरीर है, सभी रोगों का मूल स्थान वह है किन्तु चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से रोगो के दो भेद किये जाते है—(१) मानसिक रोग और (२) शारीरिक रोग। शारीरिक रोग विशेष रूप से शरीर से सम्बन्धित होते है, उनके लक्षण भी शरीर में दिखाई देते है और शरीर पर औषधि प्रयोग से ठीक भी हो जाते है। मानसिक रोग मन अथवा मस्तिष्क से सम्बन्धित होते है, इनके उपचार की प्रणाली भी अलग है, इनको ठीक करने के लिए विद्युत झटके (electric shocks) आदि पद्धतियाँ अपनाई जाती है। मानसिक रोगो मे हिस्टीरिया (Hysteria), पागलपन, खण्डित व्यक्तित्व (Frustrated personality), विभाजित व्यक्तित्व (Divided personality) आदि मुख्य हैं।

मन का स्वरूप एवं लक्षण

मानसिक रोगो को समझने के लिए पहले मन का स्वरूप, उसका लक्षण, शरीर में उसकी स्थिति आदि बातो का जानना जरूरी है।

हम लोग चेतना के स्तर पर जीते है, विचारो के स्तर पर तैरते है, आवेग-सवेगो से संचालित होते है, तर्क के आधार पर निर्णय लेते हैं और भावनाओ के अनुसार कार्य करते है। इसलिए 'मन' शब्द से तुरन्त 'मस्तिष्क' का अभिप्राय लगा लेते है—मस्तिष्क वह जो हमारे कपाल मे स्थित है और मन का भी केवल सात प्रतिशत भाग जिसके द्वारा हमारे आवेग-संवेग और क्रियाएँ संचालित होती है। इस मन के ९३ प्रतिशत भाग तक हमारी दृष्टि ही नही जाती क्योकि वह हमारे अनुभव में प्रत्यक्ष नही होता।

मन सिर्फ मस्तिष्क में ही अवस्थित नही है, वरन् वह प्राणी के सपूर्ण शरीर में व्याप्त है। आधुनिक शरीरविज्ञान के अनुसार भी जितने जीव कोष (cells) है, उन सबको अलग-अलग मन है, उनकी भी अपनी इच्छाएँ है, सवेग है, आवेग है और वे अपने सवेगो-आवेगो द्वारा सचालित होते हैं तथा अपनी इच्छा पूरी करना चाहते है। और क्योकि ये जीव कोष सम्पूर्ण शरीर मे अवस्थित होते है, अत. मन भी सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है। किन्तु इतना अवश्य है कि मन का सर्वाधिक शक्तिशाली केन्द्र मस्तिष्क-स्थित जीव कोष ही है अतः मस्तिष्क-स्थित मन की स्थिति राजा के समान है और शरीर-स्थित सम्पूर्ण जीव कोष (और उनमे स्थित मन) इस मस्तिष्क-स्थित मन की आज्ञा का पालन करते है। मस्तिष्क-स्थित मन के शक्तिशाली एवं राजा बनने

का एक प्रमुख कारण भी है, और वह यह कि प्राणी के शरीर में जितनी भी विद्युत उत्पन्न होती है, उसका २०% यह मन ले लेता है, बाकी में शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओ आदि का संचालन होता है अतः शरीरस्थित करोडों जीव कोषो को विद्युत का बहुत ही अल्प भाग मिलता है, अतः वे मस्तिष्कस्थित मन के समान शक्तिशाली और सक्षम नही बन पाते और अक्षम एव संज्ञा-शून्य से बने रहकर मस्तिष्कीय मन (master brain) की आज्ञा का पालन करते रहते हैं; उनकी चेतना और सज्ञा अव्यक्त रहती है। यदि किसी प्रकार इन जीव कोषो को मस्तिष्कीय मन जितनी विद्युत मिल जाय तो ये भी उसी के समान सम्पूर्ण क्रियाएँ कर सकते है—यथा प्राणी सम्पूर्ण शरीर से अथवा शरीर के किसी भी अंगोपांग से देख सकता है, सूँघ सकता है, विचार कर सकता है—यानी व्यक्त मन जैसी सभी क्रियाएँ कर सकता है। फिर भी प्राणी के शरीर-स्थित सभी जीव कोष और उनमें अवस्थित मन, अव्यक्त रूप से ही सही, आवेग-संवेग, पाप-पुण्य आदि सभी प्रकार की क्रियाएँ सतत करते रहते है।[1]

जब तक मस्तिष्कीय मन और संपूर्ण शरीरस्थित असंख्य मन में समन्वय बना रहता है, ये मन मस्तिष्कीय मन की आज्ञापालन करते रहते हैं तब तक मनुष्य का मनोमय कोष व्यवस्थित रहता है, मनुष्य मानसिक रूप से स्वस्थ रहता है; और जब कभी तथा किसी भी कारण से इस

---

१ जैन आगमो मे व्यक्त (मस्तिष्कीय) मन वाले प्राणियों को सज्ञी और अव्यक्त (जीवकोषीय) मन वाले प्राणियो को असंज्ञी बताया है।

भगवान महावीर ने सभी प्राणियो (यहाँ तक कि एकेन्द्रिय जीव भी जो हलन-चलन आदि क्रियाएँ नही करते; जैसे वनस्पतिकायिक, पृथिवीकायिक आदि जीवो को भी) को अठारह पापो (हिंसा, झूठ, चोरी आदि मे मिथ्यादर्शन शल्य तक) का सेवन करने वाला तथा पाप-बध करने वाला बताया है। सामान्य बुद्धि वाले और इन जीव कोषो के रहस्य को न समझने वाले बुद्धिजीवी भी भगवान के कथन पर शका करते है कि वनस्पति बोलती नही तो झूठ कैसे बोलेगी, इसी तरह चोरी भी नही कर सकती तथा अन्य पापो का सेवन भी नही कर सकती, परिणामस्वरूप उसे कर्मबन्ध भी नही होना चाहिए। ऐसे लोगो का समाधान जीव कोषो के उपरोक्त परिचय से होना चाहिए कि अव्यक्त मन वाले प्राणी भी सभी प्रकार के पापों का बन्ध करते हैं।

—सम्पादक

व्यवस्था मे गडबड़ी हो जाती है तभी विभिन्न प्रकार के मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं।

कल्पना करिये कि वासना केन्द्र के जीव कोष अपनी इच्छा पूरी करना चाहते है यानी कामसेवन करना चाहते हैं किन्तु मस्तिष्कीय मन नही चाहता, (इसमें सामाजिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक, नैतिक अनेक कारण हो सकते हैं) तो इन दोनो में सघर्ष छिड़ जाता है। इसी प्रकार की स्थिति अन्य केन्द्रो के जीव कोषो और मस्तिष्कीय मन के मध्य उपस्थित हो सकती है। आपने स्वय अनुभव किया होगा कि आपका एक मन कुछ कहता है दूसरा उसका विरोध करता है। ऐसे क्षण प्रत्येक मानव के जीवन में आते है। उस समय मस्तिष्कीय मन ही एक से दो नही हो जाता, वह विभक्त नही होता, वह तो अविभक्त ही रहता है, संघर्ष तो जीव कोषीय मन अथवा अव्यक्त मन और व्यक्त मन के मध्य होता है। यदि किसी प्रकार अव्यक्त मन प्रभावी हो जाता है तो मानव का व्यक्तित्व विशृंखलित हो जाता है, उसका व्यक्तित्व विखण्डित हो जाता है और अनेक प्रकार के मानसिक रोग उसे घेर लेते है, वह उन रोगो के कुचक्र मे फँस जाता है।

कुछ प्रमुख मानसिक व्याधियो, उनके कारण और उपचार का संक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहे है, जिसके प्रयोग से बिना औषधि के ही मनुष्य मानसिक रूप से स्वस्थ रह सकता है।

प्रोजीरिया : समयपूर्व वृद्धावस्था

जब मानव का मन विपरीत परिस्थितियो से जूझता हुआ थक जाता है तो उसमें निराशा व्याप्त हो जाती है। निराश मन वाले व्यक्ति को अपने चारो ओर अन्धकार ही दिखाई देता है, वह प्रत्येक घटना और वस्तु का काला पक्ष ही देखता है। उसे असमय में ही बुढ़ापा घेर लेता है, आयु से युवा होते हुए भी वह मन से वृद्ध हो जाता है। इस मानसिक व्याधि को आधुनिक शरीरशास्त्रीय भाषा मे 'प्रोजीरिया' कहा जाता है।

मन मे निराशा का भाव आने से थाइराइड (Thyroid) ग्रन्थि से निकलने वाले हारमोन्स कम हो जाते हैं, परिणामस्वरूप शरीर मे स्फूर्ति और चुस्ती की भी कमी हो जाती है।

थाइराइड ग्रंथि गले की घटी के पास होती है। इसका वजन सामान्यतया लगभग २५ ग्राम होता है। इसी पर मानव की कार्यक्षमता निर्भर होती है। इस ग्रंथि से निकलने वाले स्राव अथवा हारमोन्स (Harmones)

यदि अधिक हो तो मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। इससे व्यक्ति में कार्यशीलता और प्रसन्नता बनी रहती है।

यद्यपि शरीरशास्त्री अथवा चिकित्सक इस ग्रंथि के हारमोन्स का इंजैक्शन लगाकर इसे उत्तेजित कर देते है, किन्तु योगी इस काम को प्राण-शक्ति द्वारा भी कर लेता है। कठ में ही विशुद्धि चक्र है, योगी प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को कंठ तक ले जाता है, तथा वहाँ स्थिर कर देता है यानी कुम्भक कर लेता है। प्राणवायु के प्रभाव से यह ग्रथि उत्तेजित हो जाती है, और योगी को बुढ़ापा नहीं आ पाता तथा उसमें स्फूर्ति और प्रसन्नता भी बनी रहती है।

तनाव (Tension)

आधुनिक सभ्यता के युग में अनेक प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक रोगों एवं व्याधियों की वृद्धि हुई है; किन्तु उनमें सबसे भयंकर और सबसे अधिक व्यापक व्याधि है तनाव।

आज के सभ्य कहलाने वाले व्यक्ति तनाव से ग्रस्त हैं। अमीर-गरीब, बुद्धिमान-मूर्ख, पढे-लिखे और अपढ सभी इस बीमारी की चपेट में है। यह सभ्य संसारव्यापी व्याधि है।

तनाव के अनेक कारण है; जैसे भय, असुरक्षा की भावना, प्रतिकूल परिस्थितियाँ, आर्थिक-व्यापारिक-सामाजिक समस्याएँ आदि-आदि; किन्तु इन सभी कारणो को यदि एक शब्द में कहा जाय तो वह है—व्यक्ति में अनुकूलन (adjustment) का अभाव। जब व्यक्ति परिस्थितियो से अनुकूलन (समझौता) नही कर पाता, जीवन में आने वाली समस्याओ को नही सुलझा पाता तो उसका मन-मस्तिष्क तनावग्रस्त हो जाता है।

अध्यात्म की भाषा मे तनाव का मूल कारण है— राग-द्वेष और रति-अरति की भावना।

तनावग्रस्त व्यक्ति की अधिवृक्क ग्रंथि (cortex) अधिक सक्रिय हो जाती है, रक्त से हारमोन्स अधिक स्रवित होने लगते है और छाती की इन्डोक्राइन ग्रन्थि (Indocrine gland or Thymus gland) सिकुड़ जाती है। तनाव की तीव्रता और मन्दता के अनुसार इन ग्रंथियों के कार्यों में भी अन्तर आ जाता है।

तनाव सिर्फ एक व्याधि ही नही, अनेक व्याधियों की जननी भी है।

हृदय रोग, कैसर, मादक द्रव्यो का व्यसन, असामाजिक गतिविधियाँ, क्रूरता और मार-पीट की प्रवृत्तियाँ, आत्महत्याएँ, सेक्स सम्बन्धी दुर्बलताएँ, तथा अन्य बहुत सी गुप्त और रहस्यमय बीमारियाँ—सभी तनाव के परिणाम है। यहाँ तक कि आन्तरिक व्रण (ulcers) जो शरीर के विभिन्न भागो मे यथा—पेट, प्लीहा, आदि स्थानो में हो जाते हैं, उनका कारण भी तनाव ही है। थकान तो तनाव का अवश्यम्भावी परिणाम ही है।

चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण से तनाव तथा मानसिक उत्तेजना द्वारा समस्त नाडी मंडल गडबडा जाता है तथा जिस अंग यथा मस्तिक में जहाँ तनाव अधिक होता है, शरीर की अनुकूलन ऊर्जा (adjustment energy) वही अधिक सक्रिय हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि अन्य अंगो को यह अनुकूलन ऊर्जा बहुत ही कम मिल पाती है और विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ उठ खडी होती है।

तनाव और मानसिक उत्तेजना शरीर की जीवनी शक्ति को बहुत ही तीव्र गति से नष्ट करती है। परिणामस्वरूप मनुष्य में थकान आती है। मानसिक थकान से हृदय के पेशियो वाले भाग 'मायोकार्डियम' मे स्नायविक सतुलन बिगाड जाता है, इससे जैव रासायनिक परिवर्तन होते हैं और रक्त के आवागमन मे बाधा पहुँचती है। इससे दिल घबडाना, मस्तिष्क शूल आदि अनेक रोग हो जाते है।

तनाव का ही एक परिणाम अनिद्रा है। अनिद्रा और तनाव का चोली-दामन का सम्बन्ध है। मानसिक तनाव से अनिद्रा—नीद नही आती और नीद न आने से तनाव और बढता है, मानसिक उद्विग्नता उत्पन्न हो जाती है तथा मानसिक संतुलन बिगड जाता है। मानसिक सतुलन बिगडने से हिस्टीरिया आदि जैसे रोग हो जाते है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से मानसिक तनावग्रस्त व्यक्ति 'न्यूरोसिस' तथा 'साइकोसिस' हो जाता है। ऐसा व्यक्ति एक तरह से जिद्दी हो जाता है, वह अपनी भूल को मानता ही नही, दूसरो के दोष ही देखता है, अपनी असफलताओ के लिए परिस्थितियो को दोषी ठहराता है और कभी भाग्य को कोसता है। यह स्थिति तनावजन्य निराशा की है। जब यह निराशा और बढ़ जाती है तो उसके व्यक्तित्व मे झुंझलाहट प्रवेश कर जाती है, उसका मन-मस्तिष्क अस्थिर अथवा डाँवाडोल हो जाता है, सकल्पशक्ति का अभाव हो जाता है। वह पहले क्षण जिस वस्तु को अच्छी समझता है,

दूसरे ही क्षण वह वस्तु उसे अप्रिय लगने लगती है। इस दोगली मनोवृत्ति को मनश्चिकित्साशास्त्र में 'कैटटोनिक शिजोफ्रेनिया' कहा गया है।

तनावग्रस्त व्यक्ति अन्दर ही अन्दर भयभीत रहते है। जब व्यक्ति में तनाव आर्थिक हानि, प्रियजनो के बिछोह, विश्वासघात, अपमान, अप्रत्याशित आघात, असफलता आदि के कारण उत्पन्न होता है तो वह हर समय भयभीत रहने लगता हैं। इस भय की भावना को मनश्चिकित्सा शास्त्र में 'फेगबिया या फोबिक न्यूरोसिस' कहा गया है। इनका वर्गीकरण किया गया है—[1]मृत्यु का भय (मोनो फीबिया), पाप का भय (थैनिटोफीबिया), काम विकृति आतङ्क (पैङ्काटोफीबिया), रोग का भय (गाइनो फ्रीबिया), विपत्ति का भय (नोजोफीबिया), अजनबी का भय (पैथो फोबिया) आदि-आदि।

तनाव किसी भी प्रकार का हो—उत्तेजना से अथवा भय से, है यह जीवन-शक्ति का विनाशक ही। अतः जितना शीघ्र हो सके मनुष्य को तनाव-मुक्त हो जाना चाहिए और जहाँ तक संभव हो सके तनावग्रस्त होना ही नही चाहिए।

तनाव-मुक्ति के कुछ उपाय वैज्ञानिकों ने सुझाये है, यथा—

(१) उदारता का दृष्टिकोण रखिए।

(२) मनोरंजन को जीवन में उचित स्थान दीजिए।

(३) हँसने की आदत डालिए।

(४) अधिकाधिक व्यस्त रहने का प्रयास करिए। आदि, आदि

लेकिन तनाव-मुक्ति के ये सभी उपचार अस्थायी है, ठीक वैसे ही जैसे क्रोध या भय का आवेग आने पर एक गिलास ठण्डा पानी पी लेना। ऐसे उपायों से अस्थायी शान्ति तो मिल सकती है; किन्तु स्थायी शान्ति नही प्राप्त हो सकती।

तनावो के विसर्जन और स्थायी शान्ति के लिए योग ही एक मात्र उपाय है। साधक यौगिक क्रियाओ के माध्यम से स्वयं को तनावमुक्त रखता है।

---

१ तुलना करिये, जैन शास्त्रो मे वर्णित सप्त भयो से—(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय या अत्राणभय, (४) अकस्मात भय, (५) आजीविका भय या वेदना भय, (६) अपयश भय या अश्लोक भय (७) मरण भय। —स्थानांग, स्थान ७

दीर्घश्वास लेने से एड्रीनल ग्रन्थि सक्रिय हो जाती है, उससे अधिक हारमोन निकलने लगते हैं और भय की भावना पलायन कर आती है।

तनावो से मुक्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ साधन है—समत्व-योग। अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियो मे सम रहना ही समता-योग है। समत्वयोगी साधक को तनाव सताते ही नही अथवा यो कहे कि तनाव उसे स्पर्श भी नहीं करते तो अतिशयोक्ति नही होगी।

शवासन और शिथिलीकरण मुद्रा से भी तनाव-विसर्जन हो आता है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और कायोत्सर्ग से मानसिक एवं शारीरिक तनाव और थकान सहज ही दूर हो जाते है। ये उपचार स्थायी है। योगी इन्ही उपचारो से अपने को तनाव और तनावजन्य सभी व्याधियो से मुक्त रखता है। साथ ही उसकी प्राण-शक्ति भी बलवती बनती है।

शारीरिक व्याधियाँ

जहाँ तक शारीरिक रोगो का सम्बन्ध है, प्राण-शक्ति और प्राणवायु की साधना से सभी व्याधियाँ शान्त हो जाती है।

उदर की व्याधि, कफ, शरीर की पुष्टि, सन्निपात ज्वर आदि अनेक रोग शान्त हो जाते हैं, घाव जल्दी भर जाते है, टूटी हुई हड्डी भी जुड जाती है, जठराग्नि तेज होती है, गर्मी-सर्दी आदि का प्रभाव नही पडता अर्थात् शीत-ताप से होने वाले रोग नही होते, दर्द-पीडा आदि का उपशमन हो जाता है, शरीर सभी प्रकार से नीरोग और स्वस्थ रहता है तथा बल, कान्ति आदि की वृद्धि होती है।[1]

शारीरिक व्याधि न होने से साधक मानसिक रूप से भी स्वस्थ रहता है, उसको व्याधिजन्य तनाव नही हो पाता।

जैन शास्त्रो मे उल्लेख आता है कि मुनि सनत्कुमार कुष्ट की व्याधि से पीडित हो गये थे, उनके रोग-निवारण के लिए स्वर्ग से एक देव वैद्य का रूप रखकर आया और उनके रोग का उपचार करने की इच्छा प्रगट की। इस पर मुनिश्री ने अपनी हाथ की अँगुली पर थूक कर रोग मिटाकर दिखा दिया।

यह घटना तो पौराणिक है; किन्तु एक घटना ऐतिहासिक काल की भी अधिक प्रसिद्ध है। विक्रम की लगभग १३वी शताब्दी की बात है। मुनि

---

१ योगशास्त्र, प्रकाश ५, श्लोक १०-२४

वादीभसिंह सूरि कुष्ट से ग्रसित थे। एक श्रावक उनका बहुत भक्त था, उस श्रावक का राज-दरबार में भी काफी सम्मान था। कुछ विद्वेषियों ने राजा से कहा कि 'इस श्रावक के गुरु तो कोढी है' और मुनिश्री की काफी निन्दा की। इस पर श्रावक उत्तेजित हो गया, उसने कह दिया—'मेरे गुरु कोढ़ी नहीं हैं।' राजा ने इस विवाद को शान्त करने के लिए स्वयं मुनिश्री के दर्शन करने का निर्णय लिया। यह सम्पूर्ण घटना श्रावक ने मुनि को कह सुनाई।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब राजा ने मुनिश्री के दर्शन किये तो उनके शरीर पर कोढ का चिह्न भी नही था।

ऐसी एक घटना विक्रम की अठारहवी शताब्दी की है। मालेर कोटला में तपावालो के स्थानक मे आचार्य रतिराम जी महाराज ठहरे हुए थे। उनको कोढ़ की व्याधि हो गई, विद्वेषियो ने नबाव से शिकायत की; लेकिन जब नवाब ने स्वयं आकर देखा तो वहाँ न बदबू थी और न आचार्यश्री के शरीर पर कोढ ही था।

ऐसी घटनाओ को जनसाधारण चमत्कार समझ बैठते हैं; किन्तु तपस्या और योग में चमत्कार शब्द है ही नही; यह सब प्राण-शक्ति की की अद्भुत क्षमता है। उच्चकोटि के साधक कभी चमत्कार दिखाते भी नही। यह बात दूसरी है कि प्राण और प्राणायाम से प्राप्त योगी की अद्-भुत क्षमता को जन-साधारण नही समझ पाते और ऐसी घटनाओं को चम-त्कार मान लेते हैं।

मानव साधारणतया तीन शक्तियों से परिचित रहता है—(१) मन की शक्ति—मनोबल; (२) वचन की शक्ति—वचनबल और (२) काय की शक्ति—कायवल, किन्तु इन तीनो शक्तियो से अधिक बलशाली और प्रभावी शक्ति है, उससे साधारणत: मानव अनभिज्ञ-सा ही रहता है, वह शक्ति है—प्राण-शक्ति—प्राणो की शक्ति—प्राण-बल।

प्राणशक्ति, जब प्राणायाम की साधना से उत्तेजित एवं अनुप्राणित हो जाती है, दूसरे शब्दो में इसकी क्षमता विकसित हो जाती है तो यह मानव-शरीर अर्थात् साधक-शरीर के रेटिक्यूलर फॉर्मेशन को ही बदल देती है। यह रेटिक्यूलर फॉर्मेशन मस्तिष्क की अत्यन्त गहराई में ऐसे संस्थान हैं, जिनमें अपरिमित शक्ति भरी होती है।

योगी साधक प्राणायाम की साधना से इस रेटिक्यूलर फॉर्मेशन को सक्रिय कर लेता है, जागृत कर देता है; फलस्वरूप उसमें अद्भुत क्षमताएँ

विकसित हो जाती हैं। वह ऐसे कार्य कर सकता है, जो साधारण लोगो को चमत्कार दिखाई देते है। योगी अपने भावो—विचारो की तरंगों को विद्युत तरगो मे परिवर्तित करके दूरस्थ किसी भी व्यक्ति के पास भेजकर उसे अपनी इच्छानुसार संचालित कर सकता है।

यह स्थिति ऐसी ही है जैसी कि अपने केन्द्र में बैठे हुए ही वैज्ञानिक लोग आकाश मे छोडे गये स्पूतनिको को सचालित करते रहते है। यहाँ से सकेत भेजते रहते है और वहाँ के प्रकम्पनो को पकडकर सन्देश प्राप्त कर लेते है, आकाशीय भौतिक पदार्थों मे हो रहे और होने वाले परिवर्तनों को जान लेते है; तथा जो परिवर्तन हो चुके है उनका ज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं।

वैज्ञानिक जो भी विशिष्ट उपलब्धियाँ, यन्त्रों, प्रयोगशालाओ, बाह्य साधनो द्वारा प्राप्त करते हैं, वे तथा उनसे भी बहुत अधिक उपलब्धियाँ योगी अपनी प्राणशक्ति द्वारा अर्जित कर लेता है।

इसका कारण यह है कि वैज्ञानिकों का कार्य क्षेत्र भौतिक है, पदार्थ है, जो स्वय निर्जीव है तथा उसकी शक्ति भी सीमित है, और योगी का कार्य क्षेत्र चेतना है, चैतन्य जगत है जो स्वयं ही अनन्त शक्ति का भंडार है, यही कारण है कि योगी साधक की शक्तियाँ वैज्ञानिको से बढ़ी-चढी होती है, उन्हे देखकर वैज्ञानिक भी हतप्रभ रह जाते है। जिन रहस्यो को समझने और सुलझाने में वैज्ञानिको को वर्षों तक श्रम करना पडता है, उन रहस्यो को योगी क्षण-मात्र मे ही अपनी प्राणशक्ति द्वारा समझ लेता है, सुलझा लेता है।

विज्ञान ने आज तक जितने भी आविष्कार किये हैं, मानव के मानसिक और शारीरिक स्वस्थता के साधन प्रस्तुत किये हैं, औषधियो और विद्युत तरंगो आदि से उपचार की खोज की है, वे सब परावलम्बी और अस्थायी है, उनसे क्षणिक लाभ और शांति तो प्राप्त हो जाती है किन्तु स्थायी लाभ अथवा शान्ति प्राप्त नही हो पाती।

जब कि प्राणशक्ति मानव को स्थायी सुख और शाति देने मे सक्षम है। यह स्वावलम्बी भी है। इसकी साधना के लिए साधक को किसी भी प्रकार के बाह्य साधनो की आवश्यकता नही। यह शक्ति तो उसके स्वय के अन्दर ही है।

लेकिन अध्यात्म की दृष्टि से प्राण शक्ति भी बाह्य ही है, क्योकि इसकी सीमा प्राण शरीर (तैजस शरीर) है। यदि प्राणशक्ति भावो—

कषायों की धारा का परिमार्जन करके आत्मिक निर्मलता में सहायक बनती है तब तो यह आत्मिक उन्नति और शाश्वत सुख का साधन बन जाती है; और यदि यह प्राण साधना और प्राणशक्ति को ही तेजस्वी बनाने में लगी रहती है, वही अपनी सीमा और लक्ष्य निर्धारित कर लेती है तो यह मानसिक और शारीरिक शांति, नीरोगता, स्वास्थ्य और अद्‌भुत कार्यों के प्रदर्शन मे तो सक्षम हो जाती है, किन्तु आत्मिक प्रगति में योगदान नही दे पाती।

अतः आत्मिक सुख के लिए प्रयत्नशील साधक को प्राणशक्ति का उपयोग आध्यात्मिक उन्नति में करना चाहिए। उसके लिए प्राणशक्ति द्वारा प्राप्त विशिष्ट क्षमताओं एवं अद्‌भुत शक्तियों के प्रदर्शन के लोभ में अपनी शक्ति को गंवाना उचित नही है।

☐☐

४ मंत्र-शक्ति-जागरण

ध्वनि प्रकम्पनों की व्यापकता

यह समूचा ब्रह्मांड (लोक) ध्वनि प्रकम्पनो से आपूरित है। अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ध्वनि की तरंगों से व्याप्त है। भाषा अथवा ध्वनि के पुद्गल क्षण-प्रतिक्षण निकलते रहते हैं और वातावरण को उद्वेलित करते रहते हैं -

जो हम बोलते है, वह शब्द ध्वन्यात्मक होते हैं; किन्तु जो हम सोचते हैं चिन्तन-मनन करते है, वह विचार भी शब्दात्मक होते हैं। मन का चिन्तन— भूतकाल की स्मृति, भविष्य की योजना और वर्तमान के विचार, सभी शब्द-रूप है, इनसे भी शब्द उत्पन्न होता है; किन्तु वह कानो से सुनाई नही देता।

एक साधक मौन है, उसके होठ भी नही हिल रहे है, ध्वनि-उत्पादक कण्ठ के यंत्रो से ध्वनि भी नही निकल रही है, पूर्णतया सहज और शान्त है; फिर भी उसके भाषा वर्गणा के पुद्गल विचार तरगो के माध्यम से वातावरण में प्रसारित हो रहे है, यह एक तथ्य है।

ध्वनि अथवा शब्दों के कर्णगोचर होने की स्थिति तो तब आती है जब हम कण्ठ के स्वर यंत्रो का प्रयोग करते हैं।

आधुनिक विज्ञान की भाषा मे हमारे कान केवल ३२,७४० प्रति सैकिण्ड की गति के कम्पनो को ही ग्रहण कर सकते है, यानी जब किसी वस्तु मे इतने कंपन हो तब हम ध्वनि को सुन सकते है तथा ४०,००० कम्पन (अथवा इससे अधिक हो तो वह ध्वनि हमारी श्रवण शक्ति की सीमा से बाहर हो जाती है, हम उसे सुन नही सकते, वह हमारे लिए ultrasonic अथवा Supersonic हो जाती है।

सामान्य वार्तालाप में हमारे शरीर में स्थित स्नायु लगभग १३० बार प्रति सैकिण्ड की गति से झनझनाते हैं। हमारे साधारण वार्तालाप के शब्दो की ध्वनि तरंगें १० फीट दूर तक जाती हैं और चिन्तन करते समय शरीर से

लगभग २ इंच दूर तक। यद्यपि इन तरंगों की लम्बाई (Wave Length) कम है, किन्तु ये शक्तिशाली अधिक होती है। इन पर आंधी, वर्षा, तूफान आदि शक्तियों का कोई प्रभाव नहीं होता और हजारों-लाखों मील तक निर्बाध रूप से चली जाती हैं। इसीलिए अध्यात्मशास्त्रों में शब्दो की अपेक्षा विचारो को अधिक प्रभावशाली माना गया है। यही कारण है कि इंगलैंड, अमेरिका आदि दूरस्थ देशो से रेडियो पर समाचार Short Wave पर प्रसारित किये जाते हैं।

शब्द का उच्चारण छह प्रकार से किया जाता है—(१) ह्रस्व, (२) दीर्घ, (३) प्लुत, (४) सूक्ष्म, (५) सूक्ष्मतर, (६) सूक्ष्मतम।

'मन्त्र' स्वर-विज्ञान-शब्द, विज्ञान, तथा ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से प्लुत उच्चारण (तेज स्वर) में बोला जाने वाला शब्द है। इसे मन्त्र-शास्त्र में संजल्प कहा गया है। ह्रस्व दीर्घ स्वर जल्प हैं। तीसरी स्थिति आती है सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम शब्द की। इसे अन्तर्जल्प कहा गया है।

सूक्ष्म शब्द की स्थिति में ध्वनि इतनी सूक्ष्म होती है कि मनुष्य यदि स्वर-प्रेक्षा (स्वर पर ध्यान केन्द्रित करे) तो उसे ही अपने स्वर यन्त्रो की ध्वनि सुनाई देती है, दूसरा उस ध्वनि को नही सुन पाता।

सूक्ष्मतर स्थिति में क्षीण ध्वनि गुन्जारव (भ्रमर गुन्जन) के समान साधक को सुनाई देती है। इसी को हठयोग मे अनाहत नाद और जप योग में भ्रामरी जप की स्थिति कहा गया है।

सूक्ष्मतम शब्दों की ध्वनि साधक को स्वय भी नही सुनाई देती। यह मन (मस्तिष्क) में होती रहती है। श्वासोच्छ्वास से भी इसका सम्बन्ध नहीं रहता। यह मन के शब्दात्मक चिन्तन-मनन के रूप में होती है। यही स्थिति मन्त्रशास्त्र की दृष्टि से मन्त्र के शब्द और अर्थ का एकाकार हो जाना है। इस दशा में साधक को वचनसिद्धि हो जाती है, उसे शाप और अनुग्रह की शक्ति प्राप्त हो जाती है, उसके मुख से जो भी निकल जाता है, वह सत्य होकर रहता है। यह सूक्ष्मतम शब्द की प्रथम स्थिति होती है।

प्रथम स्थिति के उपरान्त क्रमशः सूक्ष्मतम शब्द की अन्तिम स्थिति आती है। इस स्थिति में शब्द ज्ञानात्मक (Cognitive)हो जाता है। साधक मन्त्र के गूढतम रहस्य तक पहुँच जाता है, उस रहस्य में उसका स्वरूप-तादात्म्य स्थापित हो जाता है तथा मन्त्र का साक्षात्कार हो जाता है। मन्त्र का साक्षात्कार होते ही शब्द की शक्ति द्वारा साधक का तैजस् शरीर अत्यन्त बलशाली हो जाता है। यहीं शब्द की शक्ति का पूर्ण रूप से प्रस्फुटन होता

है। योगशास्त्रो मे जो बताया गया है कि संसार मे व्याप्त शक्ति (energy) का तृतीय अंश शब्द शक्ति है, वह यही स्थिति है। इस शक्ति से सम्पन्न साधक क्षण मात्र मे असम्भव कार्य कर सकता है। वस्तुतः इस स्थिति मे पहुँचे हुए साधक को कुछ भी करना नही पडता, करने की जरूरत भी नही रहती। मन मे विचार आया, क्रिया का सकल्प जगा कि कार्य सिद्ध। करुणा जागी कि अमुक व्यक्ति का रोग दूर हो जाय; अमुक क्षेत्र में अकाल है, सुकाल हो जाय, और वह व्यक्ति रोग-मुक्त हो गया, उस क्षेत्र मे सुकाल हो गया। उसके चिन्तन की तरगो से व्याप्त वायु जितनी दूर तक संचरण करती है, उतने क्षेत्र के सभी प्राणी सुखी हो जाते हैं, सुख का अनुभव करने लगते है।

सूक्ष्मतम शब्द की इस तीसरी अवस्था को कुछ लोग ज्ञानात्मक भी कहते है; उसे ज्ञानावरण का विलय मानते हैं; किन्तु ज्ञानावरण का विलय तब होता है, जब पहले कषायावरण का क्षय हो जाता है। कषायावरण का विलय एवं क्षय प्रथम होता है और ज्ञानावरण का विलय तदुपरान्त। शब्द की इस सूक्ष्मतम स्थिति में तो योगी को भाषा-शक्ति का, वचनयोग की पुद्गल वर्गणाओ का साक्षात्कार होता है, मनोयोग की वर्गणाओ से वचन-योग की वर्गणाओ के साथ तादात्म्य हो जाता है और शब्द-शक्ति अपने विकास की उच्चतम स्थिति तक पहुँच जाती है। साधक की भाषा वर्गणाएँ ऊर्जस्वी तेजस्वी बन जाती है।

भाषा की ये वर्गणाएँ पौद्गलिक है, अत: इनमें रूप (रंग) भी है, रस भी है, स्पर्श भी है, गन्ध भी है और इनका निश्चित आकार भी है। इनके ये तत्त्व मन्त्रशास्त्र मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। मन्त्र की साधना इन तत्त्वो के आधार पर की जाती है। मन्त्र की सिद्धि और साक्षात्कार मे ये बहुत उपयोगी हैं। अतः इनको समझने से मन्त्र-सिद्धि का रहस्य सहज ही समझ मे आ सकता है।

मन्त्र और महामन्त्र

मन्त्र शास्त्रो मे बताया है कि वर्णमाला के जितने भी अक्षर है, वे सभी मन्त्र है—अमन्त्रमक्षरं नास्ति। हिन्दी की वर्णमाला मे 'अ' से 'ह' तक ६४ अक्षर हैं। इन अक्षरो से अनेक प्रकार के असख्य मन्त्रो की रचना होती है। उनमे वशीकरण के मन्त्र भी होते है, मारण-उच्चाटन आदि के भी मन्त्र होते हैं। यों मन्त्रशास्त्र में प्रमुख रूप से आठ प्रकार के मन्त्र बताये गये हैं; किन्तु इनके उत्तर भेद अनगिनत हैं।

वस्तुतः 'मन्त्र' अक्षरो का संयोग या पिण्ड है। अक्षरो में कुछ शोधन बीज होते हैं, कुछ बीजाक्षर होते हैं, और कुछ अक्षर विभिन्न तत्त्वो से सम्बन्धित होते हैं। इनमें अभिधा, लक्षणा, व्यंजना शक्ति भी होती है। कुछ अक्षर संयुक्त और मिश्रित भी होते हैं। मन्त्र रचना में इन सबका समायोजन करते हुए अक्षरों का संयोजन इस प्रकार किया जाता है कि जिस अभिप्राय से मन्त्र-रचना हुई है, उसका जप करने वाले साधक का वह अभिप्राय पूरा हो जाय।

सामान्यतः मंत्र एक प्रतिरोधात्मक शक्ति है, कवच है, चिकित्सा है। यह चिकित्सा है—शारीरिक और मानसिक विकृतियो की, विकारो की। शरीर और मन में जो विकार उत्पन्न होते है, वे उन मंत्रो द्वारा उपशमित हो जाते हैं, उन विकारो का रेचन हो जाता है, वे समाप्त हो जाते है।

कवच के रूप में मंत्र बहुत प्रभावी कार्य करता है। पृथ्वी के वायुमंडल में, चारों ओर के वातावरण में जो दुर्भावों की, तीव्र ध्वनि की तथा विकारवर्द्धक विचारों, संगीत आदि की तरंगें वह रही है, व्याप्त हो रही हैं, वे मंत्र जप द्वारा निर्मित भाव कवच के कारण साधक के शरीर और मन में प्रविष्ट नही हो पाती, फलतः साधक का मन-मस्तिष्क और शरीर उन विरोधी और विकारी तरंगों से प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार जो रोग के कीटाणु वायु आदि के माध्यम से सामान्य व्यक्ति के शरीर में होकर रक्त में प्रवेश कर जाते हैं, मंत्र-कवच के कारण प्रवेश नही कर पाते।

मंत्र-जप से साधक के रक्त, स्नायुमंडल, नाड़ीमंडल, क्रियावाही तंत्रिका संस्थान में एक ऐसी प्रतिरोधात्मक शक्ति (विद्युत) उत्पन्न हो जाती है कि वह प्रतिक्रिया करने वाले, विभिन्न विकार और रोगो के जीवाणुओं (Bacteria) की शक्ति को शून्यप्राय या भस्मसात् कर देती है।

जपयोगी (मंत्र जाप करने वाला साधक) की मानसिक और शारीरिक स्वस्थता का यही रहस्य है।

इसके साथ ही मंत्र जप से साधक का तैजस् शरीर बलशाली बन जाता है। जिस भावना को हृदय में रखकर साधक मंत्र का जाप करता है, उसके अनुरूप तथा मंत्राक्षरों के वर्ण, तत्त्व, गंध, संस्थान आदि के प्रभाव से साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति सुलभ होती है।

जिस प्रकार प्रति सैकिण्ड लाखों प्रकम्पन होने पर ध्वनि तरंगें विद्युत

में परिवर्तित हो जाती है व्यक्ति के भावों के अनुकूल प्रवाहित होने लगती हैं, उसी प्रकार हजारों लाखो बार मंत्र की आवृत्ति करने पर, जाप करने पर ही मत्र इच्छित फल प्रदान करने मे सक्षम होता है अथवा साधक की मनोवांछा पूरी होती है।

यह सामान्य मंत्र और उससे इच्छित फल प्राप्ति की प्रक्रिया एव साधना विधि है।

लेकिन कुछ मन्त्र इन सामान्य मन्त्रो से काफी ऊँचे होते हैं, उनकी शक्ति भी अत्यधिक होती है और प्रभाव भी अचिन्त्य होता है। उनके बीजाक्षरो, शोधन बीजो क्षादि की सयोजना कुछ ऐसी होती है कि देखने और सामान्य रूप से पढने मे तो वे मन्त्र साधारण से लगते है, किन्तु उनमे अत्यन्त गुरु-गम्भीर रहस्य भरे होते है। उन मन्त्रो के विधिपूर्वक जप और साधना से साधक को ऐसी महान् शक्ति और ऊर्जा की प्राप्ति होती है, कि साधक स्वय ही चकित रह जाता है।

प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय और परम्परा मे अपने-अपने विश्वास के अनुसार कुछ महामन्त्र होते है। वैदिक परम्परा का महामन्त्र 'गायत्री' है और मुस्लिम परम्परा अपने मान्य महामन्त्र को 'कलमा' कहती है। इसी प्रकार अन्य सभी परम्पराओ के अपने माने हुए महामन्त्र अलग-अलग है।

जैन परम्परा द्वारा मान्य महामन्त्र नवकार है।

लेकिन कोई मन्त्र महामन्त्र है अथवा नही, इसकी मन्त्रशास्त्रसम्मत कसौटियाँ है, निष्पत्तियाँ है, लक्षण है, प्रभाव है, शब्द और अक्षर सयोजना है। इन सब कसौटियो पर कसने पर नवकार मन्त्र खरा उतरता है, इसीलिए वह महामन्त्र माना गया है।

नवकार मन्त्र का महामन्त्रत्व

महामन्त्र वह है, जिसकी साधना से—

(१) साधक के विकल्प शान्त हो।

(२) उसकी मानसिक, आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियो का जागरण हो।

(३) आत्मा का साक्षात्कार हो।

(५) आत्मिक एव मानसिक ऊर्जा में वृद्धि हो।

(६) साधक की दृष्टि बाह्याभिमुखी से अन्तर्मुखी हो।

(७) कषायो—आवेगो-संवेगो की तीव्रता में कमी हो, कषाय क्षीण हो।

(८) वीतरागता तथा समताभाव का विकास हो।

(९) मानव-शरीर के शक्ति केन्द्रों, चैतन्य केन्द्रों—चक्रों में प्राण-शक्ति की सघनता होती है, वही से वीर्य-शक्ति प्रस्फुटित होती है। महामन्त्र वीर्य-वान मन्त्र होता है। अतः उससे वीर्य-शक्ति प्रस्फुटित हो जाती है।

(१०) साधक की संकल्पशक्ति दृढ होती है।

(११) बाह्य पदार्थों के प्रति साधक की मूर्च्छा टूटती है।

(१२) अध्यात्म-दोषो—राग-द्वेष तथा आवरण, विकार और अन्त-राय का नाश होता है। साथ ही मानसिक एव शारीरिक रोग भी उपशांत होकर साधक शारीरिक और मानसिक रूप से भी स्वस्थ रहता है।

इन कसौटियो के अतिरिक्त महामत्र की साधना के विशिष्ट फल अथवा साधक को उपलब्धियाँ भी होती है—

(१) साधक की इच्छाओ की तृप्ति नही, अपितु उनका विसर्जन व समापन होता है।

(२) सुख-दुःख की पूर्वकालीन मान्यताएँ परिवर्तित हो जाती है अर्थात् सुख-दुःख के बारे में उसका दृष्टिकोण समीचीन बनता है।

(३) साधक की अधोमुखी (ससाराभिमुखी) वृत्तियाँ ऊर्ध्वमुखी (आत्माभिमुखी) बनती है।

(४) मार्ग (मोक्ष-मार्ग—आत्म-मुक्ति एव आत्म-सुख) की उपलब्धि होती है। साथ ही साधक के अन्तर् में उस मार्ग पर आगे बढ़ने की अन्तः स्फुरणा जागृत होती है।

(५) साधक की आत्म-शक्ति (चैतन्य शक्ति), आनन्द और वीर्य शक्ति का समन्वित एवं एक साथ (simultaneous) विकास होता है।

नवकार मत्र की साधना द्वारा ये सब उपलब्धियाँ साधक को प्राप्त होती है अतः नवकार मंत्र निश्चित ही महामत्र है।

महामन्त्र का साक्षात्कार एव सिद्धि

साधारण मानव ही नही, साधकों के मन में भी यह जिज्ञासा रहती है कि मंत्र का साक्षात्कार कब होगा, सिद्धि कब प्राप्त होगी, कब मत्र सिद्ध होगा, जो फल नवकार मंत्र के जप के बताये गये है, मत्र-शास्त्रो मे कहे गये हैं, वे कब मिलेंगे ?

आम तौर से लोग कहते है—इतने वर्षों तक माला फेरी, मंत्र का जप किया; किन्तु नतीजा शून्य ही रहा। न मंत्र का साक्षात्कार हुआ, न कोई चमत्कार ही हुआ और न मानसिक शाति ही मिली। किसी भी समस्या

का निदान न हुआ। इतना समय और श्रम अकारथ ही चला गया। और उनकी श्रद्धा डगमगा जाती है, हृदय चचल हो उठता है, शंकाशील वन जाता है।

अतः साधक के लिए यह जानना आवश्यक है कि मंत्र के साक्षात्कार का अर्थ क्या है और मंत्रसिद्धि क्या है? साधक मे कौन-कौन से लक्षण उत्पन्न हो जाते है, जिनसे उसे मंत्रसिद्धि का विश्वास हो सके।

मंत्र साक्षात्कार, मंत्र-जप के कई सोपान पार करने के वाद होता है। प्रथम सोपान में ध्याता अथवा साधक और मत्र के शब्दो का भेद संवंध होता है, यानी साधक अपने को साधना करने वाला मानता है और मत्र के पदो को ध्येय; अर्थात् इस सोपान मे मंत्र-पद और साधक के मध्य भिन्नता की स्थिति रहती है।

इसके उपरान्त साधक दूसरे सोपान पर चढता है। वहाँ उसकी अन्तश्चेतना का मंत्र के अक्षरो—पदो के साथ तादात्म्य (एकत्व-सम्वन्ध) स्थापित हो जाता है, अभेद दशा की प्राप्ति हो जाती है।

तीसरे सोपान मे स्थूल शब्दो (जल्प) का जप भी नही होता, तव सविकल्प अवस्था प्राप्त हो जाती है।

चौथे सोपान में मंत्र के अर्थ और गूढ रहस्य का साक्षात्कार हो जाता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि तात्त्विक दृष्टि से महामत्र निर्विकल्पात्मक होता है। अतः मन की निर्विकल्प स्थिति पर पहुँचने पर ही मत्र का साक्षात्कार होता है।

मंत्रसिद्धि के लक्षण जो साधक मे प्रगट होते हैं वे आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक रूप से तीन प्रकार के हैं।

आध्यात्मिक लक्षण—(१) ध्येय के प्रति तीव्र निष्ठा उत्पन्न होने पर साधक के सकल्प-विकल्प शांत हो जाते है।

(२) उसके अहं भाव का विसर्जन हो जाता है 'अर्हं' अथवा 'अर्हत्' भाव विकसित होने लगता है।

(३) कषायो की अल्पता तथा तरतम क्षीणता होने से ममत्वभाव का व्युत्सर्ग होता है और उसके स्थान पर समत्वभाव प्रतिष्ठित होता है।

मानसिक लक्षण—(१) साधक की आन्तरिक शक्तियाँ विकसित हो जाती है।

(२) साधक के चित्त में सहज आन्तरिक प्रसन्नता एव प्रफुल्लता व्याप्त हो जाती है। यह प्रफुल्लता चित्त की निर्मलता का परिणाम होती है।

(३) साधक में संतोष भावना सहजरूप में दृढ़ हो जाती है। इच्छित पदार्थों की उपलब्धि न होने पर भी चित्त विक्षेपरहित तथा संतुष्ट रहता है।

वस्तुतः यह संतुष्टि अथवा मानसिक तोष इच्छाओ के अभाव का परिणाम होता है। मन में संतोष इतना व्याप्त हो जाता है कि साधक की चाह ही मिट जाती है।

शारीरिक लक्षण—(१) ज्योतिदर्शन—साधक को मस्तक और ललाट में मंत्र-जाप के समय ज्योति अथवा प्रकाश दिखाई देने लगता है।

(२) तैजस् शरीर बलशाली होने से आभामंडल विकसित हो जाता है, परिणामस्वरूप साधक का स्थूल शरीर भी तेजोदीप्त हो जाता है। शरीर, मस्तक, ललाट पर तेज झलकने लगता है। साथ ही शरीर पुलकित एवं प्रफुल्लित रहता है।

(३) साधक की इच्छा-शक्ति विकसित हो जाती है। यह इच्छा-शक्ति अथवा संकल्प-शक्ति सभी कार्यों में सफलता की कुञ्जी है।

(४) साधक के लिए सारे भौतिक एवं पौद्गलिक पदार्थ अनुकूल हो जाते हैं।

इन लक्षणों से साधक स्वयं अनुभव कर सकता है कि उसे मंत्र-सिद्धि हुई अथवा नही।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मन्त्र-सिद्धि का अभिप्राय किसी चमत्कारी सिद्धि से नही है, अपितु मंत्र की सफलता या जो साधना वह कर रहा है उसमें परिपक्वता से है।

मंत्र की सफलता का मूल सूत्र है कि साधक मंत्र के अक्षरो की साधना करता हुआ, पदो पर पहुँचे और पदो से आगे बढ़कर उन पदो में नियोजित अपनी चैतन्यधारा को स्थूल शरीर की सीमा को पारकर सूक्ष्म अथवा शरीर (प्राण शरीर) में पहुँचा दे, प्राण शरीर को उद्दीप्त कर दे।

मंत्र में नियोजित साधक की चैतन्यधारा जब तैजस् शरीर तक पहुँच जाती है, उसे उद्दीप्त कर देती है तब तैजस् शरीर से शक्तिशाली प्राणधारा बहने लगती है। उस प्राणधारा से संयुक्त होकर मंत्र शक्तिशाली बन जाता है। सही शब्दों में, साधक की जो चैतन्यधारा मंत्र के शब्दों में

नियोजित होती है, वह शक्तिशाली वन जाती है। परिणामस्वरूप साधक का मन और शरीर शक्तिशाली वन जाते हैं।

यह सारा काम साधक अपनी प्रवल साधना द्वारा संपन्न करता है।

मंत्रशक्ति का रहस्य

मन्त्रशक्ति अर्थात् मंत्र की फल-प्रदान शक्ति का रहस्य उसके वर्ण संयोजन (स्वर और व्यजन दोनों का समन्वित संयोजन) में निहित है। जिस प्रकार धातु और रासायनिक पदार्थों के उचित और विचारपूर्ण सयोजन से विद्युत शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार मंत्र के अक्षरो (वर्ण और स्वरो) के सयोजन तथा साधक की उसमें नियोजित प्राणधारा के उचित और विवेकपूर्ण संयोग से मन्त्र के शब्दो मे भी विद्युत धारा—मानवीय विद्युत धारा का निर्माण होता है। यह विद्युत धारा जितनी ही अधिक वलवती होगी, मन्त्र की फलप्रदान शक्ति उतनी ही अधिक हो जायगी। और विद्युत धारा का वलवती होना वहुत कुछ मंत्र मे प्रयुक्त वर्ण संयोजना पर निर्भर है। वर्ण समूह और साधक की ध्वनि तरगो के सूक्ष्म मिलन से मन्त्र में चमत्कारिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। और जव साधक के अन्त.करण की विचार-शक्ति, भाव-शक्ति, प्राण-शक्ति, मन.शक्ति और संयम-शक्ति मन्त्र मे घुलमिल जाती है तो मन्त्र के वर्ण अनुप्राणित (सजीव) हो जाते हैं तथा मंत्र-साधक को अभीप्सित फल की प्राप्ति होने लगती है। इन क्षणो मे साधक का सूक्ष्म शरीर सव कुछ अनुभव करता है, साथ ही स्थूल शरीर मे भी उस अनुभव का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है।

मंत्रशक्ति का यह रहस्य मन्त्रशास्त्रो में तो वर्णित है ही, किन्तु आज का विज्ञान भी मन्त्र-शक्ति के इस आधारभूत रहस्य से परिचित हो चला है तथा अनेक वैज्ञानिको ने इसे स्वीकार भी कर लिया है।

□□

५ नवकार महामन्त्र की साधना

नवकार मन्त्र महामन्त्र है। इसकी शक्ति अमोघ है और प्रभाव अचिन्त्य। इसकी साधना से साधक को लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की उपलब्धियाँ प्राप्त होती है। शारीरिक और मानसिक स्वस्थता तथा शान्ति प्राप्त होती है और आध्यात्मिक उत्कर्ष होता है। कषायों की क्षीणता होती है। साधक वीतरागता की ओर बढ़ता है। अपने अह का विसर्जन करके साधक अर्हं की स्थिति पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील होता है।

अद्‌भुत वैज्ञानिक संयोजन

नवकार महामन्त्र के वर्णों के संयोजन पर विचार करें तो यह बडा अद्‌भुत है, और पूर्ण वैज्ञानिक लगता है। जैन परम्परा इस मन्त्र को अनादि (द्रव्य दृष्टि से) मानती है; किन्तु यदि यह मान भी लिया जाय कि इस मन्त्र का संयोजन किसी महामनीषी ने किया तो उसकी अद्‌भुत मेधा के सम्मुख नतमस्तक होना ही पडता है कि उसने आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से तो पूर्ण संयोजन किया ही किन्तु भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी यह पूर्ण है, खरा है। इसके बीजाक्षरो को जब आप आधुनिक शब्द-विज्ञान की कसौटी पर कसेंगे तो पायेंगे कि इनमें विलक्षण ऊर्जा और शक्ति का भण्डार छिपा है।

इस मन्त्र में ५ पद है, ३५ अक्षर है और ६८ वर्ण हैं।[1] इन सभी मे से प्रत्येक का अपना विशिष्ट अर्थ है, प्रयोजन है, विशिष्ट शक्ति है, ऊर्जा उत्पादन की क्षमता है; जो आध्यात्मिक और भौतिक दोनो ही दृष्टियो से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

---

१ स्वर और व्यजन अलग-अलग वर्ण कहलाते है। कोई भी व्यजन स्वर के सयोग से ही पूर्ण होता है, अन्यथा अधूरा रहता है, जैसे क्+अ=क। इस अपेक्षा से प्रत्येक व्यजन मे दो वर्ण होते हैं, किन्तु स्वर स्वय पूर्ण होता है, उसे व्यजन की अपेक्षा नही होती, अत: स्वर जैसे 'अ' मे एक वर्ण माना जाता है।

आप इस महामन्त्र के पहले पद को लीजिए। पहला पद है—णमो अरिहंताण।

'णमो अरिहताण' में १३ वर्ण, अक्षर ७, स्वर ७, व्यजन ६, नासिक्य व्यजन ३, और नासिक्य स्वर २ हैं।

तत्त्व की दृष्टि से 'इ' (मातृका वर्ण के रूप में) और 'र' अग्नि बीज है, 'अ' और 'ता' वायु बीज है, 'ह', 'णमो' और 'ण' आकाश बीज हैं। यानी इस पद मे अग्नि, वायु और आकाश तीनो तत्त्व मौजूद हैं।

अग्नि तत्त्व के कारण अशुभ कर्मों की निर्जरा अधिक होती है, वायु तत्त्व निर्जरित कर्म-रज को उड़ाकर साफ कर देता है और आकाश तत्त्व भौतिक दृष्टि से साधक के चारो ओर एक कवच निर्मित करता है, साधक की प्रतिवन्धक शक्ति को वढाता है जिससे वाहर के विकार उसकी आत्मा, मन और शरीर मे प्रवेश न कर सकें तथा आध्यात्मिक दृष्टि से साधक के आत्म-गुणो को अनन्त आकाश मे व्याप्त करता है, उन्हे आकाश-व्यापी वनाता है। आकाश है ही अनन्तता (infinity) का प्रतीक।

अव जरा रग सयोजन पर आइये। मन्त्रशास्त्रो में साधक को निर्देश दिया गया है कि 'णमो अरिहताण' पद का ध्यान श्वेत[1] रग में करे।

आज विज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि वैंगनी, गहरा नीला, हल्का नीला, पीला, हरा, नारंगी और लाल इन रगों के बिन्दु किसी

---

१ 'णमो अरिहताण' पद का सफेद रग, 'णमो सिद्धाण' पद का लाल रग, 'णमो आयरियाणं' पद का पीला रंग, 'णमो उवज्झायाण' पद का नीला रग और 'णमो लोए सव्वसाहूण' का काला रग—इन पदो की अपेक्षा से माना गया है। इन पदो मे वर्ण सयोजन ही इस ढग से हुआ है कि जव साधक अपनी प्राणधारा से इन पदो को अनुप्राणित करता है तव ये रग स्वय ही प्रगट होते हैं और अपनी शक्ति तथा चमत्कार दिखात है।

किन्तु अरिहत भगवान का सफेद रग, सिद्ध भगवान का लाल रग, आचार्यदेव का पीला रग, उपाध्यायजी का नीला रग और साधुजी का काला रग नही है। सिद्ध भगवान तो अवर्ण ही हैं, शेष चारो परमेष्ठी का भी सफेद, पीला, नीला, काला रग नही है। अत जहाँ ऐसा उल्लेख है कि 'साधक को अमुक परमेष्ठी की आराधना अमुक रग मे करनी चाहिए' वहाँ उस परमेष्ठी के वाचक पद की साधना समझनी चाहिए, न कि परमेष्ठो का रग।

प्लेट (spectrum) पर बनाकर उस प्लेट को तीव्र गति से घुमा दिया जाय तो ये सभी रग दब जायेंगे और सफेद रंग का धब्बा ही दिखाई देगा।

'णमो अरिहंताणं' पद में भी सात अक्षर है, वर्ण और बीज हैं, तत्त्व है, उनके अपने-अपने रग है और उन रगो का सम्मिलित प्रभाव भी है। और वह सम्मिलित प्रभाव श्वेत वर्ण रूप है। श्वेत वर्ण शांति, समता, शुभ्रता, सात्विकता आदि का प्रतीक है।

अब लीजिए दूसरा पद—णमो सिद्धाणं।

'णमो सिद्धाणं' पद मे ११ वर्ण, ५ अक्षर, ५ स्वर, ६ व्यंजन, ३, नासिक्य व्यंजन और २ नासिक्य[1] स्वर है।

तत्त्वो की दृष्टि से 'णमो' और 'ण' आकाश तत्त्व, 'स' और 'द' जल तत्त्व, 'ध' पृथ्वी तत्व और 'इ' (मातृका वर्ण के रूप मे) अग्नि तत्त्व हैं। यानी इस पद में पृथ्वी, अग्नि, जल और आकाश ये सभी तत्त्व[2] मौजूद है।

---

१ नासिक्य या अनुनासिक वर्णों का मंत्रशास्त्र मे अत्यधिक महत्व है। इन वर्णों के उच्चारण में नासिका तत्र का विशेष रूप मे प्रयोग होता है तथा इनके उपांशु उच्चारण के समय ध्वनि तरगें सीधी ब्रह्मरंध्र तथा मस्तिष्क के ज्ञान-वाही और क्रियावाही ततुओ से टकराती हैं, अतः अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है।

भाषा-शास्त्र की दृष्टि के 'ङ' 'ञ' 'ण' 'न' 'म' ये अनुनासिक वर्ण है। इनमे 'ण' और अनुस्वार ( ) ये दोनो विशिष्ट शक्ति उत्पन्न करने वाले हैं।

मत्रशास्त्र की दृष्टि से ये बीजाक्षर है तथा वे मत्र अधिक प्रभावशाली होते हैं जिनमे अनुनासिक वर्णों की प्रचुरता हो। ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ओं आदि सभी बीजाक्षर अन्त मे अनुनासिक है।

नवकार महामत्र की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इसके प्रत्येक पद का आरम्भ तथा अन्त अनुनासिक वर्णों से हुआ है। प्रत्येक पद मे कम से कम चार नासिक्य वर्ण तो है ही, किसी-किसी मे अधिक भी हैं। इन अनुनासिक वर्णो के कारण सामान्य मत्रो की अपेक्षा शत-सहस्र गुनी ऊर्जा इसके जाप से साधक के मन-मस्तिष्क मे उत्पन्न होती है।

२ बीजाक्षर, तत्त्व और उनके रग आदि के विस्तृत ज्ञान के लिए 'मंत्रराज रहस्य', 'णमोकार मत्र ग्रथ' आदि द्रष्टव्य हैं।

अब जरा इस पद मे 'द्धा' वर्ण का विश्लेषण करिए। 'ध' वर्ण धारणा शक्ति को प्रवल करता है तो 'द्' व्युत्सर्ग (अहकार-ममकार का व्युत्सर्ग—क्योकि 'द्' दमन (इन्द्रिय दमन), दान आदि की ओर संकेत करता है, साथ ही जल तत्त्व होने के कारण यह शीतलताप्रदायक है और आध्यात्मिक शांति—शीतलता 'अह' और 'मम' के विसर्जन से ही प्राप्त हो सकती है।) की प्रेरणा देता है।

ध्वनिविज्ञान[1] के अनुसार जब 'द्धा' वर्ण का उच्चारण तालु, जिह्वा को स्थिर करके तथा होठो को बन्द करके केवल कंठ स्थित स्वर यन्त्र से किया जाता है तो ध्वनि तरंगें सीधी मूर्धा, ललाट और मस्तिष्क से टकराती है। इसीलिए साधक जब उपाशु जप में 'द्धा' का उच्चारण करता है तो उसे विलक्षण ऊर्जा (शक्ति व स्फूर्ति) का अनुभव होता है।

साधक इस पद की साधना लाल रंग में करता है।

इस महामंत्र का तीसरा पद है—**'णमो आयरियाणं'**।

'णमो आयरियाणं' पद मे १२ वर्ण, ७ अक्षर, ७ स्वर, ५ व्यजन, ५ नासिक्य व्यजन और ५ नासिक्य स्वर हैं।

तत्त्वों की दृष्टि से 'णमो' और 'ण' आकाश तत्त्व, 'आ' 'य' और 'या' वायु तत्त्व, 'रि' अग्नि तत्त्व है। यानी इस पद मे वायु, अग्नि और आकाश—ये तीनो तत्त्व मौजूद है। समवेत रूप से पूरे पद का वर्ण पीला है।

इसीलिए साधक इस पद की साधना पीले रंग मे करता है। पीला रंग साधक के ज्ञानवाही ततुओ को अधिक सवेदनशील और शक्तिशाली बनाता है। यह रग ज्ञानवाही और क्रियावाही ततुओ के बीच सेतु का काम भी करता है।

चौथा पद है—**'णमो उवज्झायाणं'**।

'णमो उवज्झायाणं' पद मे १४ वर्ण, ७ अक्षर, ७ स्वर, ७ व्यजन, ५ नासिक्य व्यजन ओर[1] नासिक स्वर है।

तत्त्वो की अपेक्षा से 'णमो' और 'ण' आकाश तत्त्व, 'उ' और 'ज' पृथ्वी तत्त्व, 'व' और 'झा' जल तत्त्व तथा 'य' वायु तत्त्व है। इस प्रकार

---

१ वर्णों, अक्षरो, स्वरो की विशिष्ट ध्वनि के लिए द्रष्टव्य है—Phoneticism by Sunit Kumar Chatterjee.

इस पद में पृथ्वी, जल, वायु और आकाश—इन चारों तत्त्वों का उचित समन्वय है। इस पद का समवेत रग निरभ्र आकाश के समान हल्का नीला है।

नीला रंग शांति-प्रदायक है। इससे साधक में क्षमाशीलता और तितिक्षा भाव का विकास होता है, वह क्रोधविजयी बनता है।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस पद में एक भी अग्नि तत्त्व का वर्ण नही है। इसीलिए यह पद साधक के लिए शीतलता-प्रदायक है और उसमें समताभाव का विकास करने वाला है।

पाँचवा पद है—**णमो लोए सव्वसाहूण**।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद में १८ वर्ण, ९ अक्षर, ९ स्वर, ९ व्यंजन, अनुनासिक व्यंजन ३ और अनुनासिक स्वर १ है।

तत्त्वो की दृष्टि से 'णमो' 'हू' और 'ण' आकाश तत्त्व है, 'लो' पृथ्वी तत्त्व है, 'ए' वायु तत्त्व है, और 'स', 'व्व', 'सा' जल तत्त्व है। यानी इस पद में पृथ्वी, वायु, जल और आकाश—ये चारों तत्त्व हैं। इनमें भी आकाश तत्त्व के चार अक्षर है, अतः इस पद में आकाश तत्त्व अधिक है; और क्योंकि आकाश तत्त्व का रंग गहरा नीला या काला माना गया है अतः इस पद का रंग भी काला है; किन्तु पृथ्वी और जल तत्त्व की विशेष अवस्थिति होने के कारण यह काला वर्ण अजन के समान काला न होकर कस्तूरी के समान चमकदार काला रंग होता है। इस पद की साधना करने वाला साधक इस पद को कस्तूरी जैसे काले चमकदार रंग से रगा हुआ मानकर साधना करता है।

साधना की विधि

साधना के लिए सर्वप्रथम द्रव्य-शुद्धि, काल-शुद्धि और भाव-शुद्धि करके किसी भी आसन; यथा—पद्मासन, कायोत्सर्गासन आदि से अवस्थित हो जाइये। आसन अपनी शक्ति और शारीरिक क्षमता के अनुसार ऐसा ग्रहण करें, जिसमें सुखपूर्वक अधिक समय तक अपने शरीर को स्थिर रख सकें; क्योंकि शारीरिक स्थिरता पर ही मानसिक स्थिरता निर्भर करती है।

इतनी तैयारी करने के बाद अब नवकार मन्त्र की साधना प्रारम्भ करिए।

णमो अरिहंताण

ध्यान का स्थान—ज्ञान केन्द्र (आज्ञाचक्र—ललाट—भ्रूमध्य) अपने मन को ज्ञान केन्द्र पर एकाग्र करिए। साथ ही श्वेत वर्ण हो।

इस पद की साधना के चार सोपान है—(१) अक्षर ध्यान, (२) पद ध्यान, (३) पद के अर्थ का ध्यान और (४) अर्हत स्वरूप का ध्यान।

प्रथम सोपान—इसमे इस प्रथम पद 'णमो अरिहंताण' के एक-एक अक्षर का ध्यान किया जाता है।

नासाग्र दृष्टि रखकर अथवा पलक वन्द करके सर्वप्रथम 'ण' अक्षर का ध्यान करें। ऐसा महसूस हो जैसे अनन्त आकाश मे श्वेत वर्ण का—स्फटिक के समान श्वेत वर्ण का 'ण' अक्षर उभर रहा है। वह अक्षर लगभग १ मीटर (तीन फीट) लम्बा है। वहुत ही चमकदार है। उसमे से श्वेत रग की प्रकाश किरणे निकल रही है। उसकी ज्योति चारो ओर विकीर्ण हो रही है। उससे समूचा आकाश ही सफेद रग का हो गया है।

इसके उपरान्त उस अक्षर के आकार को घटाते जायँ, कम करते जायँ और बिन्दु के समान अति सूक्ष्म कर ले, किन्तु ज्यो-ज्यो अक्षर का आकार घटे उसका चमक बढ़ती जाना चाहिए।

इसी प्रकार इस पद के शेष अक्षरो 'मो' 'अ' 'रि' 'ह' 'ता' 'ण' को कल्पना से लिख और उनका ध्यान करें।

द्वितीय सोपान—अब सम्पूर्ण 'णमो अरिहताण' पद का ध्यान करे। इस पूरे पद को साक्षात अनन्त आकाश मे लिखा देखें। पहले इसके स्थूल रूप, अर्थात् बड़े-बड़े अक्षरो का ध्यान करें, फिर समूचे पद का आकार घटाते जायँ किन्तु चमक बढ़ाते जायँ और इसे बिन्दु तक ले आवें। फिर आकार बढ़ावें और समस्त आकाश मे व्याप्त कर दे, तदुपरान्त आकार घटाते हुए बिन्दु तक ले आवें। इस घटाने-बढाने के क्रम मे चमक बढ़ती रहनी चाहिए और सम्पूर्ण आकाश स्फटिक के समान श्वेत रहना चाहिए।

इस प्रकार इस पूरे पद का बार-बार ध्यान करें और अभ्यास इतना दृढ़ कर लें कि जब भी आप इच्छा करें और पलके बन्द करें तो यह पूरा पद आपको श्वेत वर्णी दिखाई देने लगे।

तृतीय सोपान—इस पद को श्वेत वर्ण से लिखा हुआ देखने के साथ-साथ इस पद के अर्थ का चिन्तन करें। इस पद का अथ है—अरिहतो को नमस्कार। अरिहत अनन्त चतुष्टय के धनी होते है। अनन्त चतुष्टय हैं—अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। अरिहत—अठारह दोषो से रहित होते है, हित-मित-प्रिय वचन वोलते हैं, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं, आदि-आदि....। अरिहतो के गुणो का चिन्तवन करें।

लेकिन चिन्तवन में ऐसा न हो कि इस पद को जो आप श्वेत रंग से लिखा हुआ देख रहे हैं, वह ओझल हो जाय, अथवा मन का एकीकरण ज्ञान केन्द्र से हट जाय। पद का साक्षात् दिखाई देना और पद के अर्थ का ध्यान दोनों साथ-साथ चलते रहे। इसका भी दृढ अभ्यास कर ले।

चौथा सोपान—अब अरिहंत के स्वरूप का ध्यान करें। स्फटिक के समान श्वेतवर्णी, निर्मल अरिहृत की पुरुषाकृति का ध्यान ज्ञान केन्द्र में करें। उसके आकार को बढ़ाते हुए अपने सम्पूर्ण शरीर के आकार का बना लें और फिर घटाते हुए ज्ञानकेन्द्र मे अति सूक्ष्म बना ले। किन्तु उस पुरुषाकृति की चमक, ज्योति बढती रहनी चाहिए। इस प्रकार बार-बार करके अभ्यास इतना दृढ करलें कि पलक बन्द करते ही अरिहत की आकृति प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे।

श्वेत रंग, ज्ञान केन्द्र और 'णमो अरिहताणं' पद से चेतना का जागरण होता है, ज्ञानशक्ति जागृत होती है, मानसिक एव शारीरिक स्वस्थता प्राप्त होती है तथा शुद्ध, शुभ और सात्विक भाव जागते है।

यह 'णमो अरिहंताणं' पद की साधना है।

णमो सिद्धाणं

अब 'णमो सिद्धाणं' पद की साधना करें। इसके भी चार सोपान हैं—(१) अक्षर ध्यान (२) पद ध्यान (३) पद के अर्थ का ध्यान (४) सिद्ध स्वरूप का ध्यान।

'णमो सिद्धाणं' पद के ध्यान का स्थान दर्शन केन्द्र (सहस्रार—मस्तिष्क—ब्रह्मरन्ध्र) है; अर्थात् चित्तवृत्ति को दर्शन केन्द्र पर एकाग्र करिए। इस पद का वर्ण बालसूर्य जैसा लाल (अरुण) है। अतः इस पद की साधना लाल रंग में की जाती है।

प्रथम सोपान—इसमें भी एक-एक अक्षर की साधना की जाती है, एक-एक अक्षर को प्रत्यक्ष किया जाता है।

बाल सूर्य के अरुण रंग के 'ण' 'मो' 'सि' 'द्धा' 'णं' का अलग-अलग क्रमशः ध्यान साधक करता है।

द्वितीय सोपान में अरुण रंग में लिखे हुए सपूर्ण पद 'णमो सिद्धाण' का ध्यान किया जाता है।

तीसरे सोपान में इस पद के अर्थ का चिन्तन किया जाता है, सिद्धों के गुणों पर विचार किया जाता है। जैसे—सिद्ध भगवान अविनाशी हैं,

अविकार है, अनन्त सुख में लीन हैं, अरुज हैं, अपुनर्जन्मा हैं, शाश्वत है आदि-आदि ।

चौथे सोपान में साधक सिद्ध के स्वरूप का ध्यान करता है। अपने दर्शन केन्द्र और फिर सम्पूर्ण शरीर से बाल सूर्य के समान निर्मल ज्योति के प्रस्फुटन और विकीर्णन को साक्षात देखता है, ज्ञान नेत्रो से देखता-जानता है और अनुभव करता है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में साधक लाल रंगमयी सम्पूर्ण सृष्टि को देखता है। लाल रग प्रमाद और आलस्य को कम करता है, अतः साधक मे उल्लास और उत्साह जागता है, जडता का नाश होकर स्फूर्ति आती है।

लाल वर्ण, दर्शन केन्द्र और 'णमो सिद्धाण' पद—इन तीनों का संयोग आन्तरिक दृष्टि को जागृत एवं विकसित करने का अनुपम साधन है। अक्षरो को दीर्घ और सूक्ष्म करने से यह आन्तरिक दृष्टि और भी तीव्रता से विकसित होती है ।

यह 'णमो सिद्धाण' पद की साधना है।

णमो आयरियाणं

इस पद का ध्यान विशुद्धि केन्द्र (कण्ठस्थान) पर मन को एकाग्र करके किया जाता है। इस पद की साधना दीप शिखा के समान पीत वर्ण (पीले रंग) मे की जाती है ।

इसकी साधना भी चार सोपानो मे की जाती है।

प्रथम सोपान मे साधक पीत वर्णमयी 'ण' अक्षर का ध्यान करता है। उस समय वह प्रत्यक्ष देखता है कि इस अक्षर की पीत प्रभा से सम्पूर्ण ससार सोने के समान पीला हो गया है ।

उसके बाद 'मो' 'आ' 'य' 'रि' 'या' 'ण' इन सभी वर्णों का क्रमशः पीत रग मे ध्यान करता है ।

अक्षरो को सूक्ष्म और विशाल करने का क्रम यहां भी चलता है।

दूसरे सोपान मे साधक इसी प्रकार सम्पूर्ण पद 'णमो आयरियाण' का पीत रग मे ध्यान करता है। पूरे पद को विशाल और सूक्ष्म बनाकर अपने ध्यान को दृढ करता है।

तीसरे सोपान मे 'णमो आयरियाणं' पद मे अर्थ का चिन्तन करें। आचार्यदेव के गुणो का चिन्तवन करें।

चौथे सोपान में आचार्य के स्वरूप का ध्यान करें। स्व-पर-प्रकाशक दीपशिखा के समान पीत वर्ण की साधना करे, देखें और अपने शरीर के कण-कण और अणु-अणु से निकलती पीले रग की प्रभा को देखें।

योगशास्त्रो में विशुद्धि केन्द्र का काफी महत्व है। इसका स्थान कठ है। यह प्राणी के आवेगों-सवेगो को नियन्त्रित करता है। वैज्ञानिक यहाँ थाइराडड ग्रथि मानते हैं और उसे आवेगो का नियामक स्वीकार करते है।

पीला रग ज्ञान वृद्धि में सहायक होता है, ज्ञान तंतुओ को बलशाली बनाता है।

विशुद्धि केन्द्र, पीले रंग और 'णमो आयरियाणं' पद—इन तीनो के संयोजित ध्यान-साधना से साधक के आवेग-संवेगो का नाश होता है, उसकी चित्तवृत्तियाँ उपशांत होती हैं।

यह नवकार मंत्र के तीसरे पद 'णमो आयरियाण' की साधना है।

णमो उवज्झायाणं

इस पद का ध्यान आनन्द केन्द्र (हृदय कमल) में मन को एकाग्र करके किया जाता है तथा इस पद का वर्ण निरभ्र आकाश जैसा नील वर्ण है।

इस पद की साधना के भी चार सोपान हैं। प्रथम सोपान में साधक अक्षरों का ध्यान करता है। दूसरे सोपान में पूरे पद का ध्यान करता है। तीसरे सोपान में इस पद के अर्थ का तथा उपाध्यायजी के गुणो का चिन्तन साधक करता है। चौथे पद मे वह उपाध्यायजी के स्वरूप का ध्यान करता है।

यह संपूर्ण ध्यान साधक निरभ्र आकाश के समान नीले रंग में करता है।

नीला रंग शांति-प्रदायक है, तथा कषायो और उनके आवेग को शांत करता है। जैसे—क्रोध के आवेग के समय यदि साधक नीले रंग का ध्यान करे तो कोध उपशांत हो जायेगा। यह रंग आत्मसाक्षात्कार में भी सहायक तथा समाधि और चित्त की एकाग्रता मे निमित्त बनता है।

आनंद केन्द्र, नीले रग और 'णमो उवज्झायाण' पद—इन तीनो के सयोग से साधक की हृदयगत कषायधारा उपशांत होती है, उसकी चित्तवृत्ति एकाग्र होती है तथा समाधि मे साधक अवस्थित होता है।

यह नवकार मत्र के चौथे पद 'णमो उवज्झायाण' की साधना है।

णमो लोए सव्वसाहूणं

इस पद की साधना शक्ति केन्द्र (मणिपूर चक्र—नाभि कमल—नाभि-स्थान) में चित्त की वृत्ति को एकाग्र करके की जाती है, तथा इस पद का वर्ण श्याम (काला) है—कस्तूरी जैसा चमकदार काला।

इस पद का ध्यान भी चार सोपानो में किया जाता है।

सम्पूर्ण साधना विधि उपर्युक्त जैसी ही है। विशेष यह है कि इस पद का ध्यान श्याम वर्ण में किया जाता है।

यद्यपि साधारणतया लोक प्रचलित मान्यता के अनुसार श्याम वर्ण अप्रशस्त है; किन्तु योग मे श्याम वर्ण का अत्यधिक महत्त्व है। चमकदार काला रग अवशोषक होता है, वह अन्दर की ऊर्जा को बाहर नही जाने देता है और बाहर के कुप्रभाव को अन्दर नही आने देता। काले रग की साधना से साधक एक प्रकार से *outer proof* हो जाता है।

शक्ति केन्द्र, श्याम वर्ण और 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के संयोग से साधक कष्ट-सहिष्णु, उपसर्ग-परीषह को समभाव से सहन करने में सक्षम हो जाता है। बाह्य निमित्तो से अप्रभावित रहने के कारण वह इन्द्रिय और मनोविजेता बन जाता है। मनोविजय से उसकी प्राणधारा शुद्ध होती है और वह प्राणधारा शक्ति केन्द्र को बलशाली बनाती है, उसकी शक्ति और चेतना ऊर्ध्व गति की ओर सचरण करने लगती है, चेतनाधारा का ऊर्ध्वा-रोहण होता है।

यह नवकार मन्त्र के पाँचवें और अन्तिम पद 'णमो लोए सव्वसाहूणं' की साधना है।

विशेष—इन पाँचो पदो की साधना से कुछ विशिष्ट लाभो की प्राप्ति भी साधक को होती है।

'णमो अरिहंताण' पद की साधना से साधक का आवरण (ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आवरण) और अन्तराय कर्म का क्षय होता है, उसकी ध्वस शक्ति—बुराइयो को विनाश करने की शक्ति प्रचण्ड बनती है तथा उसकी दिव्य श्रवण शक्ति का विकास होता है।

'णमो सिद्धाणं' पद की साधना से शाश्वत सुख की अनुभूति होती है, कार्य साधिका शक्ति प्रखर होती है, ज्ञान शक्ति का विकास होता है, दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।

'णमो आयरियाणं' पद की साधना से साधक की बौद्धिक शक्तियाँ और क्षमताएँ विकसित होती हैं, प्रातिभ और अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है। शरीर से दिव्य सुगन्धि प्रसरित होती है। आचार शुद्धि एवं अनुशासन शक्ति विकसित होती है।

'णमो उवज्झायाण' पद की साधना से साधक को मानसिक शान्ति की उपलब्धि होती है, स्मरण शक्ति प्रखर एव धारणा शक्ति सुदृढ होती है। विकट समस्याओ का भी अनायास समाधान हो जाता है, अमृत के समान अनुपम रस की अनुभूति होती रहती है।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद की साधना से साधक की काम वासना, विषय भोगो और काम-भोगो की इच्छा समाप्त हो जाती है, उसके लिए बाह्य कर्कश एवं कठोर स्पर्श भी दुःखदायी नही रहते, दुःखद अनुभूतियाँ सुखद हो जाती है।

एक और विधि साधना की

नवकार मंत्र के पाँचों पदो की साधना की साधक के लिए एक और सरल विधि है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-शुद्धि करके साधक किसी भी आसन में अवस्थित होकर ध्यान करना शुरू करे।

चिन्तन करे कि वह एक पर्वत शिखर पर बैठा है। पर्वत तथा संपूर्ण सृष्टि और यहाँ तक कि स्वयं को भी स्फटिक के समान श्वेत रंग का देखे, चिन्तन करे। ऐसा ध्यान करे कि रात्रि का चौथा प्रहर है। उसके शुभ्रचिन्तन से संपूर्ण दिशा-विदिशाएँ श्वेत हो गई है तथा शुभ्र चन्द्र की शुभ्र ज्योत्स्ना से संपूर्ण अग-जग नहा रहा है। अत्यन्त चमकीला, किरणें बिखेरता हुआ कोटि चन्द्रो की प्रभा से भी अधिक प्रभावान 'णमो अरिहंताण' पद आकाश मे उभर रहा है और अधिकाधिक चमकीला होता जा रहा है।

इस प्रकार 'णमो अरिहंताणं' पद की साधना करे।

फिर ऐसा चिन्तन करे कि प्रातःकालीन सूर्य (बाल सूर्य) का उदय हो रहा है, जिससे सम्पूर्ण दिशा-विदिशायें लाल हो गई हैं। कोटि सूर्यों की प्रभा को भी लज्जित करता हुआ, अरुण वर्ण की रश्मियाँ बिखेरता हुआ 'णमो सिद्धाणं' पद उभर आया है। उसने साधक को भी अरुण कर दिया है।

इस अरुण वर्ण के 'णमो सिद्धाणं' पद को साधक उसमें तल्लीन बना देखता रहे, तन्मय हो जाय।

तदुपरान्त ऐसा चिन्तन करे कि दोपहर की धूप—पीले रंग की सूर्य रश्मियाँ फैली हुई हैं। सम्पूर्ण जगत सुनहरी (स्वर्ण के समान पीले रंग वाला) हो गया है। उसमे से अत्यधिक स्फुरायमान—कोटि-कोटि स्वर्ण-रश्मियाँ किरणे बिखेरता हुआ '*णमो आयरियाण*' पद उभर आया है।

साधक इस पद के दर्शन में (देखने मे) तल्लीन हो जाय।

फिर यह विचारे कि आसमान विल्कुल ही साफ है, न वहाँ सूर्य का प्रकाश है और न चन्द्र का ही प्रकाश। आसमान अपने सहज-स्वाभाविक रूप मे है, उसका वर्ण हल्का नीला है। उसमे से अत्यधिक चमकीला '*णमो उवज्झायाण*' पद उभर आया है। उसकी किरणें बहुत ही सौम्य और शीतलतादायक है। साधक का अपना तन-मन और चेतना— सभी कुछ अनुपम शीतलता का अनुभव करने लगें। इस प्रकार शीतलता का अनुभव करता हुआ साधक इस पद के ध्यान मे तन्मय और तल्लीन हो जाय।

इसके बाद साधक चिन्तन करे कि अत्यधिक चमकीला 'णमो लोए सव्वसाहूण' पद उभर रहा है। उसकी चमक बढती ही जा रही है और उसके प्रभाव से सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ श्यामवर्णी हो गई हैं। साधक के स्वय के शरीर के चारों ओर काले रग का एक अभेद्य कवच निर्मित हो गया है और वह स्वय उस पद के ध्यान मे तल्लीन है।

इस प्रकार की साधना से साधक की चेतना का ऊर्ध्वारोहण और आत्मिक विकास तीव्र गति से होता है।

'नवपद' की साधना

नव पद मे नौ पद होते है, जिनमे से पाँच पद तो नवकार मंत्र के ही हैं। शेष चार पद है—(१) **नमो नाणस्स**, (२) **नमो दसणस्स**, (३) **नमो चरित्तस्स**, (४) **नमो तवस्स**।

किन्ही आचार्यों ने ४ पद ये माने हैं—(१) **एसो पच णमोक्कारो**, (२) ***सव्व पावप्पणासणो***, (३) ***मंगलाणं च सव्वेसि*** (४) ***पढमं हवइ मगलं***।

इन नमो नाणस्स, नमो दसणस्स, नमो चरित्तस्स, नमो तवस्स पदो की साधना का क्रम वही है, जो नवकार मंत्र के पांच पदो का है। इनमे से प्रत्येक पद का ध्यान भी चार सोपानो मे किया जाता है। विशेषता इतनी है कि इन चारो पदो का ध्यान श्वेत वर्ण मे किया जाता है।
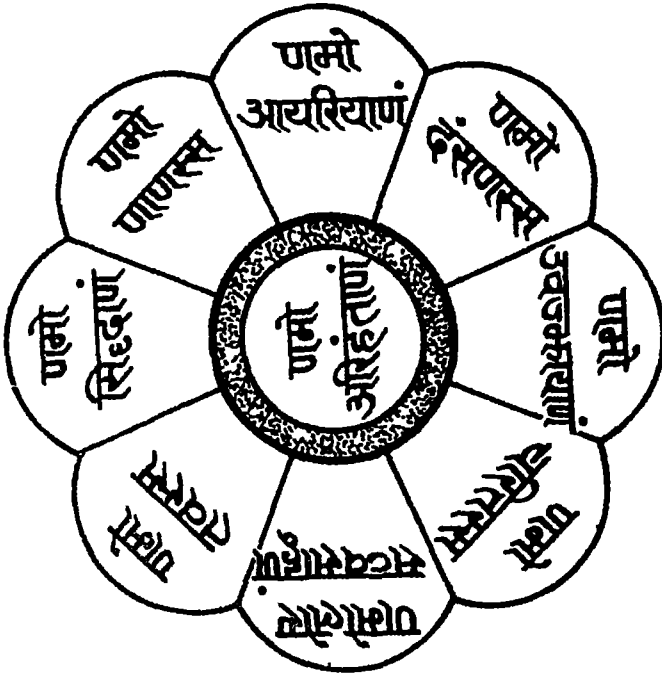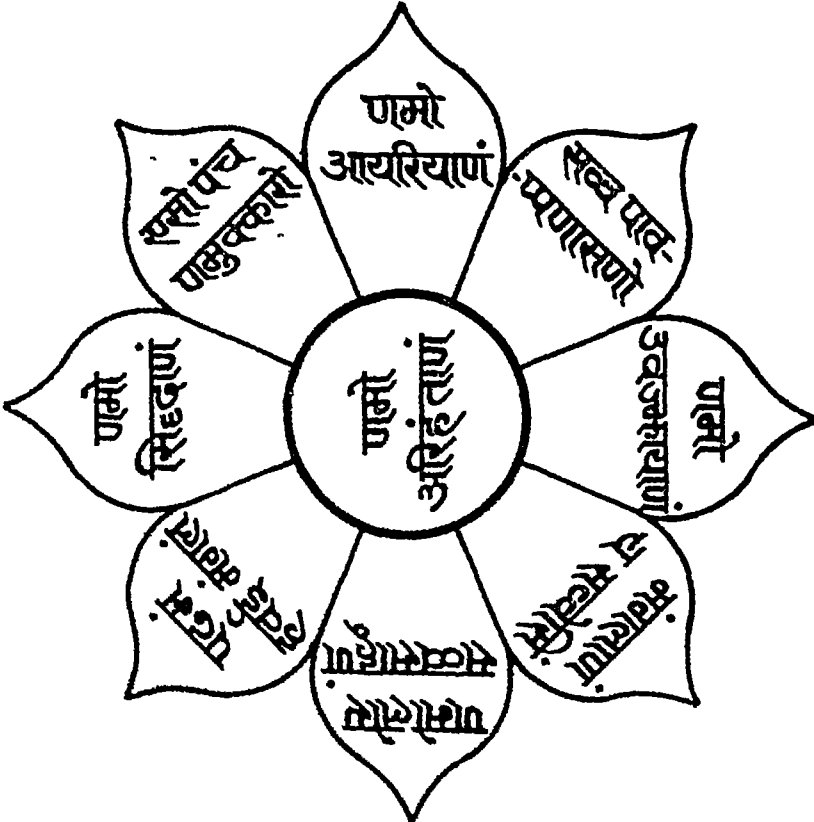
अष्टदल कमल में नवपद

सिद्धचक्र

नवकार मत्र के पाँच पद और ये चार पद मिलकर नवपद कहलाते है तथा इन्ही को सिद्धचक्र कहा जाता है।

साधक जब तक इन सभी (नौ) पदो का अलग-अलग ध्यान एव जप करता है तब तक वह नवपद का ध्यान-जप-साधना कहलाती है और जब अष्टदल कमल (हृदय-कमल आदि) के रूप मे जाप करता है, ध्यान और साधना करता है, तब वह सिद्धचक्र का ध्यान-साधना कहलाती है।
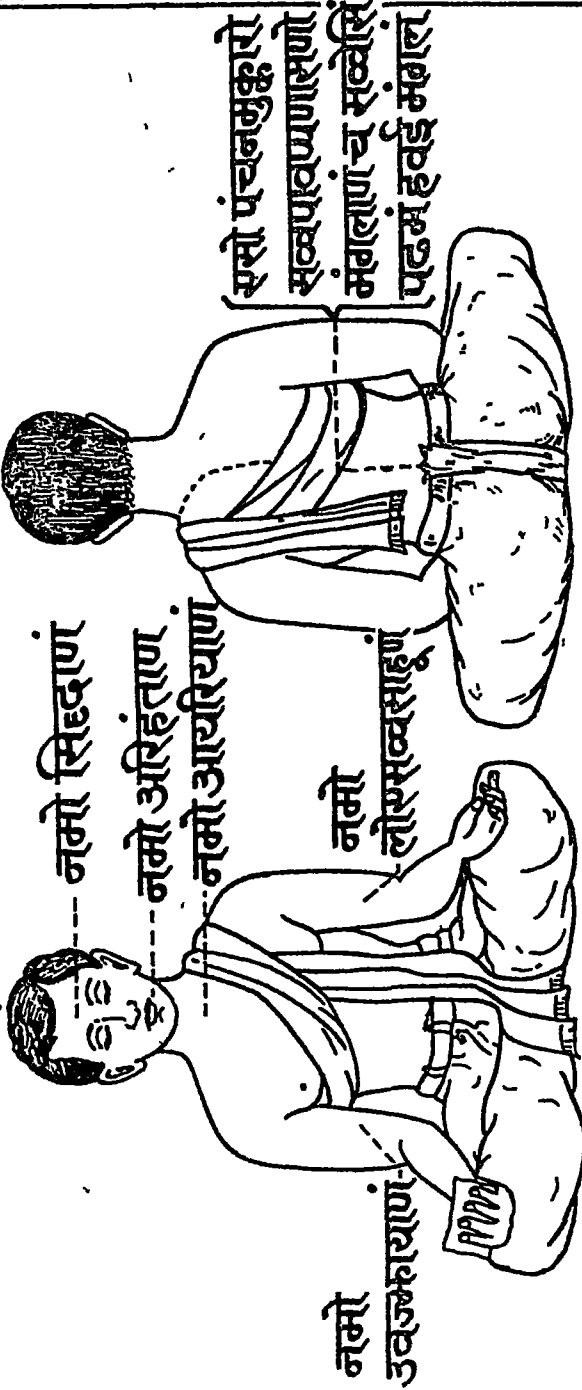
त्रितयभेदना अभेद माटे ध्यान
नमो सिद्धाणं
नमो अरिहंताण
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोएसव्वसाहूणं
एसो पंचनमुक्कारो
सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं
पढमं हवई मंगलं

अन्तर् आत्मा में सिद्धचक्र ध्यान-साधना

सिद्धचक्र की ध्यान-साधना के, आसनो की अपेक्षा, दो भेद है। जब साधक अपनी अन्तर् आत्मा में ही सिद्धचक्र का ध्यान एव साधना करता है तो वह दो आसनों से अवस्थित होकर करता है—(१) कायोत्सर्गासन और (२) पद्मासन।

कायोत्सर्गासन में अवस्थित साधक 'नमो अरिहताण' पद को चरण युगल में स्थापित करता है, 'नमो सिद्धाणं' को ललाट में, 'नमो आयरियाण' को नासिकाग्र में, 'नमो उवज्झायाणं' को दायी आँख में, 'नमो लोए सव्व साहूण' को बायी आँख मे, 'नमो दंसणस्स' को कण्ठ (विशुद्धि चक्र) में, 'नमो नाणस्स' को हृदय कमल मे, 'नमो चरित्तस्स' को उदर कमल में, और 'नमो तवस्स' को नाभि कमल में।

इस प्रकार इन नवपदो को स्थापित करने के बाद साधक अपनी चेतना की धारा को चरण युगलो से ऊर्ध्वगामी बनाकर सीधा ललाट पर, फिर नासिकाग्र पर, तब दायी आँख पर, बायी आँख पर, कण्ठ मे, हृदय कमल, उदर कमल और अन्त मे नाभि कमल पर पहुँचाता है तथा इस प्रकार क्रमशः नवपदो की साधना करता है।

इस साधना से साधक की पूरी चेतना धारा (चरणों से लेकर ललाट —कपाल तक) सम्पूर्ण शरीर मे जागृत हो जाती है।

पद्मासन मे अवस्थित साधक 'णमो अरिहताण' पद को मुख पर स्थापित करता है, 'णमो सिद्धाण' को ललाट में, 'णमो आयरियाण' को कण्ठ मे, 'णमो उवज्झायाण' को दायें हाथ मे, 'णमो लोए सव्वसाहूण' को बाँए हाथ मे तथा 'एसो पच नमुक्कारो', 'सव्व पावप्पणासणो', 'मगलाण च सव्वेसिं' और 'पढमं हवइ मगल' ये चारो पद क्रमशः सुषुम्ना मे स्थापित करता है। अथवा 'नमो दंसणस्स', 'नमो नाणस्स', 'नमो चरित्तस्स' और 'नमो तवस्स' इन चारो पदो को क्रमशः सुषुम्ना मे स्थापित करता है।

साधना क्रम वही है, अर्थात् साधक अपनी प्राणधारा को 'णमो अरिहताण' से प्रारम्भ करके 'पढम हवइ मगल' अथवा 'नमो तवस्स' पर समाप्त करता है तथा इस प्रकार अपने अन्तरआत्मा मे प्राणधारा का चक्र ही निर्मित कर लेता है। यह चक्राकार घूमती हुई प्राणधारा कुण्डलिनी शक्ति को शीघ्र ही जागृत कर देती है और साधक ऊर्ध्वरेता बन जाता है।

हृदय कमल पर ध्यान—कुछ साधक नवपद की साधना हृदय कमल पर भी करते हैं।

इसके लिए साधक अपने हृदय कमल पर अष्टदल कमल की रचना करता है। उसकी कर्णिका पर 'णमो अरिहंताण' पद लिखता है, इसके ऊपर उत्तर दिशा मे 'णमो सिद्धाणं' दाये हाथ के पूर्व दिशा में कमल-पत्र पर 'णमो आयरियाणं','णमो अरिहंताण' के ठीक नीचे दक्षिण दिशा में 'णमो उवज्झायाण', और बाएँ हाथ की ओर पश्चिम दिशा में 'णमो लोए सव्वसाहूणं' तथा शेष चार विदिशाओ में क्रमशः 'नमो णाणस्स', 'नमो दसणस्स', 'नमो चरित्तस्स' और 'नमो तवस्स'—ये चारो पद स्थापित करता है।

वह 'नमो अरिहंताणं' से शुरू करके 'नमो तवस्स' पर अपनी प्राण-धारा को समाप्त करता है, अर्थात् उसकी प्राणधारा हृदय कमल पर ही चक्राकार घूमती है। इससे हृदय चक्र जागृत हो जाता है, कषायो को उप-शान्ति हो जाती है और साधक को आन्तरिक प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

चक्रो पर नवपद का ध्यान—इसमे साधक अपने आज्ञा चक्र पर 'णमो अरिहंताणं' पद को स्थापित करता है, सहस्रार चक्र मे 'णमो सिद्धाणं' पद को, दायी कनपटी पर 'णमो आयरियाणं', विशुद्धि चक्र पर 'णमो उवज्झा-याणं', बायी कनपटी पर 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद को तथा दायी आँख पर 'नमो दंसणस्स', चिबुक के दायी ओर 'नमो नाणस्स', बायी ओर 'नमो चरित्तस्स' और बायी आँख पर 'नमो तवस्स' को स्थापित करता है।

फिर 'णमो अरिहताणं' से प्राणधारा को शुरू करके 'नमो तवस्स' पर समाप्त करता है। इस प्रकार बार-बार ध्यान करने से साधक के विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार तीनो चक्र जागृत हो जाते है। उसकी वासनाओ का क्षय होता है, कषायो के आवेग उपशान्त हो जाते है, अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, भूत भविष्य और वर्तमान उसके सामने प्रत्यक्ष हो जाते है, आत्म-ज्योति के दर्शन होते है और साधक को आत्म-साक्षात्कार के साथ-साथ आत्मानुभूतिरूप अनिवर्चनीय आत्मिक सुख की उपलब्धि होती है।

ॐ की साधना

भारतीय संस्कृति में 'ॐ' का विशिष्ट स्थान है। सभी मोक्षवादी पर-म्पराएँ इसका महत्त्व स्वीकार करती है। वैदिक परम्परा का तो यह प्राण

ही है। प्रत्येक मन्त्र में इसका होना अनिवार्य-सा है। वैदिक ऋषि तो ब्रह्म को भी ॐकार मय मानते है। उनके विचारानुसार ॐ शब्दब्रह्म है। सारी सृष्टि तो ॐमय है ही। ॐ की शक्ति से सम्पूर्ण ससार—सूर्य, चन्द्र, तारा, जल, वायु आदि सभी शक्तियाँ परिचालित हो रही है।

ॐ का पर्यायवाची प्रणव है। 'प्रणव' का अभिप्राय प्राण देने वाला होता है। योगशास्त्रो के अनुसार ॐ मनुष्य की प्राणशक्ति को प्रज्वलित करने वाला है। अत' वैज्ञानिक युग मे जितना भौतिक ऊर्जा का मूल्य है उससे भी अधिक मूल्य मानव की आन्तरिक विकास की ऊर्जा मे ॐ का हैं।

वैदिक परम्परा के अनुसार ॐ शब्द 'अ', 'उ', 'म्' इन तीन अक्षरो के संयोग से निष्पन्न हुआ है। वहाँ 'अ' (ब्रह्मा), उ (विष्णु), म् (महेश—शिव)—ये तीनो शक्तियाँ इससे जुड़ी हुई हैं।

जैनाचार्यों ने ॐ को पच परमेष्ठी का वाचक माना है—

अरिहता-असरीरा-आयरिय-उवज्झाय-मुणिणो ।
पचक्खरनिप्पण्णो ओकारो पच परमिट्ठी ॥

अ (अरिहत)+अ (अशरीरी—सिद्ध),+आ (आचार्य),+उ (उपाध्याय),+म् (मुनि)=अ+अ+आ+उ+म्=ॐ। ॐ शब्द पंच परमेष्ठी के प्रथमाक्षरो की सन्धि करने से निष्पन्न होता है।

ॐ शब्द दूसरे प्रकार से भी निष्पन्न होता है—

आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ,
उड्ढ भाग जाणइ तिरियं भाग जाणइ ॥

जो महापुरुष इहलोक अथवा परलोक में होने वाले समस्त कषायादि को प्रत्यक्षत. अच्छी तरह जानता है, जिसके ज्ञान मे कोई पदार्थ व्यवधानक या बाधक नही बन सकते, जो सासारिक विषयो से उत्पन्न समस्त सुखो को विषतुल्य समझकर शमसुख को प्राप्त कर चुका है, वही आयतचक्षु—दीर्घदर्शी—तीनो लोको को जानने वाला पूर्ण ज्ञानी महापुरुष है।

यहाँ अहोभाग, उड्ढ भाग, तिरिय भाग (मध्य भाग)=अ+उ+म्—इन तीन आद्य अक्षरो को मिलने से भी ॐ शब्द निष्पन्न होता है।

इसी आधार पर जैन आचार्यों ने ॐ की निष्पत्ति इस प्रकार भी की है—अ—ज्ञान, उ—दर्शन, म्—चारित्र का प्रतीक है। अतः अ+उ+म्= ॐ।

ॐ की साधना विभिन्न रंगों के साथ की जाती है। श्वेत वर्णी ॐ की साधना शान्ति, पुष्टि और मोक्ष प्रद है। ज्ञान तन्तुओ को सक्रिय बनाने के लिए पीले रग के ॐ का जप-ध्यान किया जाता है। लाल वर्णी ॐ का जप-ध्यान ऊर्जा वृद्धि करता है। नील वर्णी ॐ की साधना साधक के लिए शान्तिप्रद होती है। श्यामवर्णी ॐ की साधना साधक को कष्टसहिष्णु बनाती है।

ॐ की साधना का महत्त्व इसलिए अधिक है कि यह पच परमेष्ठी का वाचक एकाक्षरी मन्त्र है। इसका जप भी अत्यन्त सरल है। साधक उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी भी स्थिति मे इसका जप कर सकता है। इसका जप श्वासोच्छ्वास के साथ-साथ स्वतः ही होता रहता है। श्वास लेते समय 'ओ' और छोडते समय 'म्' की ध्वनि होती ही रहती है। बस, साधक को इस ओर थोडा उपयोग लगाना ही अपेक्षित है; फिर तो अभ्यास दृढ होने पर ॐ शब्द की दिन भर मे स्वयमेव ही हजारो आवृत्तियाँ[1] हो जाती है।

सोऽहं साधना

'सोऽहं' को भी अजपाजप कहा जाता है। श्वास लेते समय व्यक्ति 'सो' की ध्वनि निकालता है और श्वास छोड़ते समय 'ऽहं' की। इस प्रकार एक श्वासोच्छ्वास मे अनजाने ही व्यक्ति 'सोऽहं' का जाप कर लेता है, आवृत्ति कर लेता है।

'सोऽहं' का शाब्दिक अर्थ है—मैं वही हूँ। इसी अर्थ को प्रगट करने वाले 'तदिद', 'सेय', 'सोऽय' आदि शब्द भी है।

इन सभी शब्दो के विषयी ज्ञान मे तदंश स्मृति और इदमंश तथा अहमंश प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान को दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा कहते है।

यदि इन ज्ञानो के अवस्थादि बोधक तदश (मैं वही) और इदमश (मैं यह) को छोड दिया जाय तो शुद्ध अभिन्न पदार्थ ही ज्ञान का विषय बनता है, कही-कही सदृश पदार्थों का भी ज्ञान होता है।

अतः अवस्थाविशेष से सम्बन्ध न रखने वाले शुद्ध चैतन्य का बोध कराने के लिए 'सोऽहं' गत 'तत्ता' तथा 'अहता' अंशों का त्याग आवश्यक

---

१ एक दिन मे इक्कीस हजार छह सौ (२१,६००) आवृत्तियाँ, क्योकि योगशास्त्र और धर्मशास्त्रो के अनुसार एक स्वस्थ मनुष्य २४ घण्टे में इतने ही श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता और छोडता है। —सम्पादक

है। परन्तु सम्पूर्ण 'सः' तथा 'अहम्' पदो का लोप भी नही किया जा सकता क्योकि ऐसा करने से जीव की उस शुद्ध अवस्था का बोधक कोई शब्द ही नही रह जायगा। अत 'तत्ता' तथा 'अहता' के बोधक अशो का ही त्याग हो सकता है। उस दशा मे 'स' और 'अह' का त्याग करने पर जीव के शुद्ध स्वरूप का बोधक शब्द होता है—ॐ।

साधक भी जब तक भेदस्थिति मे रहता है तभी तक वह 'सोऽह' का जप करता है और ज्योही जप मे तरतमता वनी, साधक की चित्तवृत्ति ध्येय से एकाकार हुई, अभेद स्थिति आई, त्योहो उसके श्वासोच्छ्वास से स्वय ही ॐ की ध्वनि निकलने लगाती है।

अतः सोऽहं का जप 'ॐ' के जप-ध्यान और साधना की प्रारम्भिक अवस्था है। इसकी (सोऽह) साधना भी साधक अपनी इच्छानुकूल रंगो के समन्वय के साथ करता है।

अर्हं की साधना

'अर्हं' जैन धर्म दर्शन का विशिष्ट मन्त्र है। इसका योग एवं आत्मिक उन्नति की साधना में अत्यधिक महत्त्व है। इसका प्राण-शक्ति को जगाने मे बहुत उपयोग है। इस मन्त्र की साधना द्वारा साधक की प्राणशक्ति शीघ्र ही जाग्रत हो जाती है, उसका प्राणिक शरीर (Electric body) शक्तिशाली बनता है और आज्ञाचक्र एवं मूलाधार चक्र जाग्रत हो जाते है। यह कर्म-निर्जरा मे भी सहायक है, अत आत्मिक उन्नति एवं आत्म-शुद्धि भी इस मन्त्र से होती है। इसके अतिरिक्त साधक को मानसिक एवं शारीरिक स्फूर्ति प्राप्त होती है, उसकी मेधा तीव्र होती है, मानसिक स्फुरणा होती है, अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है, चित्त को चचलता समाप्त होकर एकाग्रता आती है।

अतः प्राणिक शक्ति के जागरण और चित्त की एकाग्रता के लिए यह मन्त्र 'सोऽह' और 'ॐ' से भी अधिक प्रभावी है।

जैन धर्म दर्शन और जैन मन्त्र ग्रन्थो मे इसे अरिहंत परमेष्ठी का वाचक बताया गया है और इसकी काफी महिमा गाई गई है।

'अर्हं' का पद विन्यास

'अर्हं' का यदि वर्ण और अक्षरो की अपेक्षा से विन्यास किया जाय तो इसमे 'अ, र्, ह, म्' ये चार वर्ण हैं। इनमे 'अ' वायु तत्त्व, 'र्' अग्नि तत्त्व, 'ह'

आकाश और अनुस्वार आकाश तत्त्व है। इस प्रकार इसमे अग्नि, आकाश और वायु तीनो तत्त्व है। अग्नि तत्त्व कर्म-निर्जरा में सहायक है तथा प्राण-शक्ति और प्राण-शरीर को शक्तिशाली बनाता है, वायु तत्व साधक के मनः कोषो को सबल और सक्षम बनाकर मेधाशक्ति को बढाता है, तथा आकाश तत्व साधक मे अनेक सद्गुण, कष्टसहिष्णुता, समभाव तथा तितिक्षा भाव की वृद्धि करता है एव बाह्य अवगुणो तथा सन्तापी तरंगो को उसके आभा-मण्डल एव तैजस् शरीर मे प्रविष्ट नही होने देता।

अर्हं की साधना विधि

अर्हं की साधना साधक कई रूपो मे करता है। सर्वप्रथम वह इसे नाभिकमल मे स्थापित करके इसकी साधना तेजोबीज के रूप में करता है। 'अर्ह' की रेफ को वह रक्तवर्णमय, अग्नि के रूप में देखता है और रेफ के ऊर्ध्व भाग से वह अग्नि की चिनगारियाँ निकलते देखता है तथा फिर अग्नि लपटों से कर्म और नोकर्मों को भस्म होते हुए देखता है।

इस रूप मे 'अर्ह' कर्म-निर्जरा में सहायक बनाता है।

दूसरी प्रकार की साधना विधि में वह 'अर्हं' पद का ध्यान करता है। आत्म-शुद्धि हेतु वह इसका ध्यान श्वेत वर्ण में चक्षु ललाट मे (आज्ञाचक्र में) करता है।

आज्ञाचक्र और मणिपूर चक्र (ज्ञान केन्द्र और शक्ति केन्द्र) का सीधा सम्बन्ध है। साधक 'अर्ह' को शक्ति केन्द्र से उठता हुआ तथा ज्ञान केन्द्र पर पहुँचता हुआ देखता है। प्राण (श्वास) द्वारा चढता हुआ और उश्वास (निश्वास) द्वारा ज्ञान केन्द्र से शक्ति केन्द्र पर आता हुआ देखता है। इस प्रकार साधक एक श्वासोच्छ्वास में 'अर्ह' पद का शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र तक तथा ज्ञान केन्द्र से शक्ति केन्द्र तक का एक चक्कर पूरा कर लेता है। इस प्रकार के असंख्य चक्र साधक करता है, अपनी प्राणधारा को प्रवाहित करता है।

योग की अपेक्षा से शक्ति केन्द्र (नाभिकमल) अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यही से शक्ति का जागरण होता है, और वह ऊर्ध्वगामिनी बनती है। शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र में प्राणधारा के प्रवाहित होते समय मध्यवर्ती आनन्द केन्द्र, विशुद्धि केन्द्र भी स्वयमेव जाग्रत हो जाते है; शक्ति केन्द्र और ज्ञान केन्द्र तो जाग्रत होते ही है।

ज्ञान केन्द्र (आज्ञा चक्र) पर साधक 'अर्हं' को स्फुरायमान होता हुआ

देखता है। कभी उसे चंचल और कभी स्थिर करता है। कभी 'अर्हं' पद को आकाशव्यापी देखता है तो कभी उसे अणु के समान अति सूक्ष्म रूप मे ध्यान का विषय बनाता है। अणुरूप अर्ह अत्यन्त शक्तिशाली श्वेत किरणों का विकीरणन करता है। इससे साधक का समस्त ललाट और कपाल (मन'चक्र, सोमचक्र और सहस्रार चक्र) प्रकाशित हो जाता है। परिणमत ये तीनो चक्र (समष्टि रूप से एक चक्र—सहस्रार) जाग्रत हो जाते हैं।

'अर्हं' पद के जप-ध्यान से ये सम्पूर्ण सातो (अथवा ६) चक्र शीघ्र ही जाग्रत होते है। इसका कारण यह है कि ध्वनि शास्त्र की दृष्टि से ह्रस्व (अ) और प्लुत (हं) दोनो प्रकार की ध्वनियो का इसमे समायोजन है। 'हं' प्लुत ध्वनि महाप्राण ध्वनि है। अत. साधक जब इसका उच्चारण करता है तो उसे प्राण शक्ति (ॐ अथवा 'सोऽहं' के उच्चारण की अपेक्षा) अधिक लगानी पडती है, दूसरे शब्दो मे, 'अर्हं' के उच्चारण के समय प्राणशक्ति अधिक ऊर्जस्वी होती है।

उपाशु जप करते समय जब साधक अन्तर्जल्प या सूक्ष्म वचनयोग द्वारा इस मन्त्र का जप-ध्यान करता है तो उसकी ध्वनि तरगें—भाषा वर्गणा के सूक्ष्म पुद्‌गल शक्ति केन्द्र (नाभिकमल) से ऊर्ध्वगामी बनकर सीधे आज्ञा चक्र तथा सहस्रार चक्र से टकराते है. सम्पूर्ण मस्तिष्क और उसके ज्ञानवाही तन्तु झनझना उठते है। भाषा वर्गणा को सूक्ष्म ध्वनि तरगें विद्युत तरगो मे परिवर्तित हो जातो है। परिणामस्वरूप साधक का सम्पूर्ण तैजस् शरीर उत्तेजित हो जाता है—तीव्र गति से परिस्पन्दन करने लगता है। इसका प्रभाव कार्मण शरीर पर भी पडता है, उसके प्रकम्पनो की गति भी बढ जातो है। भगवान महावोर ने जो कहा है कि साधक अपने शरीर को धुने (धुणे सरीर) वह स्थिति आ जाती है। परिणाम यह होता है कि तैजस् शरीर स्थित सभी चक्र जागृत—अनुप्राणित हो जाते है और सबसे बडी बात यह है कि कर्म निर्जरा अति तीव्र गति से होती है, फलत. आत्म-शुद्धि होती है तथा ज्ञान एव शरीर सम्बन्धी अनेक विशिष्ट लब्धियो की प्राप्ति होती है।

साधक को 'अर्हं' पद के जप-ध्यान से अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त होते है। उनमे से कुछ ये है—

(१) उसकी मस्तिष्कीय शक्तियाँ अति प्रबल हो जाती है।

(२) आधुनिक विज्ञान के अनुसार आर० एन० ए० रसायन (जो मस्तिष्क की समस्त गतिविधियो को सचालित करता है) उसकी प्राणवत्ता

और सक्रियता बढ जाती है। परिणामस्वरूप साधक के लिए अतीन्द्रिय ज्ञान के मार्ग खुल जाते है, ज्ञान तन्तुओ के सजग और शक्तिशाली बनने से विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है।

(३) साधक की वासना-कामना क्षीण हो जाती है।
(४) कषायो का वेग और उत्तेजना समाप्त हो जाती है।
(५) अनिर्वचनीय सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है।
(६) वचनसिद्धि होती हे।
(७) शरीर मे स्फूर्ति आती है।
(८) प्रमाद का नाश होकर अप्रमत्तता आती है।

इस प्रकार 'अर्हं' की साधना साधक के लिए अति लाभकारी और शक्ति, स्फूर्ति तथा शान्ति देने वाली है। यह ध्यान-साधना कर्म-निर्जरा और आत्म-शुद्धि का प्रबल साधन है। अतः अध्यात्मयोगी साधक के लिए अवश्य करणीय है।

□□

४

जैन योग सिद्धान्त और साधना

❁ परिशिष्ट ❁

१—सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

२—विशिष्ट सूची

३—विशिष्ट व्यक्ति नाम सूची

उपासकाध्ययन
(सोमदेव सूरि)
ऋग्वेद
एसो पच नमोक्कारो
(युवाचार्य महाप्रज्ञ)
कठोपनिपद्
कवीर की विचारधारा
कायोत्सर्ग शनक
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका
किसने कहा मन चचल है ?
(युवाचार्य महाप्रज्ञ)
गुणस्थान क्रमारोह
गुह्य समाज तन्त्र
गोपथ ब्राह्मण
गोम्मटसार—आचार्य नेमिचन्द्र
गौडपादीय कारिका
घेरण्ड सहिता
चारित्रसार
चेतना का ऊर्ध्वारोहण
(मुनि नथमल)
चैनिक योग दीपिका—आई लोहिन
जैन तत्त्वकलिका
(आ आत्मारामजी महाराज)
जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन
(डा० अर्हद्दास दिघे)
जैन योग की परम्परा
(मुनि राकेशकुमार)
जैन योग—मुनि नथमल
जैन मुमुक्षुओ अने विपश्यना
(मुनि अमरेन्द्रविजय जी)
जैन साधना पद्धति मे तपोयोग
(मुनि श्रीचन्द्र)
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास
(पा वि वाराणसी)
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष
(सपादक, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी)
तत्त्वार्थ सूत्र—उमास्वाति
तत्त्वार्थसूत्र भाष्य
तत्त्वार्थसूत्र—श्रुतसागरीयावृत्ति
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
(अकलकदेव)
तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद
तत्ववैशारदी टीका
तिलोयपण्णत्ति
तेजोविन्दु उपनिषद्
तैतिरीय आरण्यक
तैतिरीय उपनिषद्
दर्शन और चिन्तन
दीघनिकाय
धर्मविन्दु—हरिभद्रसूरि
धर्मरत्नाकर
धवला
ध्यानविन्दु उपनिषद्
ध्यानशतक जिनभद्र गणी
ध्यानशतक की वृत्ति—हरिभद्रसूरि
नमस्कार स्वाध्याय
नादविन्दु उपनिषद्
नियमसार—आचार्य कुन्दकुन्द
नीतिवाक्यामृत—सोमदेवसूरि
न्यायदर्शन
पातजल योगसूत्र—मूल
(हिन्दी व्याख्याकार हरिकृष्ण गोयनका)
पातजल योगसूत्र एव व्यास भाष्य
पातजल योगसूत्र की भोजवृत्ति
पातजल योगदर्शन की टिप्पणी
(स्वामी वालकराम)
पातजल योगशास्त्र एक अध्ययन
(महामहोपाध्याय डा ब्रह्ममित्र अवस्थी)
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (अमृतचन्द्र सूरि)

पंच संग्रह
प्रमेयरत्नमाला
प्रवचनसारोद्धार
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
प्रश्नोपनिषद्
बुद्धलीलासार संग्रह
बृहद्नयचक्र
बृहदारण्यक उपनिषद
ब्रह्मजाल सुत्त
ब्रह्मविन्दु उपनिषद्
ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मसूत्रभाष्य
भगवती आराधना
भगवद्‌गीता
भगवान महावीर की साधना का रहस्य
(मुनि नथमल)
भागवत पुराण
भारतीय संस्कृति और साधना, भाग २
भाव चूडामणि
भावनायोग
(आचार्य सम्राट आनन्द ऋषि)
मज्झिमनिकाय
मनुस्मृति
मनोनिग्रह के दो मार्ग
(मुनिश्री धनराजजी 'प्रथम')
मस्तिष्क प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष
(श्रीराम शर्मा आचार्य)
महानिर्वाण तन्त्र
महापुराण
महाभारत
मानव शरीर के मान तत्त्व
मैडम ब्लैवट्स्की
मानवीय मस्तिष्क विलक्षण कम्प्यूटर
(श्रीराम शर्मा आचार्य)
मुक्त्यद्वेषप्राधान्य द्वात्रिंशिका
मुण्डकोपनिषद्
मूलाचार
मूलाराधना
मेरुतन्त्र
मैत्रेयी उपनिषद्
मंजुश्री मूलकल्प
मंत्रराज रहस्य
योग की प्रथम किरण—साध्वी राजीमती
योगतत्त्वोपनिषद्
योगदर्शन
योगदृष्टिसमुच्चय—हरिभद्रसूरि
योगसूत्र—पतंजलि
योगप्रदीप
योगविन्दु—हरिभद्र सूरि
योगभाष्य की भूमिका
(स्वामी बालकराम)
योगभेद द्वात्रिंशिका
योगमाहात्म्य द्वात्रिंशिका
योगलक्षण द्वात्रिंशिका
योगवाशिष्ट
योगविंशिका—हरिभद्रसूरि
योगशतक—हरिभद्रसूरि
योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र
योगसार
योगसार प्राभृत
योगावतार द्वात्रिंशिका
रत्नकरण्डश्रावकाचार—स्वामी समंतभद्र
रहस्यों के घेरे में
रुद्रयामल
वसुनन्दि श्रावकाचार
वायुपुराण
विद्यानुशासन
विंशतिका
विचारसार
विशुद्धिमग्गो

वैशेषिक दर्शन
शाक्योपदेश टीका
शाडिल्योपनिषद्
शातसुधारस—विनयविजयजी
शिवसहिता
श्वेताश्वतर उपनिषद्
श्रावकाचार सग्रह
श्रीचक्रसवर
श्रीमन्न्यायसुधा
श्रीमन्महाभारततत्त्व निर्णय
षट्चक्र निरूपण
षट्खण्डागम
षट् प्राभृत—द्वादशानुप्रेक्षा
षोडशक
सद्धर्म पुण्डरीक
समथयान
समाधिमार्ग
समाधिराज
समाधि शतक—पूज्यपाद
समीचीन धर्मशास्त्र
सागार धर्मामृत—प आशाधर
साधनमाला
सामञ्ञफल सुत्त
सामायिक पाठ
(अमितगति द्वात्रिशिका)
सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
सुखावती व्यूह सूत्र
सन्तमत का सरभग सप्रदाय
सास्यकारिका माठरवृत्ति
साख्यसूत्र
स्कन्द पुराण
हठयोग प्रदीपिका
हेमचन्द्र धातुमाला
ज्ञानसार
ज्ञानार्णव—शुभचन्द्र
ज्ञानेश्वरी (मराठी)
उपाध्याय पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रथ
कर्मयोगी केसरीमल सुराना अभिनदन ग्रन्थ
Modern Review, Aug, 1932
आजकल, मार्च १९६२,
कल्याण, साधनाक
गोस्वामी, प्रथम खण्ड, वर्ष २४, अक २
परमार्थ पथ, अक १ और २
श्रमण, वर्ष १९६५, अक १ और २
तीर्थंकर, णमोकार मन्त्र विशेषाक
प्रथम व द्वितीय अक
आरोग्य, मासिक पत्र
अखण्ड ज्योति, जनवरी ८३ से मई ८३ तक के अक
Gorakhnath and Kanfata yogis
Philosophical Essays
Phoneticigm
—Sunit Kumar Chatterjee
Science of Seership—Hudson
The Serpent Power
—Arthur Avalon
Shakti and Shakta
—John Woodraffe
Siddha Siddhant Paddhat and other works of Nathyogis
Story of Philosophy—
—Will Durant
Tantrik Texts
Yoga Philosophy
The Vision of India
—Sisir Kumar Mitra

□□

विशिष्ट व्यक्ति नाम सूची

□□

विशिष्ट शब्द सूची

मननीय-संकेत